सहजानंद शास्त्रमाला

देवपूजा प्रवचन

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी ''सहजानन्द'' महाराज

प्रकाशक

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

प्रकाशकीय

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला सदर मेरठ द्वारा पूज्यवर्णीजी के साहित्य प्रकाशन का गुरूतर कार्य किया गया है। प्रस्तुत पुस्तक **'देवपूजा प्रवचन'** अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्रीमनोहरजी वर्णी की सरल शब्दों व व्यवहारिक शैली में रचित पुस्तक है एवं सामान्य श्रोता/पाठक को शीघ्र ग्राह्य हो जाती है।

ये ग्रन्थ भविष्य में सदैव उपलब्ध रहें व नई पीढ़ी आधुनिकतम तकनीक (कम्प्यूटर आदि) के माध्यम से इसे पढ़ व समझ सके इस हेतु उक्त ग्रन्थ सहित पूज्य वर्णीजी के अन्य ग्रन्थों को http://www.sahjanandvarnishastra.org/ वेबसाइड पर रखा गया है। यदि कोई महानुभाव इस ग्रन्थको पुन: प्रकाशित कराना चाहता है, तो वह यह कंप्यूटर कॉपी प्राप्त करने हेतु संपर्क करे । इसी ग्रन्थ की PDF फाइल www.jainkosh.org पर प्राप्त की जा सकती है।

इस कार्य को सम्पादित करने में **श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर** इन्दौर का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। ग्रन्थ के टंकण कार्य में **श्रीमती मनोरमाजी, गांधीनगर** एवं प्रूफिंग करने हेतु श्री **प्रो. शांतिलालजी बड़जात्या, इन्दौर** का सहयोग रहा है — हम इनके आभारी हैं।

सुधीजन इसे पढ़कर इसमें यदि कोई अशुद्धि रह गई हो तो हमें सूचित करे ताकि अगले संस्करण (वर्जन) में त्रुटि का परिमार्जन किया जा सके।

विनीत

विकास छाबड़ा

53, मल्हारगंज मेनरोड़

इन्दौर (म०प्र०)

Phone:94066-82889

Email-vikasnd@gmail.com

www.jainkosh.org

सम्पादकीय

देवपूजा प्रवचन का यह द्वितीय संस्करण आपकी सेवा में प्रस्तुत करते हुए हर्ष हो रहा है। इसको कितनी रुचिपूर्वक पाठकों ने पढ़ा है इसके लिये हम सब उनके आभारी हैं।

देवपूजा श्रावक के षट् आवश्यकों में से प्रथम आवश्यक है। परम् पूज्य गुरुवर्य्य सहजानन्दवर्णी जी महाराज ने अपनी इस कृति में देवपूजा से लाभ उसके करने का तरीका तथा महान आचार्यों के संदर्भ इतने से सरल रूप से सरल भाषा में समझाया है कि पढ़ने वाले बालक भी इसे सरलता से समझकर आत्महित कर सकते हैं।

परमात्मा के स्तवन, पूजन, भक्ति से विषय-कषाय के संकल्प का अभाव होकर विशुद्धता बढ़ती है जिससे अशुभ कर्मों का रस सुखकर उनकी स्थिति व अनुभाग घटकर पापकर्म का अभाव होता है और परिणामों की विशुद्धता से शुभ प्रकृतियों में रस बढ़ जाता है, अशुभ आयु का बंध टल जाता है।

प्रवचनसार में भी इस शुभोपयोग को कथंचित् चारित्र का अंग कहा जाता है। धर्मलाभ में देवपूजा परम्परा कारण है। मैं आशा करता हूँ आप भी इसका रसास्वादन करके धर्मलाभ करेंगे।

—प्रकाशक

अध्यात्मयोगी सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री, न्यायतीर्थ पूज्य श्री गुरुवर्य्य मनोहर जी वर्णी

''सहजानन्द'' महाराज

का

देवपूजा पर प्रवचन

मंगलाचरण

कोटीशतं द्वादशचैव कोट्यो, लक्षाण्यशीतिस्त्यधिकानि चैव।

पंचाशदष्टौ च सहस्रसंख्यामेतच्छ्रुतं पंचपदं नमामि ।।१।।

अरहंतभासियत्थं गणहरदेवेहिं गंथियं सव्वं।

पणमामि पंचभेदं सुदणाणमहोवयं सिरसा।।२।।

देवपूजा की वक्तव्यता का उद्देश्य शरण्यता का निर्णय कर शरण्य को आत्मसर्वस्व समर्पण कर निर्भार होना—बन्धुवर ! आज हम इस पर विचार करने बैठे हैं कि सुख शांति के लिये हमें किसका सहारा लेना चाहिये ? इसमें संदेह नहीं है कि परवस्तुओं को आश्रय मात्र बनाकर अपने ही गुणों के विकृत परिणमन में परणित होने के कारण जगत के प्राणी दुःखी हो रहे हैं। इसका मूल अज्ञान है। जब यह आत्मा अपने स्वरूप का और जगत का यथार्थ बोध पाता है तब वह पर में निज की भावना छोड़कर विशुद्ध दर्शन-ज्ञान स्वभाव वाले निज शुद्ध आत्मतत्त्व में रुचि करने लगता है। इस अन्तरात्मा की शांति के लिये जो प्रयत्न होता है वह है निर्मल विशुद्ध दर्शन-ज्ञान स्वभाव में परिणत परम आत्मा की दृष्टि और निज की कल्पना से रहित निज सहज स्वभाव की दृष्टि। इसी प्रेरणा से प्रेरित होकर शुभ रागवश उद्भूत भगवद्भक्ति में अन्तरात्मा का प्रवास होता है। इसके फलस्वरूप व्यवहार में उस सद्गृहस्थ की देवपूजा में प्रवृति होती है। देव की स्थिति पुजारी का उपादेय लक्ष्य है क्योंकि उसे भेद-विज्ञान के कारण किसी भी इतर पदार्थ में रुचि नहीं रही। अतः व्यवहार से अथवा उपचार से तो पूज्य परमेष्ठी भगवान का सहारा लिया जाता है और निश्चय से सहजसिद्ध चैतन्य प्रभु की दृष्टिरूप सहारा होता है। हम सबको 'सत्य सहारा पर' विचार करना आवश्यक है, जिसके लिये व्यवहार और प्रयोजन पहिचानते हुए देवपूजा पर गंभीर दृष्टिपात करें। पूजा में निश्चयरूप भाव अर्थात् आध्यात्मिकता का पुट कैसा रहना चाहिये, इसको बताते हुए विवेचन किया जायेगा। सर्वप्रथम तो पूजक में ऐसा आचार-विचार होना चाहिये,

जिससे पूज्यदेव और उनकी स्थापित प्रतिमा को विवेकपूर्वक ध्यान में ला सकें। ऐसा संभव नहीं कि विषय-कषाय की तीव्रता भी बनी रहे और भगवत पूजन भी चलता जाये।

पूजक की पात्रता का आधार निष्पाप जीवन—आचार में सबसे पहले सप्तव्यसन का त्याग होना चाहिये। दुनियाँ में कोई किसी तरह बड़ा कहलाता रहे तो रहे, लेकिन सप्तव्यसन का त्याग किये बिना पूजा का अधिकारी नहीं है। वह किस तरह से दृष्टिपात करना चाहिये? सट्टा और जुआ खेलने वाले का चित्त ऐसा चंचल रहता है कि चित्त और कहीं नहीं लगता, उसी तरफ दौड़ता है। ऐसी चंचलता में वीतराग और वीतरागता का स्वरूप कैसे आ सकता है? तब उसकी उपासना कैसे हो सकती है? इसी तरह से मांसभक्षी के कठोर हृदय में भी अहिंसामय भगवान का चित्र अंकित नहीं हो सकता, और मदिरापायी तो विवेक-शून्य उन्मत्त ही होता है, उसमें उपासना का प्रवेश भी नहीं। शिकार खेलना जैसा निर्दयी और निन्दनीय कर्म करते हुए वीतरागता की पूजा को स्थान ही कहाँ ? प्राणियों को मारने के मनोरंजन कहने की कल्पना भी नहीं हो सकती। वेश्यागामी का चित्त काम की वासना से संतृप्त और धर्म से शून्य होता है, उसका अनुराग वीतरागता में नहीं, सरागता में और वह भी अति निन्दनीय वेश्या की आसक्ति में होता है। चारुदत्त जैसा धर्मात्मा और शीलवान पुरुष जब इस व्यसन में फँस जाता है तो उसके जीवन में कैसा विलक्षण परिवर्तन होता है कि वह पिता की मृत्यु का समाचार पाकर भी घर नहीं जाना चाहता, क्षण के लिये भी वेश्या का विरह नहीं सह सकता। यह अन्य बात है कि उसे अंतिम संग उत्तम मिला। चोरी करने और परस्त्री सेवन के व्यसनी भी हमेशा भयभीत शंकित और पाप में लिप्त रहते हैं। उनसे अच्छे कार्य की आशा करना कहाँ तक संभव हो सकता है? जिन्होंने परस्त्री और परधन में अपना चित्त लगा लिया है उन्हें वीतरागता से क्या मतलब? और यदि वीतरागता से मतलब हो तो इन दुर्व्यसनों के प्रति दृष्टिपात ही क्यों हो? जो सप्तव्यसनों में से एक का भी गुलाम है वह देवदर्शन, देवपूजा का अधिकारी नहीं है। फिर भी कोई ऐसा होकर भी अपने को उसका अधिकारी मानता हो तो उसके समान पापी कौन होगा? दुर्व्यसनी मनुष्य देवदर्शन, देवपूजा आदि धार्मिक क्रियाओं को करे तो उसका ढोंग मात्र है।

पूजक की विशुद्धि की सार्वकालिकता—जो पूजा करता है, अंतरंग से पूजा का भाव जिसके होता है, उसके शुभ भाव मंदिर में पहुँचकर ही नहीं होते, उसके संस्कार तो चौबीसों घंटे उसकी विशुद्धि के कारण होते हैं। सबेरे शय्या से उठने के साथ ही देवपूजा का प्रोग्राम उसके मन में बन जाता है और उसके भावों की जो निर्मलता होती रहती है उससे पुण्यबंध और अवस्था में भी स्वांशिक अंशों में संवर तथा निर्जरा भी होती है, क्योंकि जब वीतराग की पूजा का लक्ष्य पहुँचता है, जब वीतराग के स्वरूप में ध्यान जब टिकता है तब भाव वीतरागतारूप हुए बिना नहीं रहते। पूजक जब शारीरिक क्रिया से निवृत्त होकर घर से मंदिर जी को चलता है तब तो परिणामों में और भी निर्मलता बढ़ती है। उसके भावों में गंभीरता, वचन में समिति और चलने में सावधानी और दया की दृष्टि होती है। घर से अष्ट द्रव्य को संजोकर मंदिर को जा सकता है, लेकिन शिथिलता

आ जाने में रूढ़ि यही है कि सूखी द्रव्य घर से ले जाते हैं और मंदिर में अष्ट द्रव्य तैयार कर लेते हैं। वहाँ सरलता और पवित्रतापूर्वक अष्ट द्रव्य तैयार हो जाते हैं। अत: घर से तैयार कर ले जाने की प्रथा नहीं है, लेकिन किसी को घर से तैयार करके ले जाने में सुविधा हो और उसमें कोई तरह की शिथिलता न हो तो घर से भी द्रव्य बनाकर ले जा सकता है। मार्ग में चलते समय उसका भाव चैतन्यता की उत्सुकता से भरा हुआ होता है।

पूजक का नवदेवताओं में प्रथम जिनचैत्यालय का अभिनन्दन—मंदिर की शिखा के जब दर्शन होते हैं तब पूजार्थी नतमस्तक हो जाता है। यह उसकी जिन चैत्यालय पूजा है। नव देवताओं में एक जिनचैत्य है तो जिनचैत्यालय भी देवता है। ब्रह्म देवता यहाँ भी है। वे ९ देवता इस प्रकार है—पाँच परमेष्ठी, ६ जिनचैत्य, ७ जिन चैत्यालय, ८ जिनागम और ९ जिनधर्म। इन सबकी पूजा अलग-अलग विधि से है। साधु की पूजा प्रतिमा के समान नहीं होती, प्रतिमा का अभिषेक होता है साधुओं का नहीं। जिनप्रतिमा और जिन-भगवान की भी पूजा-विधि में समानता नहीं है। प्रतिमा का प्रक्षाल अभिषेक होता है, अरहंत का नहीं। जिनचैत्यालय की यही पूजा है कि उसे देख विनय के भाव हों, उसके आश्रय से जिनप्रतिमा और उसकी पूजा है व चैत्यालय की सुरक्षा है। पूजक अपने निर्मल भावों में ओतप्रोत वीतराग भगवान और उसके स्वरूप का स्मरण करता हुआ मंदिरजी की तरफ बढ़ता है। मार्ग में यदि कोई धर्मात्मा मिलते हैं, और धर्म सम्बन्धी कोई बात करना आवश्यक होती है तो संक्षेप में भाषासमितिपूर्वक करके अपने लक्ष्य की ओर जाता है। रास्ते में कोई विषय-कषाय की बात न करता है और न सुनता है।

जिन मंदिर में प्रवेश करने के समय के कर्तव्य—जिनालय के द्वार पर पहुँचते ही नि:सहि:, नि:सहि:, नि:सहि: का उच्चारण करता है। जिसका मतलब होता है कि हमारे जिनदर्शन में जो आड़े हों, बाधक हों वे दूर हो जावें। हमें जिनप्रभु का दर्शन करना है। यह सम्बोध देवमनुष्यों के लिये है, अथवा भीतर के रागद्वेष आदि विकारों के लिये भी लागू होता है कि इस समय रागद्वेष आदि भाव उपयोग से दूर हो जावें और निर्मल चित्त में वीतरागता होने दें। यहाँ पूजक मानो रागद्वेषादि भावों पर दया करता हैं कि कहीं ये सूचना किये बिना मारे जाने पर क्लिष्ट न हों। पूजक विभावों से कहता है कि हे विभावी ! तुम्हारी सेवा में हम २३ घंटे रहे, अब वीतराग प्रभु के मंदिर में जा रहे हैं वहाँ तुम्हारी दाल न गलेगी, बुरी तरह से मारे जाओगे। अत: तुम अभी से अपनी विदाई लो। नि:सहि:, नि:सहि:। नव आगन्तुक दर्शनार्थी के लिये वहाँ पर स्थित भाईयों का कर्तव्य है कि दर्शन करने का अवसर दें। लेकिन दर्शन करने वाले का भी कर्तव्य है कि वह दूसरों को भी कुछ भी बाधा न पहुंचाकर यथासमय यथायोग्य दर्शन-पूजन करें, भीड़ को चीरते हुए चिल्ला-चिल्लाकर अन्य दर्शनार्थियों को

हटाते हुए दर्शन-पूजन करना ठीक नहीं। दूसरे के मन में किसी भी तरह का विक्षोभ हो जाये, ऐसा व्यवहार मंदिर में कदापि न होना चाहिए।

एक कायोत्सर्ग में २७ श्वासोच्छ्वास में नव बार णमोकार मंत्र जपने का विधान—पूजक; पूजा के यथास्थान में पहुँचकर यथाविधि स्थित हो जाता है। सामग्री के साथ और सावधानीपूर्वक विवेक और अंतरदृष्टिपूर्वक पूजा प्रारम्भ करता है और सबसे पहिले ९ बार णमोकार मंत्र पढ़ता है, और कायोत्सर्ग करता है, जिसके फलस्वरूप शरीरादि में रही-सही चंचलता दूर हो जाये। १ णमोकार मंत्र को तीन श्वासोच्छ्वास में पढ़ना चाहिये। पहली श्वास में णमो अरिहंताणं, उच्छ्वास में णमो सिद्धाणं, दूसरी श्वास में णमो आइरियाणं, उच्छ्वास में णमो उवज्झायाणं, तीसरी श्वास में णमो लोए और उच्छ्वास में सव्व साहूणं बोले। इस तरह से एक णमोकार मंत्र को ३ श्वासोच्छ्वासों में, और ९ णमोकार मंत्र को २७ श्वासोच्छ्वास में बोलें।

स्वरूप-स्मरण सहित णमोकार मंत्र को जपने का विधान—बोलने की क्रिया के साथ प्रत्येक पद के अर्थ से बोधित होने वाले परमार्थरूप पंचपरमेष्ठियों का स्मरण और उनकी अनुभूति होती रहती है। णमो अरहंताणं बोलने के साथ समवशरण में स्थित अष्ट परिहार्यों से मण्डित परम औदारिक शरीर में स्थित वीतराग सर्वज्ञ अरहंत आत्मा की अनुभूति हो। णमो सिद्धाणं बोलते समय नोकर्म से भी रहित सिद्धालय में विराजमान पूर्ण शुद्धात्मा का अनुभव हो। णमो आयरियाणं बोलने पर आचार्य के आठ आचारवान आदि विशेष गुणों से पूर्ण शिक्षा देते हुए फिर भी अन्तर में आत्मा में बार-बार उपयोग ले जाने वाले शिष्यों से मंडित आचार्यों का स्मरण हो। णमो उवज्झायाणं बोलने पर चेतनाभूति से भूषित, बाह्य में पठन-पाठन की क्रिया में लीन महातत्त्वज्ञानी, वादी, आचार्य द्वारा प्रदत्त यह आसीन उपाध्याय का ख्याल हो और णमोलोए सव्वसाहूणं बोलने पर २८ मूलगुणों से पूर्ण शुद्ध उपयोग में विशेष रूप से लगे हुए निर्ग्रन्थ दिगम्बर साधुओं का ध्यान हो। उपयोग में ऐसे नाना चित्र आ जावें—कोई साधु ग्रीष्मकाल में गिरिशिखर पर ध्यानारूढ़ आत्मानन्द-विभोर विराजे हैं तो शीतकाल में सरितातट पर आत्मरत है आदि-आदि।

णमोकार मंत्र के ध्यान का प्रभाव आत्मविशुद्धि—इन परमेष्ठियों के स्मरण और नमस्कारपूव्रक कायोत्सर्ग करने से आत्मा का आत्मीय सम्बन्ध चैतन्य भावों की सन्निकटता का सम्बन्ध प्रकरणरूप में हो जाता है और भगवान की पूजा की भूमिका तैयार हो जाती है क्योंकि पूजा कोई भी की जायेगी वह होगी, पंचपरमेष्ठियों का सचित्रण हृदय में कर लेंगे और बाहर के काम की ममता का उत्सर्ग कर देंगे तो वास्तविक पूजा होने की क्षमता प्राप्त होगी। पूजक का ध्यान बाह्य द्रव्य या मूर्ति में ही न उलझकर सीधा चैतन्य को स्पर्श करने लगेगा और फिर पूजन में न केवल पुण्य बंधा लेगा, अपितु संवर और निर्जरा भी बीच-बीच में होती चलेगी। पूजा के प्रारम्भ में कायोत्सर्ग करने की यही सार्थकता है।

ॐ की ध्वनि का भाव—कायोत्सर्ग कर चुकने पर भक्त के मुँह से ओ३म् का उच्चारण होते हुए जय जय जय की ध्वनि निकलती है। ओ३म् शब्द पंचपरमेष्ठियों का प्रतिनिधि है और शब्दों का भी प्रतिनिधि है। तत्त्व ३ होते हैं—१ ज्ञानतत्त्व, २ शब्दतत्त्व और ३ अर्थतत्त्व। हर एक पदार्थ में ये तीन बातें आती हैं। जैसे पुस्तक के विषय में लगाइये तो १ ज्ञानपुस्तक, २ शब्दपुस्तक और ३ अर्थपुस्तक। जैसे की धवलग्रन्थ की पुस्तक का ज्ञान, ज्ञानपुस्तक कहलाया। ग्रन्थ का नाम बोलना या लिखना, इसमें जो शब्द आये अथवा ग्रन्थ में जो शब्दविन्यास है, वह अर्थपुस्तक है। और इसी तरह परमेष्ठी वा अरहंत आदि में तीनों बातें घटना चाहिये। जैसे हमको अरहंत के स्वरूप का ज्ञान हुआ, वह ज्ञान-अरहंत कहलाया। अरहंत का वर्णन करने वाला जो शब्दसमूह है वह शब्द-अरहंत और जो परम औदारिक शरीर में स्थित अनंतचतुष्टयमंडित वीतराग सर्वज्ञ आत्मा है वह अर्थ-अरहंत है। 'ॐ तत्सत्' पद में ॐ शब्द से शब्द का प्रतिनिधित्व होता है, तत् से ज्ञान का और सत् शब्द से अर्थ का प्रतिनिधित्व होता है। ॐ से सब शब्द, तत् से सम्पूर्ण ज्ञान और सत् से सब पदार्थ गर्भित हो जाते हैं।

अक्षरों की प्रशस्ति—ॐ से सारे अक्षर बनते हैं । ज्ञान का वाची तत् है क्योंकि इस भाव से स्मृति का रूपक ज्ञान आता है। ॐ का उच्चारण करके वह अक्षरों से बनी गुण-कीर्ति को एक ही साथ पूरी कहना चाहता है लेकिन भक्त की यह चाह पूरी नहीं होती, क्योंकि एक ही समय में सम्पूर्ण अक्षरों का उच्चारण असम्भव है। उनका तो क्रम-क्रम से ही उच्चारण हो सकेगा। अक्षर सब ४७ हैं। स्वर और व्यंजन के बोलने का क्रम है, वह क्रम प्रयोजनपूर्वक है। 'स्वेन रातीति स्वर' अथवा 'स्वयं राजते इति स्वरा:।' स्वतन्त्र रूप से उच्चारण किये जाये वे स्वर हैं और जो अक्षरों की सहायता से ('व्यंजते इति व्यंजन' ऐसी व्युत्पत्तिपूर्वक) बोले जाये वे अक्षर व्यञ्जन हैं। स्वरों में पहिले पहल अ आ का उच्चारण करते हैं क्योंकि इनका उच्चारण कंठ से है और अवर्णों की जननी कंठ है। इनका उच्चारण उसके बाद में है क्योंकि कंठ के बाद कंठ के सामने रहने वाले तालु का नंबर रहता। इसके पश्चात् तालु के समीप बाहर रहने वाले ओष्ठ का स्थान है, जिससे उ, ऊ की व्यक्ति होती है। उसके बाद ऊपर मूर्धा का स्थान है। अत: मूर्धा से बोला जाने वाला ऋ आता है और ऌ का दंत स्थान है जिसका नम्बर मूर्धा के बाद आता है। इसी तरह अ इ मिलकर ए बनने के कारण ए ऐ का कंठ-तालु और अ उ मिलकर ओ बनने के कारण ओ औ का कंठओष्ठ स्थान है, जिनका क्रमिक विन्यास उनके उच्चारण स्थान का उच्चारण की शैली के अनुसार है। इसी तरह क वर्ग और च वर्ग आदि व्यंजनाक्षरों का भी कंठ और तालु आदि स्थानों के क्रम से अक्षरों के विन्यास का भी क्रम रखा गया है।

शब्द ब्रह्म की उपयोगिता व महत्ता—वर्णों का इसलिये खुलासा किया जा रहा है कि अक्षरों से बनने वाले शब्दों का महत्त्व भी महान है, इसलिये शब्द को ब्रह्म भी कहते हैं और यहाँ तक कहा गया है कि शब्द से अर्थ

की प्रतीति होती है, अर्थ से तत्त्वार्थ का बोध होता है, तत्त्वार्थ का बोध होने से परमार्थ की प्रवृत्ति होती है और परमार्थ की प्रवृत्ति होने से स्वार्थ की सिद्धि अर्थात् आत्मसिद्धि होती है। शब्द का आत्मसिद्धि के लिये परंपरया ऐसा महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध बन रहा है। यह बात तो नहीं है कि यह सम्बन्ध अविनाभावी हो, फिर भी किसी के लिये निमित्तरूप हो तो परंपरा मोक्ष का बाह्य निमित्तमात्र औपचारिक कारण होता है, ऐसा कहने में कोई अनिष्ट प्रसंग नहीं आता। मोक्षप्राप्ति के लिये मूल कारण सम्यग्दर्शन है और सम्यग्दर्शन पैदा होने में ५ लब्धियों का होना आवश्यक है। जिसमें एक देशनालब्धि है अर्थात् गुरु का उपदेश मिले बिना सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता। उपदेश शब्दात्मक होता है। इस तरह भी शब्द मोक्षमार्ग का साधक है। शब्द की शक्ति महान है। भक्त जब भगवान में तन्मय होकर कुछ बोलने लगता है वह सब बोलना उसका जादू और मंत्र की ताकत रखता है। वह बोलने और सुनने वालों के लिये कर्मपटल को भेद अंतस्तत्त्व में ज्ञानचेतना पैदा करने वाला औपचारिक पूर्वज निमित्त होता है।

भक्त का गुणानुराग—भक्त जब भगवान में एकदम तन्मय हो जायेगा उस समय तो वचनप्रवृत्ति भी रुद्ध हो जायेगी, लेकिन तन्मयता की वह स्थिति अधिक देर तक नहीं रहती और फिर बहिर्व्यापार में भक्ति का रूप वचनावली या शरीर की भावभंगियों से प्रगट होने लगता है। भक्ति करते समय जैसे भावों की अपूर्व छटा होती है, उसी तरह वचन और काय की क्रिया भी विशेषतया पूर्ण हो जाती हैं। रावण जब भक्ति के रंग में रंग गया तो पास में कोई वाणी वा दिल न देख अपनी हाथ की नाड़ी से वीणा का काम लेने लगा और नस को ही बजाकर भक्ति में भीग गया। ऐसी अपूर्व भक्ति को निमित्त पाकर आकर्षित हो वरुणेन्द्र उपस्थित हुए और उसका उचित सम्मान कर अमोघ विजया शक्ति को साग्रह समर्पित किया। भक्ति से वह अमोघ विजया शक्ति मिल गई, यह बताने का लक्ष्य नहीं। लक्ष्य यह है कि भक्तिपूर्वक वचनकीर्ति में अद्भुत शक्ति छुपी हुई है। यह बाह्य व्यापार होकर भी निर्मल अन्त:करण से यदि उदय हो तो यह महानता का प्रतीक बन जाता है।

ॐ शब्द की परमेष्ठिवाचकता—भक्त का सर्वप्रथम शब्द जो ओम् निकलता है उसकी भी अपनी विशेषता है। ओम् में पाँचों परमेष्ठी गर्भित हैं। पाँचों परमेष्ठियों के नाम क्रमश: इस प्रकार है:—१ अरहंत, २ अशरीर, ३ आचार्य, ४ उपाध्याय और ५ मुनि। इन पाँचों परमेष्ठीवाचक शब्दों के आदि के अक्षर लेकर ओम् शब्द बना है । अरहंत और अशरीर का अ मिलकर दीर्घ 'आ' बना, आचार्य का 'आ' भी उसमें मिलकर दीर्घ 'आ' हुआ, उपाध्याय का उ मिलकर 'ओ' बना और मुनी का 'म' मिलकर ओम् बना। उस ओम् सरगम के षड् स्वर धीरे-धीरे बोलो तो शरीर के रोम खड़े हो जाते हैं। उसके तथा दुनियाँ के ख्याल भूल जाता है और शरीर की चंचलता भी जाती रहती है। इस ओं को कुल मतवाले जानते हैं। परमेष्ठी अर्थ के और भी अनेक अर्थ अन्तर्निहित हैं।

ॐ शब्द की तत्त्वस्वीकारसूचकता, देवशास्त्रगुरुवाचकता व रत्नत्रयवाचकता—ओम् का अर्थ हाँ या स्वीकार भी होता है। स्वीकार का मतलब है उस बात को स्व—आत्मरूप करना । परवस्तु आत्मरूप तो क्या होगी, लेकिन आत्मा की इष्ट उस वस्तुज्ञान से सहमति होना ही आत्माकार करने का मतलब है। ओम् का अर्थ देव गुरु शास्त्र भी होता है। देव गुरु शास्त्र के वाचक शब्द क्रमश: १ आप्त, २ उक्ति और ३ मुनि आदि अक्षर हैं, जिनके मिलने से ओम् बना और शब्द से रत्नत्रय अर्थ भी निकलता है। क्रम से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के द्योतक शब्द १ अवलोकन, २ उद्योतन और ३ मौन है। शुद्ध आत्मतत्त्व के अवलोकन को सम्यग्दर्शन और तत्त्वों के ज्ञान को उद्योत कहते हैं तथा यहाँ मौन का मतलब है— मुनेर्भाव: मौनं। मुनि का स्व आचरणभाव। इन तीनों शब्दों के आदि अक्षर मिलकर भी ओम् बन जाता है।

ॐ शब्द की उत्पाद-व्ययध्रौव्यवाचकता व मोक्षमार्ग सूचकता—यह उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का वाचक भी है। व्यय को अत्यय भी कहते हैं, तो अत्यय और उत्पाद के आदि अक्षर मिलकर ओ बना और ध्रौव्य को मध्य भी कह सकते हैं क्योंकि अत्यय और उत्पाद होकर भी ध्रौव्य तो दोनों हालत में मध्यमरूप से रहता ही है। अतः वह मध्य कहलाया। तब मध्य का आदि अक्षर ओ में मिलने से ओम् बन गया। यह तीनों लोकों का भी वाची है, अतः ऊर्ध्व और मध्य लोकवाची शब्दों के आदि अक्षरों से ओम् बन जायेगा। ओम् के आकार पर विचार करें तो उसके ५ खंड, मोक्षमार्ग वा मोक्षसूचक हैं; गुंडेरीवाला अथवा ३ अंक जैसा भाग व्यवहार को कहता है क्योंकि व्यवहार विडम्बना या अस्थिर व नाना प्रकार का है। शून्य निश्चय का है, क्योंकि उसका विषय आदि, मध्य और अंतरहित के दंडाकार दोनों नामों की निरपेक्षता को हटाकर मिलाने वाला प्रमाणरूप है। ऊपर का चंद्रकला अंश अनुभव कला को बताने वाला है, फिर सबसे ऊपर शून्य का मतलब स्वरूप की प्राप्ति का है जहाँ राग-द्वेष, मोह आदि सर्व विभावों की शून्यता है।

ॐ शब्द की ज्ञानविधिवाचकता—ओम्; यह पाँचों ज्ञानों को गर्भित करने वाला सर्वविशुद्धज्ञान का प्रतीक है। यथा आभिनिबोधिक ज्ञान, आगमज्ञान, अवधिज्ञान, अन्तःकरण पर्ययज्ञान व उत्कृष्टज्ञान—इन पाँचों ज्ञानों का आदिम अक्षर रखकर परस्पर प्रारम्भ से अंत तक संधि करने पर ओ बना तथा ऊपर जो है वह सामान्य ज्ञानवाचक है जिसका न आदि है, न मध्य है, न अन्त है। सब पर्यायों में रहता हुआ भी किसी पर्यायमात्र नहीं है, ज्ञान की सर्वअवस्था में वही एक है। सर्व अवस्थाओं में उत्कृष्ट अवस्था केवलज्ञान है। यह उत्कृष्ट ज्ञान सामान्यज्ञान को कारणरूप से उपादान करके स्वयं परिणमता है। इसके अर्थ हमारा प्रयास यह होना चाहिये कि जिसको उपादान करके प्रकट होता है उस सामान्य स्वभाव के उन्मुख होकर स्वभावदृष्टि को दृढ़ बनावें।

ॐ की त्रिविधात्मसंकेतिता, मंत्रमूलता व सप्ततत्त्वसूचकता—ओम् शब्द में गर्भित अ उ म् के उच्चारण आत्मा की त्रिविधता के सूचक हैं तथा अ बोलने में मुख बहिर्मुख होता है। यह बाह्योपयोगी बहिरात्मा का सूचक है, ३ बोलने में मुख का संकोचसंयम है यह आत्मोपयोग संयत अंतरात्मा का सूचक है, म् बोलने में मुख पूर्ण

बंद है, यह सर्व रागादि अज्ञान-आवरण से परे अंतस्तत्त्व परमात्मा का सूचक है। ओम् शब्द केवली भगवान की दिव्य ध्वनिस्वरूप है, द्वादशांगमय है, यह मंत्रों का मूल रहस्य है। ओम् शब्द सप्ततत्त्वों का सूचक है और इसीलिये 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' सूत्र का प्रतिनिधि है। सप्ततत्त्वों के ये नाम हैं जिनके आदि अक्षर प्रारंभ से संहित होकर ओम् का रूप रखते हैं। १ आत्मा, २ अनात्मा, ३ अक्ष, ४ अनुपस्थिति, ५ अनुत्पत्ति, ६ उत्सरण, ७ मोक्ष। इसी प्रकार ऐसे महत्त्वपूर्ण कितने ही रहस्य इस ओम् में हैं। पुजारी इस महनीय ओम् शब्द का सभक्ति उच्चारण करता है, स्वरूप प्राप्ति में बाह्यरूप से शून्यता आ जाती है।

पूजा में मंत्रों की जयवाद आदि की सार्थकता—पूजा में अन्तर्भक्ति के साथ बाह्य मंत्रों, द्रव्य वचनों का अवलंबन है, उसकी भी सार्थकता है, क्योंकि वचन के बिना न्यास का, लोकव्यवहार प्रवर्तन का कोई उपाय नहीं है। पूजा बोलने में सर्वप्रथम जो ओम् बोला जाता है वह नामनिक्षेपरूप है। स्थापनानिक्षेप का जो मतलब किया जाता है—एक पदार्थ का दूसरे में स्थापना करना, सो स्थापनानिक्षेप है, यह स्थूलता से है। सूक्ष्मता से उस पदार्थ की उसी में उस रूप कल्पना करना भी स्थापनानिक्षेप है। उससे जो आगामी काल में बोध होता है वह द्रव्यनिक्षेप और जो वर्तमान में हो उसे भावनिक्षेप कहते हैं। ओम् के बाद 'जयवंत होहु' वाचक तीन बार जय शब्द का उच्चारण करता है और नमोऽस्तु-नमोऽस्तु कहकर नमस्कार करता है । किसी महान् आत्मा के लिये जो जय-जय शब्द का उच्चारण किया जाता है वह उत्कट अनुराग का द्योतक होता है। उस महान् आत्मा या परमात्मा की जय हो चुकी, फिर भी अनुरागवश इन शब्दों का उच्चारण होता है। उस जय-जय के उच्चारण में बोलने वाले की जय भी सार्थक है। जब वह परमेष्ठीरूप अपनी आत्मा का अनुभव करता है तब उसके स्वयं चैतन्य स्वरूप की एकता का प्रतिभास होता है और वह पूर्ण शुद्धरूप प्रगट होने वाला है, यह उसके लिये जय का मतलब है।

द्विविध नमस्कार—नमस्कार दो तरह से होता है—(१) द्रव्यनमस्कार और (२) भावनमस्कार। हाथ जोड़ शिरोनति करना— द्रव्यनमस्कार है और बाह्य कोई क्रिया न करके अपने भाव (पूज्य में) लगाना भावनमस्कार है। भावनमस्कार दो प्रकार का है—१ द्वैत, और २अद्वैत। परमेष्ठी के गुणचिन्तन आदि से आदर करना द्वैतनमस्कार है और जब पूज्य और पूजक में चैतन्यस्वरूप का मिलान होते-होते भाव पूज्य-पूजक, भाव्य-भावक की कल्पना से रहित हो जाता है, पूज्य और पूजक में एकतानता प्रगट हो जाती है, ज्ञाता-दृष्टापन केवल प्रतिभासित हो जाता है; वह अद्वैतभाव नमस्कार है। पहले तो पूजक अपने स्वभाव का पूज्य परमेष्ठी से मिलान करता था। लेकिन ये सब कल्पनायें जहाँ विलय हो गई वहाँ एक अद्वैतता ही रह जाती है और वही अद्वैत नमस्कार है।

पञ्च परमपद की भक्ति उपयोगिता—उत्कृष्ट स्थिति को प्राप्त करने में ५ चीजें आती हैं:—१-अरहंत, २-सिद्ध, ३-आचार्य, ४-उपाध्याय, ५-साधु। जिन्हें संसार के दु:खों से भय हो गया, पर को पर समझ लिया, स्व को स्व जान लिया, अपने को ज्ञाता-दृष्टा समझ लिया, मैं स्वयं अपने आपमें ठहरा हुआ हूँ ऐसी जिनकी भावना हो गई ऐसे महान साधक; गुरु कहलाते हैं। उनमें ही जो द्वादशांग विद्या के अधिकारी विद्वान हैं, निरंतर पठन-पाठन में रत रहते हैं और आचार्य से जिन्हें वह पद मिला है वे उपाध्याय हैं। उन साधक पुरुषों की गोष्ठी का जो नायक है, वह आचार्य है तथा आचार्य और उपाध्याय के विशेष पद से रहित जो सामान्य गुरु संज्ञा वाले निर्ग्रन्थ साधक हैं वे साधु परमेष्ठी हैं। इनमें से जो साधना के बल पर विशेष पद, पूर्ण वीतरागता को प्राप्त कर लेते हैं वे अरहंत कहलाने लगते हैं क्योंकि वे ४ महान कर्म शत्रुओं को हनन करके, परास्त करके वह पद पाते हैं। वही अरहंत जब शरीररहित हो जाते हैं, शेष नीरस ४ कर्म भी जिनके नष्ट होकर सिद्धालय में विराजमान होते हैं वे सिद्ध कहलाते हैं। मोक्षमार्ग में ये ५ पद हैं। इनकी वास्तविकता वैज्ञानिक और स्वाभाविक है। इनमें कल्पना के लिये स्थान रंचमात्र नहीं है। इन पाँच परमेष्ठियों के वाचक जो पद हैं जिनमें 'णमो' शब्द नमस्कारसूचक प्रत्येक पद के साथ में है वह णमोकार मंत्र या नमस्कार मंत्र है, जो इसी प्रकार है। णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व साहूणं।

अरहंत व सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय व साधु का भाव—इस मंत्र में सर्वप्रथम अरिहंतों को नमस्कार किया है जिनके कि ४ घातिया कर्म नष्ट हो जाते हैं। अनंत चतुष्टय मंडित हो जाते हैं, मनुष्य लोक में रहते हैं। अभी यहाँ भरतक्षेत्र में अरहंत नहीं हैं, विदेहक्षेत्र में हैं जिससे कि मोक्षमार्ग की परंपरा वहाँ निर्बाध चल रही है, अगृहीत मिथ्यात्व वहाँ के मनुष्य में भले ही रहो, लेकिन गृहीत मिथ्यात्व के साधन कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरु का वहाँ अस्तित्त्व नहीं है। प्रधान रूपेण धर्म की प्रवृत्ति रहती है। तो ऐसे अरहंतों को नमस्कारपरक पहिला पद है, जिसका पूरा अर्थ है— लोक में सब अरहंतों को नमस्कार हो। पांचवें अन्त्य पद में जो लोए सव्व शब्द पड़ा है, वह अंतदीपक है अर्थात्, अंत में रहता हुआ भी पहिले के पदों के अर्थ में भी शामिल है। अत: लोए सव्व पद अंत के सिवा ऊपर के ४ पदों में भी लगाना चाहिये। दूसरे पद का अर्थ है कि लोक में सब सिद्धों को नमस्कार हो। जितने भी अनंत सिद्ध हैं वे लोक के अग्रभाग में होकर भी लोक के बाहर नहीं हैं और गुणों में सब समान हैं। एक सिद्ध में अनंतसिद्ध आत्माएँ निर्बाध रूप से रहती हैं। तीसरे पद का अर्थ है लोक में सब आचार्यों को नमस्कार हो। चौथे पद का अर्थ है लोक में सब उपाध्यायों को नमस्कार हो और पाँचवें पद का अर्थ है लोक में सब साधुओं को नमस्कार हो।

इनका स्वरूप साधारणतया ऊपर बताया जा चुका है। आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठियों में ज्ञान, ध्यान और तप की विशेषता रहती है, जैसा कि गुरुलक्षण में कहा है—'विषयाशावशातीतो निरारम्भोपरिग्रह:। ज्ञानध्यानतपोरक्ततपस्वी स प्रशस्यते।' अर्थात् जो विषयों की आशा से रहित, आरम्भ और परिग्रह रहित; ज्ञान,

ध्यान और तप में लीन हो वह तपस्वी, साधु, गुरु या मुनि कहलाता है। तो गुरु के लिये करने को ३ बातें हैं— १ ज्ञान, २ ध्यान और ३ तप। ज्ञान में स्थित रहना, केवल ज्ञाता-दृष्टा बने रहना— यह पहिला काम है, और इसमें आत्मा की सर्वोत्कृष्टता है । यह स्थिति मात्र ज्ञानरूप है। यदि इसमें आत्मा लगे तो उसमें सर्वोत्कृष्टता है, यदि इसमें स्थिति न रह सके तो ध्यान में स्थिर रहे। इस ध्यान की स्थिति मात्र ज्ञानमय स्थिति से न्यून है। यदि आत्मा की एकाग्रतारूप ध्यान की स्थिति भी न रह सके तो तप में लगे। अभ्यंतर या बाह्य, जब जैसे संभव हो। जगत में गुरु विलक्षण उपकारी हैं कि हम उनसे किसी भी तरह उऋण नहीं हो सकते। उनके उपकार को हम कभी नहीं भूल सकते। गुरु की अनुकम्पा का ही प्रसाद है जो हमारे ज्ञाननेत्रों को खोलने के लिये समीचीन शास्त्र उपलब्ध हैं। इन पाँच परमेष्ठियों से हमें चैतन्यदेव की साक्षात्कारिता में भारी मदद मिलती है। इसलिये वे हमारे परम आराध्य हैं।

णमोकार मंत्र के उच्चारण व इस के मंत्र के लाभ—णमोकार मंत्र १८४३२ तरह से पढ़ा जा सकता है लेकिन इन विकल्पों में बहुत से गौण हैं, विकल्प से निष्पन्न हैं। वर्तमान में जो पाठ प्रचलित है वही मुख्यत: बोलना चाहिये। णमो अरहंताणं को णमो अरिहंताणं भी बोलना उपयुक्त है और मुख्यता से ऐसा ही बोलना चाहिये। णमोकार मंत्र के १८४३२ प्रकार इस तरह हैं कि णमो अरिहंताणं १२ तरह से बोला जाता है, सिद्धाणं ४ तरह से, णमो आइरियाणं २४ तरह से, णमो उवज्झायाणं ४ तरह से और णमो लोए सव्वसाहूणं ४ तरह से। इस तरह से १२, ४, २४, ४४=१८४३२ प्रकार हो जाते हैं। ये सब रूप प्राकृत व्याकरण के सूत्रों से निष्पन्न होते हैं। इसका पृथक् विवेचन एक पुस्तिका में किया है उसे देखिये। इस णमोकार मंत्र में ५ पदों के ३५ अक्षर हैं और आर्या गाथा होने से ५७ मात्रा है। इस मंत्र से सब मंत्र-तंत्र निकले हैं और इससे (इसकी आराधना से) अनेक ऋद्धियाँ प्रकट होती हैं। णमोकार मंत्र में जिन्हें श्रद्धा है वे उसके प्रताप और प्रभाव से अनेक लौकिक और पारलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त कर लेते हैं। पाँच परमेष्ठियों के स्वरूप में जो तन्मय हो जाते हैं उन्हें तो आत्मरूप परमात्मपद की प्राप्ति होती ही है, लेकिन जो ऐसे तद्रूप नहीं हो पाते या क्षणिक स्थिर रह सकते हैं वे भी अलौकिक विभूति को पाकर परंपरा मोक्ष के अधिकारी होते हैं। इसके अतिरिक्त जो इसमें नाम रूप से ही दृढ़श्रद्धान रखते हैं उनके भी अनेक लौकिक कार्य सिद्ध होते हैं, विपदाएँ दूर होती हैं। होना चाहिये श्रद्धापूर्वक। अत: इसकी उपासना बड़ी श्रद्धा और दृढ़तापूर्वक करना चाहिये। इसकी भाव उपासना करने वालों का ही जन्म सफल है। इसकी आराधना करने में ही सच्चा पुरुषार्थ है, वही एक बड़ी करतूत है। सार यही की विकारी पर्यायों के लिये कुछ भी करना पुरुषार्थ नहीं है। व्यक्ति दो ही काम कर सकता है विकल्प और निर्विकल्परूप आत्म-परिणाम, तो विकल्पों को बढ़ाना तो संसार का कारण है और उन्हें घटाकर निर्विकल्प स्थिति में आना मोक्ष का कारण है। इसके आगे आराधक 'अनादिमूलमंत्रेभ्यो नम:' पद का उच्चारण कर पुष्पांजलि क्षेपण करता है। उक्त मंत्र का स्तोक रूप 'ओं नम:' है, अर्थात् पाँच परमेष्ठियों को नमस्कार हो।

यह मंत्र विस्तार का संक्षेपरूप में अनादि अनिधन है, और अन्य मंत्रों का मूलमंत्र है। अत: उक्त पद बोलकर पुष्प की अंजलि क्षेपण करते हैं। इसके आगे चत्तारि दंडक पढ़ते हैं।

चार मंगल—चत्तारि मंगलं—अरिहंता मंगलं, सिद्धामंगलं, साहूमंगलं, केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं। मं—अर्थात् पाप को जो गालयति अर्थात् गाले, नष्ट करे उसे मंगल कहते हैं अथवा मंग सुख को कहते हैं, उसे जो लावे उसे मंगल कहते हैं। चत्तारि का अर्थ—चत्ता प्राकृत शब्द का अर्थ होता है छोड़ना और अरि माने शत्रु। तब यहाँ पर अर्थ हुआ कि जो छोड़ चुके हैं कर्म-शत्रुओं को जो ऐसे अरहंत सिद्ध परमेष्ठी, जो कर्म-शत्रुओं को छोड़ रहे हैं ऐसे आचार्य उपाध्याय सहित साधु परमेष्ठी और कर्मशत्रु जिससे छूटते हैं ऐसा केवली-प्रणीत धर्म है। धर्म पद में एक वचन होने से धर्म की एकरूपता प्रगट होती है, अर्थात् धर्म वस्तुस्वभावरूप अहिंसा का वीतरागतारूप एक ही है, व्यवहार से उसे भले ही रत्नत्रयरूप या दश लक्षण— उत्तम क्षमादिरूप कहा जाये । प्रभात समय जो मंगलरूप वस्तु देखना चाहते हैं, उन्हें इनका ही या इनकी प्रतिमूर्ति का अवलोकन प्रभात के प्रथम समय में करना चाहिए। प्रत्यक्षरूप में परमेष्ठी उपलबध न हो तो परोक्ष में उनका स्मरण और कीर्तन करके भी हमारी मंगल-कामना सफल हो सकती है । और धर्म तो बाह्य की वस्तु ही नहीं, भीतर अपने शुद्धरूप का अनुभव करना ही धर्म है और वही मंगल है। निश्चय से कहो तो हमारी शुद्ध चैतन्य परिणति ही मंगलरूप है। प्रतिसमय व प्रभात समय में जो इस परिणति को करते हैं, चैतन्य आत्मा का अवलोकन करते हैं उनके सदा मंगल ही मंगल है; दु:ख में और सुख में, संपदा में और विपदा में और सभी दशाओं में सब जगह। विषय के पाप वाली चीजों को मंगलरूप मानना भ्रम है, उनका दर्शन जीवों के कल्याण के लिये नहीं, अकल्याण के लिये होता है। विषय पाप को पुष्ट करता है जिससे संसार में और दु:ख बढ़ता है। चत्तारि शब्द का अर्थ ४ मुख्यता से है जिसका मतलब हुआ कि ४ वस्तुएँ मंगलरूप हैं।

चार लोकोत्तम—लोक में उत्तम वस्तुएँ भी वही ४ हैं, यथा—चत्तारि लोगुत्तमा, अरिहंता लोगुत्तमा सिद्धालोगुत्तमा, साहू लोगुत्तमा, केवलि पण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो। अरहंत, सिद्ध, साधु और केवलीप्रणीत धर्म के सिवा और कोई पदार्थ उत्तम नहीं है, और कोई पदार्थ उत्तम नहीं कहे जा सकते हैं।

चार शरण्य—चत्तारि सरणं पव्वज्जामि, अरहंते सरणं पव्वज्जामि, सिद्धे सरणं पव्वज्जामि, साहू सरणं पव्वज्जामि, केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि। यदि शरणभूत वस्तुएँ हैं तो ये ही ४ हैं और सर्व अशरण हैं, दु:खमयी हैं, दु:खदायक हैं । निश्चय से ये ४ भी एक चैतन्य शुद्धपरिणति के वाचक हैं, अत: निश्चय से शुद्ध चैतन्यभाव ही शरणरूप है। इस तरह की वचनावली के साथ भावों को चैतन्य परिणति में अपने को घुमाता

हुआ पूजक भगवान की भक्तिरस का पान करता है। इन्हीं भावों और अनुभूतियों से वह परमात्मा और आत्मा में एकाकारता की स्थापना करता है, द्वैत से अद्वैत को पहुँचता है । उसका वही लक्ष्य भी है। इन मंगल, उत्तम और शरणरूप वस्तुओं का पाठ पढ़कर 'ओं नमोऽर्हंतं स्वाहा' बोलकर पुष्प क्षेपण करता है, अंतर्वृत्ति के आदर भावों को पुष्पांजलि के रूप में बाहर प्रकट करता है । बाह्य वचन-प्रवृत्ति और द्रव्य-अर्पण की क्रिया के साथ-साथ प्रधानत: पूजक की वृत्ति अंतस् में विशेष रहती है क्योंकि वास्तविक पूजा वहाँ ही होती है, आराध्य देव की स्थापना का स्थान वही है। मूर्ति मात्र बाह्य अवलंबन है। आगे के लिये पाठ पढ़ा जाता है—

मंगल विधान

श्लोक १

अपवित्र: पवित्रो वा सुस्थितो दु:स्थितोऽपि वा।

ध्यायेत् पंचनमस्कारं सर्वपापैः प्रमुच्यते।। १ ।।

सर्वस्थितियों में पञ्चनमस्कार मंत्र के ध्यान का फल सर्वपापविमोचन—चाहे अपवित्र हो या पवित्र, अच्छी तरह बैठा या खड़ा हो या यथासम्भव स्थिति में हो, किन्तु पंचनमस्कार मंत्र का तद्वाचक पाँच परमेष्ठियों का ध्यान करने से सर्वपापों से छुटकारा होता है। अपवित्रता वा पवित्रता लोकव्यवहार की अपेक्षा है। निश्चय से बाह्य मलिनता और निर्मलता नहीं है, अंतरंग में जो रागद्वेषादि विकार हैं वही मलिनता है। वह जहाँ नहीं होती वहाँ निर्मलता है। अत: अन्तर्दृष्टि से निर्मल होना चाहिये। शरीर की हालत घिनौनी भी हो लेकिन शुद्ध मन से परमेष्ठियों का स्मरण या मंत्र-जाप्य पापों को धो देता है और शरीर पवित्र ही हो लेकिन अंतरंग में श्रद्धा और विवेक न हो तो मंत्र-जाप्य से भी विशेष लाभ नहीं होता। इसका यह मतलब न लेना कि भगवान की पूजा बिना नहाये-धोये जैसी-तैसी गंदी हालत में करें, लेकिन मतलब यह है कि बाह्य शुद्धि जहाँ तक रख सकते हैं रखकर भी विशेष ध्यान अंतरंग शुद्धि का रखना है। कोई समय शरीर अपवित्र भी बना रहे तो भी परमेष्ठियों का ध्यान और मंत्र-जाप्य तो कर सकते हैं। रजस्वला के समय स्त्री मंत्र-जाप्य या पूजा-पाठ नहीं परन्तु ध्यानरूप कर सकती है। पापों से छूटा जा सकता है। पाप कहते हैं जो बचावे उसे । 'पाति रक्षति', तो पाप किससे बचाता है ? पुण्य से और धर्म से।

मिथ्यात्व व कषाय से हटकर आत्मशुद्धि की ओर आने का अनुरोध—पाप मुख्य में मिथ्यात्व और कषाय है। मिथ्यात्व; पर को अपना समझने की मान्यता, यह सबसे बड़ा पाप है। इस पाप के दूर हो जाने पर ध्यान-अध्ययन की सिद्धि शीघ्र और विशेष होती है। जिनके मिथ्यात्व पाप गया, ज्ञान-दृष्टि आयी, आत्मस्वरूप का प्रतिभास हुआ कि चिरकाल के पापों का पलायन होने लगता है। फिर उनके ठहरने के लिये अवकाश नहीं

रहता। लेकिन किस समय कैसी निर्मलता होगी, इसको नहीं कहा जा सकता। हो सकता है कि कभी सामायिक में जो एकाग्रता न हो पाई हो वह साधारण समय में हो जाये, अन्तरंग का हाल बड़ा अनोखा है। बाहर से उसका ठीक-ठीक पता नहीं पड़ सकता। भीतरी भाव के लिये बाहरी अंदाज गलत या भ्रमपूर्ण हो सकते हैं। फिर भी भगवान की पूजा करने से जीवन पवित्र बन ही जाना चाहिये। पूजा करके भी जीवन में प्रामाणिकता नहीं आई, आत्मस्वरूप की ओर लक्ष्य नहीं फिरा तो पूजा से लाभ ही क्या लिया ? व्रत उपवास करके भी आत्मरुचि में वृद्धि, प्रवृत्ति के उपायों की मंदता नहीं हुई तो समझो कि उसने चैतन्य भगवान के दर्शन ही नहीं किये। वस्तुत: मलिन आत्मा से भगवान की पूजा नहीं हो सकती।

धर्म एवं पञ्च परम गुरुओं की सच्ची बन्धुता—धर्म या परमेष्ठी हमारे सच्चे अर्थों में बंधु हैं, क्योंकि बंधु वही है जो आत्मा का हित साधे। अर्थात् जो धर्म से सम्बंध करावे ऐसा मोक्षमार्गी गुरु या साधर्मी श्रावक बन्धु है। परिवार के लोग बन्धु नहीं, क्योंकि वे तो धर्म से नाता तोड़ने की कोशिश करते हैं, राग बढ़ाने को प्रोत्साहित करते हैं। होना तो यह चाहिये कि पति-पत्नी, पिता-पुत्र, भाई-भाई आपस में एक दूसरे को ऐसी सलाह दें कि जिससे धर्म की तरफ रुचि दृढ़ हो, धर्म की विशेष प्रवृत्ति हो। घर में कोई बीमार हो तो धर्म-बुद्धि से उसकी यथोचित वैयावृत्ति करनी चाहिये। शरीर की ग्लानि देख नाक-भौं न सिकोड़े, गन्दे शरीर के भीतर भी आत्मा को निरखे कि इस मलीन देह में, आत्मदेव विराजमान हैं जो स्वभावतः सिद्धतुल्य चेतना के पुञ्ज हैं। आत्मा की विकारी अवस्था पर भी ऐसा ध्यान न दें और न ऐसा ही विचारें कि अमुक व्यक्ति ने ऐसा पाप किया था। जीव के भाव हमेशा एक से नहीं रहते। जो कभी खराब था वह पीछे अच्छा भी हो सकता है। कथा और पुराणों में ऐसे दृष्टांत देखने को मिलेंगे कि उन्होने जीवन का बहुभाग दुर्व्यसनों में बिताया, लेकिन जब कर्त्तव्य का बोध हुआ तो ऐसी साधना की कि उसी भव में भगवान बन गये। गलती किससे नहीं होती ? सभी से होती है, हम भी कितने दोष करते रहते हैं, सो विचार लो। अच्छे–अच्छे निन्द्य आचरण करने लगते हैं। और वे ही जब अपने को सँभालते हैं तो फिर उसी उच्च पद पर पहुँच जाते हैं। यही नहीं सर्वोच्च सिद्ध पद को पा लेते हैं। तो परिणामों में ऐसा विवेक लाओ जिससे धर्म की योग्यता आवे।

पापप्रक्षय से आत्मविशुद्धि की जागृति—गुरु वर्णी जी ने एक सच्ची घटना सुनाई थी जिससे हृदय परिवर्तन के बारे में काफी प्रभाव पड़ता है। वह ऐसी कि एक जमींदार की लड़की विधवा हो गई। वह विधवा लड़की ससुराल में न रह अपने पिता के घर पर ही रहने लगी। लेकिन अपने शील को सुरक्षित न रख सकी और दुराचारिणी हो गई। लेकिन कुछ समय के बाद ही उसकी अंतरात्मा पापों से घृणा करने लगी। जब उसकी मृत्यु के कुछ दिन शेष रह गये तब उसके मन में निर्मलता बढ़ने लगी। उसको मालूम पड़ गया कि मेरी मृत्यु के

कितने दिन शेष रह गये हैं। उसने निश्चय किया कि तीर्थ पर जा भगवद्भक्ति में लीन होकर प्राण छोड़ें। उसने यह विचार अपने पिता से व्यक्त किया। पिता ने उसे अपनी सहमति दे दी। जब वह गाँव से जाने लगी तो गाँव के बहुत से भाई-बहन इकट्ठे हो गये। उन उपस्थित व्यक्तियों से कहती है कि अभी तक हमने बहुत पाप किये, जिस पाप से हमारे रहने वाले स्थान के बगीचे के फलों में कीड़े पड़ने लगे, पानी कडुवा हो गया। लेकिन अब हमारे भाव निर्मल हुए हैं। पापों का प्रायश्चित करते हैं और तीर्थराज पर जाकर भगवान की भक्ति में लीन हो शेष आयु पूर्ण करते हैं। अब हमारा हृदय अच्छा होने से बगीचे के फल और कुएँ का पानी अपनी अच्छी हालत में हो गये होंगे। लोगों ने जाकर देखा तो उसके कथनानुसार फल सुस्वादु, कीड़ों से रहित और पानी मीठा पाया। पश्चात् उस विधवा ने तीर्थ पर जाकर भगवान की भक्ति में लीन रहने की दशा में प्राण छोड़े। तो ऐसा कभी मत सोचो कि फलाने ने ऐसा काम किया था, वह पुण्यात्मा वा धर्मात्मा कैसे बनेगा ? या अपने बारे में ऐसा मत विचारो कि मैंने यह पाप किया है अब मैं पुण्यात्मा या धर्मात्मा नहीं बन सकता। जिस क्षण में पाप छोड़ दिया जाता है उसी क्षण में आत्मा पुण्यात्मा बन जाता है और यदि रत्नत्रय का उदय हो गया तो धर्मात्मा भी बन जाता है।

नमस्कार मंत्र के जाप की विधि—नमस्कार मंत्र के जपने के लिये पहले पूज्य परमेष्ठियों का स्वरूप जानकर हृदय में अच्छी तरह अंकित कर लेना चाहिये, और मंत्र में जिस पद को बोले उनके अर्थ और परमेष्ठी के स्वरूप को विचारता जाये। मंत्र की जाप्य कितनी संख्या में हो, कितने समय तक हो, इसका ख्याल न रखे और उसे अधिक से अधिक एकाग्रता तथा निर्मलतापूर्वक जपता रहे। इस शैली से मंत्रजाप्य द्वारा एक अपूर्व आनन्द आवेगा और आगे-आगे विशेष दृढ़ता होती जायेगी। तब जल्दी खतम करने को चित्त आकुल न होगा। इस शैली में यह जरूरी नहीं कि १०८ बार ही मंत्र जपना चाहिये, गिनती पर ध्यान जाने से हृदय उतना गहरा नहीं पहुँच जाता और एकाग्रता भी उतनी नहीं हो पाती। लेकिन जिनके चित्त अधिक चंचल होते हैं, उनके लिये १०८ बार जपने की बात ठीक हैं, नहीं तो वे १०-१२ बार ही जप कर उठ जाये। दूसरी रीति मंत्र जाप्य की यह है कि हृदय में आठ पंखुडी वाला कमल विचारे और उसके बीच में उसकी कर्णीका। प्रत्येक पंखुड़ी और कर्णिका में १२-१२ बिन्दु विचारे, फिर एक-एक पंखुड़ी के एक-एक बिन्दु पर मंत्र बोलता जाये, इस तरह १०८ मंत्र की जाप हो जायेगी। इससे भी सरल रीति यह हे कि हृदय-कमल पर कल्पित मन के आठ पंखुड़ी और एक बीच में कर्णिका कमल पर क्रमश: उन ९ स्थानों में एक मंत्र बोलता जाये और दाहिने हाथ की अंगुली के पोरे पर पूर्ण १२ चक्कर होने पर १०८ मंत्र की जाप्य हो जायेगी। इससे भी सरल उपाय है कि दाहिने हाथ की अंगुलियों के १२ पोरों पर क्रम से मंत्र बोलता जाये और १२ पोरों पर क्रम से मंत्र बोलता जाये और १२ पोरों पर बोल चुकने पर बायें हाथ के १ पोरा पर अंगुली रखे, इस तरह ९ बार करने पर १०८ मंत्र की जाप्य हो जायेगी। और यह भी न बने तो १०८ दाने की माला ले-ले और एक-एक दाने पर मंत्र बोलता जाये तो १०८ मंत्र की जाप्य हो जायेगी।

श्लोक २

अपवित्र: पवित्रो वा सर्वास्थां गतोऽपि वा।

य:स्मरेत्परमात्मानं स बाह्याभ्यन्तरे शुचि:।। २ ।।

नमस्कार मंत्र का स्मरण करने वाले की बाह्य व अभ्यंतर दोनों रूपों में पवित्रता—बाह्य में अपवित्र या पवित्र किसी भी दशा में हो किन्तु परमात्मा का स्मरण करे तो बाह्य और अभ्यन्तर से पवित्र हो जाता है। मुनि का धूल-धूसरित शरीर भी रत्नत्रय की पवित्रता से पवित्र ही कहलाता है जबकि विषयी और कषायी जीव शरीर को साबुन से मल-मलकर धो ले तो भी मलिन ही है। वैसे तो शरीर मलिनरूप ही है बाहरी भाग को साफ कर लेने पर भी भीतर हाड़ मांस लहू विष्टा पीप और मूत्र भरा हुआ है, इन ही से बना हुआ है। उसकी पवित्रता और पूज्यता है रत्नत्रयादि गुणों से, परमात्मा की भक्ति से, दया दान और संतोष से। इसीलिये कहा कि शरीर की कैसी भी दशा हो यदि भगवान का स्मरण, कीर्तन, पूजन, दर्शन, वन्दना कर रहे हो तो पवित्र ही हो, क्योंकि आत्मा है इसलिये। रागी-द्वेषी, मोही आत्मा जब पुद्गलस्कन्धों को शरीररूप ग्रहण करता है तब वे पुद्गल जो पहले अपवित्र नहीं थे पीछे अपवित्र होने लगते हैं, उन्हीं पुद्गलों का हाड़ मांस मल मूत्र बनने लगता है; तो यह विकारी आत्मा ही मलिन है, जिसके संयोग से वर्गणावों में मलिनता का दोष पैदा होता है। किन्तु परमात्मा के ध्यान से अन्तर और बाहर पवित्र होता है।

परमात्मा दो तरह के है— १ कारणरूप परमात्मा और दूसरे कार्यरूप परमात्मा। कार्यरूप परमात्मा अरहंत और सिद्ध भगवान हैं लेकिन कार्यरूप परमात्मा की पवित्रता जिस आत्मा से बनी वह कारणरूप परमात्मा है। ध्यान के लिए कौन परमात्मा मुख्य हैं ? जिसके ध्यान से अरहंत और सिद्ध बन जाते हैं वह कारणरूप आत्मा ही मुख्य है, क्योंकि अरहंत और सिद्ध का ध्यान तो मोक्षमार्ग की पहली अवस्था में होता है, प्रमत्त दशा में ही होता है, उसका ही ध्यान रहने से अरहंत सिद्ध अवस्था प्राप्त नहीं हो सकती। अरहंत और सिद्ध का ध्यान विकल्परूप है, निर्विकल्परूप से ध्येय रह जावे ध्यान की यह मंशा है। परमात्मा के ध्यान के लिए अहंकार और ममकार का त्याग होना चाहिये, यदि यह त्याग कर सके तो कार्यपरमात्मा का ध्यान करके कारणपरमात्मा का भी ध्यान हो सकेगा और फिर ध्यान-ध्याता की अवस्था से ऊपर स्वयं ध्येयरूप हो जायेगा।

श्लोक ३

अपराजित मन्त्रोयं सर्वविघ्न विनाशन:।

मंगलेषु च सर्वेषु प्रथमं मंगलं मत:।। ३ ।।

णमोकार मंत्र की अपराजितता—यह णमोकार मंत्र अपराजित है, क्योंकि इसमें सर्वोत्तम पदार्थ परमेष्ठी की वाचकता है, परमेष्ठी से बढ़कर कोई नहीं है। जो उसकी आराधना करता है वह किसी भी शक्ति से पराजित नहीं हो सकता। वह हमेशा विजयशील, उन्नत पथगामी होता है। कोई विघ्न बाधा का अंदेशा इसके आराधक को नहीं होता। जो बात या घटना वधू बनकर आती है वह साधक के लिये अधिक दृढ़ता का कारण होती है। हाँ, यदि साधक में पूर्ण श्रद्धा और दृढ़ता न हो और वह अपने पथ से विचलित हो, मूढ़ता प्रलोभन और भ्रम में आ जाये तो यह आराधक की कमी है कि आराधक मन्त्र या उसके वाच्यार्थ देवताओं के स्वरूप की, बाह्य दृष्टि से परमेष्ठी की आराधना करी, लेकिन निश्चय से अपने ही शुद्ध चैतन्य भावों की ही आराधना उपादेय है। जो अपने चैतन्य भावों की आराधना में लगा होगा उसे पराजित करने वाला और विचलित करने वाला कौन है? उसे किसका भय है? उसे संसार में किसका प्रलोभन है? जो उससे दीन बनकर पराधीन होगा जब पूर्ण शक्तिमान परमात्मा का उसने शरण लिया, तब उसकी सारी विघ्न बाधाएं दूर हैं। उसके तन-मन-धन की शक्तियों का उपयोग परमार्थ के हेतु चैतन्य जागृति के लक्षण से होता है। वह अपनी शारीरिक शक्ति का ह्रास क्षणिक भोगों में न कर, ईश्वराराधना और पुण्य पुरुषों की वैयावृत्ति, तीर्थयात्रा आदि में करता है । वह मोह, ममता और रागद्वेष को बढ़ाने वाले विचारों को प्रोत्साहन न देकर चैतन्यदेव के अनुभव में, परमेष्ठियों के ध्यान में अधिक से अधिक लगाने की चेष्टा में रहता है। संसार के कामों में उपयोग लगाना पड़े तो अलिप्त रहकर लगाता है। पुण्योदय से मिले धन का उपयोग दुर्व्यसन मदवृद्धि और दूसरों को नीचा दिखाने में नहीं करता; किन्तु दान, सम्मान, जिनवाणी-सेवा और धर्म-सेवा में लगाकर विवेक का परिचय देता है। अपनी संतान को योग्य शिक्षित और धार्मिक बनाता है। इस तरह आराधक की वृत्ति उसे हमेशा विजयरूप देती है। परमेष्ठी की आराधनावास अवलंबन के रूप में है। वस्तुत: वह परमेष्ठी की चिंतना से जब अपने में ही समा जाता है व चैतन्य का अनुभव करते-करते वह अनुभव करने वाली चेतना जब स्वयं को चेतन लगती है तो उसके सारे भय और विघ्न दूर हो जाते हैं, फिर बाह्य व्यापार में आता है तो वहाँ भी आत्मवृत्ति के लक्ष्य से बंधा हुआ उन्नत पथगामी रहता है।

णमोकार मंत्र की अपराजितता का प्रबोध—परमेष्ठीरूप जो चैतन्यभाव अनादि अनंत अहेतुक हम देखते हैं वह अपराजित है, सर्व विघ्नों को या पाप को जलाने वाला है। उसमें अनंत मंगल को लाने की सामर्थ्य है, कर्मों को नाश करने की भी सामर्थ्य है। णमोकार मंत्र के अर्थ और उसके वाचक जो परमेष्ठी हैं उनके स्वरूप का ज्ञान न होने पर भी केवल श्रद्धापूर्वक स्मरण और जाप्य से पुण्य बंध होता है। किन्तु जिन्हें उसका अर्थ मालूम है, परमेष्ठी का स्वरूप ज्ञात है और परमेष्ठी का ध्यान करके स्वयं चैतन्य भावों का भी जो अनुभव करते हैं उनके तो सातिशय पुण्यबन्ध के अतिरिक्त संवर और निर्जरा भी होती है। सांसारिक कार्यों के करने

के पहले इस मंत्र के पढ़ने का जो रिवाज है वह इसीलिए कि वह विघ्न-बाधाओं को दूर करने वाला है। मंत्र-जाप्य से परिणामों की निर्मलता होती है, उससे जितना पुण्य-बंध होता है उतना फल पुण्यरूप उसे तत्क्षण या कालान्तर में मिलता है। ऋद्धि मंत्रों में भी इसकी शाखा चलती है, क्योंकि इसमें ऋद्धिधारी साधुओं की, ऋद्धि मंत्रों में जिन देवी-देवताओं के नाम होते हैं वे सब इस मंत्र में संग्रहीत परमेष्ठियों के उपासक होते हैं, अत: इसका स्मरण करने से उनका सहाय प्राप्त होता है। यह बात लौकिक इच्छापूर्ति के उद्देश्य से नहीं कही जा रही है बल्कि यह बतलाया जा रहा है कि इसके पढ़ने से, चिंतवन से परिणामों की निर्मलता होती है, उसी से परमेष्ठी के भक्त क्वचित् कदाचित् आराधक के सहायक होते हैं।

श्लोक ४

एसो पंच णमोयारो सव्व पावप्पणासणो।

मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं होई मंगलं।। ४ ।।

पञ्चनमस्कार मंत्र की सर्वपापप्रणाशकता—यह पंच नमस्कार मंत्र सब पापों का नाश करने वाला है और मंगलादिक सब वस्तुओं में प्रधान मंगल हैं। जिन्होंने अपने चैतन्य दैवत्व को प्राप्त कर लिया अथवा उसको प्राप्त करने में लगे हुए हैं ऐसे अरहंत सिद्ध और आचार्य, उपाध्याय तथा साधु परमेष्ठी की आराधना से हम अपने चैतन्यदेव को ही पूजते हैं, चैतन्य भावों को ही पूजते हैं, और इससे सम्पूर्ण पापों का नाश हो जाता है। उन परमेष्ठियों का ध्यान और अर्चन करते समय अपने चैतन्यदेव कारण अवलोकन का ध्यान अवश्य रखना चाहिये। अथवा परमेष्ठियों के स्मरण अवलोकन में अपने चैतन्यदेव का अनुभव हो जाता है। जितने समय तक पर-आश्रय रहेगा उतने समय तक चैतन्यभावों का अनुभव न होगा। चैतन्यभावों के अनुभव के पहिले शुभ अनुभव होगा ही होगा। आज तक किसी को भी ऐसा नहीं हुआ की अशुभ उपयोग से एकदम शुद्ध उपयोग हो गया हो और बीच में शुभ उपयोग न रहा हो। देव, शास्त्र और गुरु की पूजा शुभ उपयोग के लिये मुख्य साधन है। लेकिन लक्ष्य शुद्ध अनुभव का रखे तब उस पूजन की सार्थकता है । पूजा में बाह्य क्रिया पर उतना बल न देकर शुद्ध भावों पर पहुँचने का लक्ष्य बलपूर्वक होना चाहिये। शुद्ध भावों के पहले आदर्शरूप परमेष्ठी का ध्यान आता ही है, इसलिये उनकी आराधना अनिवार्य है। दूसरी वस्तुएँ शुद्धतत्त्व के विपरीत हैं, अत: चैतन्य भावों तक पहुँचने के लिए पहले पंच परमेष्ठी का ध्यान आता ही है। जिस समय परमेष्ठी का चिंतन मनन पूजन और अनुभव होता है उस समय तो अति शुभ परिणामों के होने से पाप होता ही नहीं, इसके अतिरिक्त पूर्वसंचित पापों की स्थिति और अनुभाग भी क्षीण होकर अल्प रह जाती है, आगामी काल के लिये भी पाप की प्रबल और लम्बी स्थिति का पूर्ण उदय होने से रुक जाता है, क्योंकि वर्तमान में ऐसा पाप-बंध किया नहीं, पूर्व का पाप निर्बल पड़ गया, तब जब तक कि अशुभतम भावों से ऐसा पाप न बांधे तब तक वैसा उदय में

कैसे आ सकता है? नहीं आ सकता। लेकिन परमेष्ठियों की आराधना से जो संस्कार बनते हैं उनसे यह कम संभव होता है कि घोर पापों के बंध-योग्य क्लिष्ट परिणाम हों; क्वचित् कदाचित् तो हो सकते हैं, उनका निषेध नहीं है।

पञ्चनमस्कार मंत्र की प्रथम मंगलरूपता—लौकिक सब मंगलों में पंच परमेष्ठी प्रथम या प्रधान मंगल है, क्योंकि पापों को नष्ट होने के लिये परमेष्ठीरूप मंगल ही सर्वोत्तम साधन वा निमित्त है। पानी से भरा कलश मंगलरूप माना जाता है, वह इसलिये कि हम अपने उद्यम और उसके फल में भरपूर रहें अथवा आत्मा ज्ञानानन्द से परिपूर्ण है, बीच में कहीं भी वह खाली नहीं है, ऐसा निजस्वरूप का बोध कराने के लिये कलश दृष्टान्त बना है। कन्या को मंगल कहा, वह इसलिये कि वह गृहस्थी के पापों से रहित निर्विकार है, तो आत्मा की निर्विकारता की दृष्टान्तता इसमें भी है। इसी तरह दही हल्दी आदि आत्मा के शुभ भावों के द्योतक होने से मंगलरूप माने गये हैं। मतलब यह कि सम्पूर्ण मांगलिक पदार्थों की मंगलसूचकता आत्मा के शुभ भावों के प्रतीक रूप में है। अतः मांगलिक वस्तुओं में परमेष्ठी आद्य मंगल हैं। वे हमारे स्वरूप के उद्बोधन में उत्तम साधनरूप हैं। कहा भी है:—जो जाणदि अरहंतं दव्वेदि गुणेहिं पज्जयतेहिं। सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्सलयं।। अर्थात् जो अरहंत को द्रव्य-गुण-पर्यायपने से जानता है वह अपनी आत्मा को जानता है, और ऐसे ज्ञानी के कर्म लय हो जाते हैं। अत: परमेष्ठी का ध्यान अर्चन कराना— करना श्रेयस्कर है।

श्लोक ५-६

अर्हमित्यक्षरं ब्रह्म-वाचकं परमेष्ठिन:।

सिद्धचक्रस्य सद्बीजं सर्वत: प्रणमाम्यहम्।। ५ ।।

कर्माष्टकविनिर्मुक्तं मोक्षलक्ष्मीनिकेतनम्।

सम्यक्त्वादिगुणोपेतं सिद्धचक्रं नमाम्यहम्।। ६ ।।

सिद्धसमूह के सद्बीज और परमेष्ठिवाचक अर्हं मंत्र का प्रणमन — अर्हम् — यह शब्द ब्रह्म — परमात्मा, परमेष्ठी का वाचक है। सिद्धसमूह अथवा सिद्धभावों का उत्तम बीज है। अत: इसे मैं मन वचन काय की सावधानीपूर्वक नमस्कार करता हूँ। वह सिद्धचक्र कैसा है? सो कहते हैं:—सम्पूर्ण सिद्ध भगवान अष्टकर्मों से रहित मोक्षलक्ष्मी के निवासस्थान सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि गुणों से परिपूर्ण हैं, उनको मैं नमस्कार करता हूँ। सिद्धों की इस नमस्कार विधि में हमें अपना ध्यान सामान्य चेतना की अनुभूति तक पहुँचाना चाहिये। पूज्य पुरुषों की आराधना से हमें यह काम निकाल लेना चाहिये। जिन आत्माओं ने अपने को निर्मल किया है उनके अवलम्बन से हमारा काम सरलता से बनता है, वैसे तो हर पर्याय को आश्रय कर पुन: उसके आधारभूत

स्वभाव की दृष्टि करे तो भी निर्मलता आ सकती है, क्योंकि निर्मलता होनी तो हममें ही है और हमारे में से होती है। इस प्रकार यदि अन्य चेतन या अचेतन द्रव्य को भी भूतार्थदृष्टि से विचारें तो वहाँ भी पहले पर्याय तो ज्ञान में आती है, किन्तु पश्चात् पर्यायदृष्टि से हटकर द्रव्यदृष्टि होती है। पश्चात् अवांतर सत् की भी दृष्टि छूटकर महासत् प्रतिभास होता है। तब महासत् की अनुभूति किसी अन्य का आलम्बन न रखने के कारण जिनानुभूतिरूप होती है। तब वहाँ निर्मलता का विकास स्वयं होता है, उस निर्मलता में जो पदार्थ उस समय से पूर्व किसी भाव के निमित्तरूप होते हैं, उन्हीं को निमित्त कारणता प्राप्त हो जाती है ऐसा उपचार होता है, और ऐसी निमित्तता हर पदार्थ में बन सकती है। लेकिन विशेष उपादान-सिद्धि के निमित्त भी कुछ विशेष हुआ करते हैं। आत्मस्वरूप के विकास के लिये आत्मस्वरूप को विकसित करने वाले, परमेष्ठी ध्यान के विषयभूत होने की दृष्टि में विशेष सहायक है क्योंकि उनके नाम स्मरण स्वरूप चिंतवन और अनुभवन से स्वात्मस्मरण चिंतवन और अनुभवन होता है।

श्लोक ७

विघ्नौघा: प्रलयं यांति शाकिनीभूतपन्नगा:।

विषं निर्विषतां याति स्तूयमाने जिनेश्वरे।। ७ ।।

जिनेश्वर के स्तवन का फल अनेक आपदाओं का निवारण—जिनेश्वरदेव के स्तवन करने पर विघ्नों के समूह तो प्रलय को प्राप्त होते हैं और शाकिनी, भूत, पन्नग आदि भी विघ्नों के करने में अक्षम हो जाते हैं तथा विष निर्विषपने को प्राप्त हो जाता है। जिस उपयोग में विकल्प बहुलत्व नहीं है वहाँ विपदा का कोई स्थान कैसे हो सकता है ? वस्तुत: विपदामात्र विकल्प है। परद्रव्य के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के अंश भी किसी अन्य में प्रवेश नहीं कर सकते, फिर मुझमें भी जब किसी अन्यकीय तत्त्व का स्पर्श भी नहीं होता तो परविपदा या विपदा का कारण कैसे हो सकता है ? प्रत्येक द्रव्य का असर स्वयं उस ही में होता है। अत: मेरी विपदा कल्पनाजाल को छोड़कर अन्य कुछ है ही नहीं। सो वह विकल्प-जाल निर्विकल्प परमात्मा की दृष्टि में अथवा निर्विकल्प घन एक स्वभाव अहेतुक निज चैतन्यतत्त्व की दृष्टि में कैसे स्थान पा सकता है ? इसीलिये जिनेश्वर भगवान के स्तूयमान होने पर कोई विघ्न होता ही नहीं है। तथा इस सुकृत के फल में कल्पित लौकिक विघ्न भी स्थान नहीं पाते हैं। इस प्रकार उक्त प्रारम्भिक भूमिका पाठ को पढ़कर निम्नलिखित पद बोलकर अर्घ्य चढ़ाया जाता है:—

अर्घ्य

उदकचंदनतंदुलपुष्पकैश्चरुसुदीसुधूफलार्घकै:।

धवलमंगलगानरवाकुले, जिनगृहे जिननाथमहं यजे ।।

जल, चंदन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप और फल—इन सबके समूह से बनाये हुए अर्घ्य के द्वारा उत्तम और मांगलिक गीतों के शब्द जिसमें गूंज रहे हैं, ऐसे जिनमन्दिर में जिनेन्द्र भगवान को उनके नामों व गुणों के स्तवन से मैं पूजा करता हूँ। ''ओं ह्रीं भगवज्जिनसहस्रनामधारकजिनेन्द्रदेवाय अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा।'' अर्थात् पंचपरमेष्ठी और २४ तीर्थंकरों का आदि जापपूर्वक भगवान जिनेन्द्र के हजार नामों के धारक जिनेन्द्रदेव के लिये मैं अर्घ्य चढ़ाता हूँ। (उक्त अर्घ्य वाला मंत्र बोलकर अर्घ चढ़ाना चाहिये) पश्चात् प्रस्तावना का शेष पाठ इस प्रकार बोलो—

पूजा-प्रतिज्ञा पाठ

श्लोक १

श्रीमज्जिनेन्द्रमभिवन्द्य जगत्त्रयेशं, स्याद्वादनायकमनंतचतुष्टयार्हम्।

श्रीमूलसंघसुदृशां सुकृतैकहेतुर, जैनेन्द्रयज्ञविधिरेषमयाऽभ्यधायि।। १ ।।

श्रीजिनेन्द्रदेव का अभिवन्दन करके पूजा किये जाने का संकल्प—अंतरंग-बहिरंग लक्ष्मी से विभूषित, तीनों लोकों के ईश, और स्याद्वादविद्या के स्वामी अनंत चतुष्टय से युक्त श्रीमूलसंघ वाले सम्यग्दृष्टियों के पुण्य के प्रधान कारण भगवान को नमस्कार करके मैं भगवान की पूजा प्रारम्भ करता हूं। यहाँ ऐसे नहीं समझना कि सम्यग्दृष्टि कोई मूलसंघ के आम्नायी है तो कोई अन्य संघ के तथा उनमें से केवल मूलसंघ के सम्यग्दृष्टियों को यहाँ ग्रहण किया गया हो, विभिन्नता के कारण विविध नाम के संघों का निर्माण हुआ हो और इसीलिये मूलसंघ भी पृथक् रूढ़ हो गया हो तो ऐसा संघ यहाँ विवक्षित नहीं है। किन्तु जो जिनेन्द्रदेव के प्ररूपित मूल तत्त्व—चैतन्य भगवान के अनुभव करने वाले हैं वे ही सम्यग्दृष्टि हैं, उनके पुण्य का एक प्रधान कारण श्रीमज्जिनेन्द्रदेव की पूजा का विधान है। वह मेरे द्वारा किया जाता है। यहां कर्तृवाच्य के वाक्य में यह काम नहीं कहा गया है जिससे यह ध्वनित होता है कि पुजारी तो कर्तव्यबुद्धि से पृथक् है, उसके शुभरागवश जो बात हो जाती है उसे कर्मवाच्य के वाक्य से कहा गया है।

प्रभु की जगत्त्रयेशता—यहाँ कोई प्रश्न कर सकता है कि भगवान तीन लोक के स्वामी कैसे हैं ? तो उत्तर है कि तीनों लोकों के इन्द्र उन्हें नमस्कार करते हैं इसलिये । अधोलोक के भवनवासी इन्द्र ४०, व्यन्तर इन्द्र ३२, मध्यलोक के मनुष्यों का इन्द्रचक्रवर्ती, पशुओं का राजा सिंह, ज्योतिषी देवों के इन्द्र सूर्य, चन्द्रमा तथा ऊर्ध्वलोक में कल्पवासी देवों के इन्द्र २४, ऐसे १०० इन्द्र भगवान के चरणों की वन्दना करते हैं। जब इन्द्रों ने, स्वामियों ने वन्दना की तब तीनों लोकों के ईश ही हुए। फिर कोई प्रश्न करे कि तिर्यंच तथा तिर्यंचों का राजा

सिंह भगवान के समवशरण में कैसे पहुँच सकता है, जबकि मनुष्यों को उनसे एक जगह मिलने-बैठने की सम्भवता नहीं है? तो कहते हैं, यह बात नहीं है। समय-समय की बात है। आज सर्कस वगैरह में शेर, चीता आदि पशु मनुष्यों के साथ चतुराई के काम करते हैं। यद्यपि वे यहाँ भयमूलक स्नेहप्रकृति के हो जाते हैं, परन्तु वीतराग भगवान के समवशरण में सिंह आदि पशु भी मुमुक्षा-हितलिप्सा से जाते हैं और वहाँ आराध्य देव के प्रसंग प्रसाद से समतापरिणामी हो जाते हैं। वहाँ मनुष्यों का व पशुओं का उद्देश्य प्राय: एक रहता है। इसलिये भी सब परस्पर मित्र हैं।

प्रभु के अतिशय—तीर्थङ्कर जैसे महान आत्मा का जहाँ आगमन होता है उसके चारों तरफ १००-१०० योजन याने ४०० कोस के इर्दगिर्द में दुर्भिक्ष नहीं रहता, प्राणियों में बैर-विरोध और ईर्ष्या-द्वेष नहीं रहता। रोग-शोक की शांति हो जाती है। यही कारण है कि भगवान का विहार होकर जहाँ अवस्थान होता है, समवशरण रचा जाता है, वहाँ देव और मनुष्यों के अतिरिक्त तिर्यंच भी पहुँचते हैं। देव और मनुष्यों के जाने का कोलाहल और वातावरण जब ग्राम या वनवासी पशु देखते हैं तब उनके भाव भी भगवान की वंदना के होते हैं, परिणामों में अत्यन्त निर्मलता आ जाती हैं, कैयक को जाति का स्मरण हो जाता है। वे तिर्यंच और मनुष्य अपने बीच में व्यवहार की खाई को भूल जाते हैं और समवशरण भी ग्राम, नगरों से दूर वन, उपवन, बाग़ बगीचों में होता है। जहाँ का वातावरण शांत पवित्र होता है, जहाँ हर एक मनुष्य को पहुँचने की पूरी सुविधा है। आपस में बैर-विरोध तो होता ही नहीं। अत: भगवान की सभा में शेर वगैरा का पहुँचना अस्वाभाविक नहीं है। समवशरण का वातावरण इतना पवित्र और सब जीवों के कल्याण का स्थान होता है कि वहाँ हरेक के लिये शरण प्राप्त होती है। सम् अर्थात् सम्यक् प्रकार से अव समन्तात्—सब तरफ से, सब लोकों से, सब गति और जाति के जीवों में से आये हुए जीवों को जहाँ शरण मिलता है उसे ही समवशरण कहते हैं। ऐसा समवशरण तीर्थंकर का ही होता है। दूसरे अधिकारी मुनियों का भी नहीं होता, और यहाँ तक कि सामान्य केवलियों के भी तीर्थंकर के जैसी समवशरण की रचना नहीं होती। फिर भी सामान्य केवली के निकट सब तरह के जीवों को भगवान का उपदेश सुनने का अवसर दिव्यध्वनि से प्राप्त होता ही है।

प्रभु की स्याद्वदनायकता—भगवान समग्र वस्तु-स्वरूप के पूर्ण ज्ञाता होने से स्याद्वाद के नायक होते हैं, क्योंकि वस्तु का स्वरूप आपेक्षिक है। कोई भी बात अपेक्षा से ठीक हो सकती है, जबकि अपेक्षा छोड़ देने से हर एक बात झूठ पड़ जाती है। हम किसी की भी बात को जल्दी में भी इतनी तो कह ही सकते हैं कि हो किसी अपेक्षा से, आपका कहना सत्य है। कोई कहे कि ईश्वर सृष्टि का कर्ता है या नहीं? तो कह सकते हैं अपेक्षा से है भी, वह ऐसे ही अनन्त आत्माएं चैतन्य सामान्य से ईश्वररूप हैं किन्तु राग द्वेष और मोह आदि

विकारों से संसार बना रहे हैं । ये जीव स्वयं एकोऽहं होकर भी बहुस्याम् की विविध कल्पनाजाल में फंस रहे हैं, तब रागद्वेष और मनुष्य पशु आदि संसार की सृष्टि होती है। बिना चैतन्य आत्मा के यह सृष्टि केवल जड़ नहीं है। इत्यादि रूप अपेक्षा से हर एक बात को अनेकांत रूप घटा सकते हैं।

प्रभु की अनन्तचतुष्टयार्हता—भगवान अनन्त चतुष्टय मंडित कहिये याने वे सच्चिदानन्दमय हैं। चाहे अनंत चतुष्टयमंडित कहिये या सच्चिदानन्दमय कहिये, एक ही बात है। सच्चिदानन्दमय में चार शब्द हैं—(१) सत् (२) चित् (३) आनन्द, (४) मय। सत् का अर्थ शक्ति से समवेत है। चित् के प्रकार ज्ञान और दर्शन हैं। आनन्द का अर्थ सुख है, सुख भी नहीं, सुख से उत्कृष्टभाव है। सुख और आनन्द में अन्तर यह है कि सुख तो उसे कहते हैं जो भाव 'ख' कहिये इन्द्रिय को 'सु' कहिये सुहावना लगने से भरा हो तथा आनन्द का अर्थ है 'आसमन्तात् नन्दति इति आनंद:', जो भाव आत्मा के सर्व ओर से समृद्धशाली बने जो आनंद है। यद्यपि इन अर्थों की अपेक्षावों में आनन्द का भाव सुख से उत्कृष्ट है तथापि लौकिक जनों में सुख की ख्याति है, अत: आनन्द का नाम भी सुख रूढ़ हो गया। ये अनन्त चतुष्टय मुख्यता की अपेक्षा से कहे गये हैं। इनके अतिरिक्त और भगवान में क्या-क्या गुण कहे जायें ? वे अनंत गुणों के स्वामी हैं। जिनकी पूजा सुकृत को एक ही प्रधानरूप से कारणरूप है, मैं ऐसे जिनेन्द्रदेव की पूजा शुरू करता हूँ।

श्लोक २

स्वस्ति त्रिलोकगुरवे जिनपुङ्गवाय,
स्वस्ति स्वभावमहिमोदय सुस्थिताय।

स्वस्ति प्रकाशसहजोर्ज्जितदृङ्मयाय,
स्वस्ति प्रसन्नललिताद्भुतवैभवाय ।। २ ।।

त्रिलोकगुरु जिनश्रेष्ठ प्रभु को नमस्कार—तीन लोक के गुरु, जिनों में भी पुङ्गव (महान्) स्वभाव की महिमा का जिनको उदय (प्रकाश) हो गया है अतएव उत्तम पद में स्थित स्वाभाविक ज्ञान-दर्शन से प्रकाशमान तथा ललित और विलक्षण वैभव से प्रसन्न (निर्मल) जिनेन्द्रदेव मेरे लिये कल्याणरूप हों, या स्वस्ति का अर्थ नमस्कार भी होने से ऐसे जिनेन्द्रदेव को मैं नमस्कार करता हूँ, ऐसा भी अर्थ हो सकता है। इस श्लोक में जिनेन्द्र के जो विशेषण दिये गये हैं वे निश्चयत: स्वात्मा के ही हैं । आत्मा स्वभाव से स्वयं गुरु है, तीनों लोकों के सारे जड़ पदार्थ इसके गुरुपने से रहित हैं, अथवा और अनंत सब आत्माएँ किसी एक की आत्मा का गुरु नहीं है, तीनों लोकों में प्रत्येक आत्मा अपना गुरु है, अतएव प्रत्येक आत्मा तीनों लोकों में वही स्वयं अपने लिये गुरु है और विकारों पर विजय पाने से हमारी आत्मा ही जिन है। अत: वह पुङ्गव है—पुङ्गव का अर्थ श्रेष्ठ है, इसका ही

बिगड़ा हुआ रूप पुङ्गा है। अल्प योग्यता वाले को पूर्ण योग्य महत्त्व वाला शब्द कहना गालीरूप इसलिये पड़ जाता है कि जनता उसे स्वीकार नहीं करती। जिससे कमजोर व्यक्ति उपहास समझने लगता है। लोक में प्रसिद्ध गाली के शब्द प्राय: ऐसे ही हैं जिनका कि अर्थ महत्त्वपूर्ण है। लोग उनका अर्थ न जानकर भले ही क्षोभ में आवें परन्तु अर्थ समझें तब क्षोभ की कोई बात नहीं। यहाँ पुंगव का अर्थ हितरूप श्रेष्ठ है । श्रीमान् भगवान जिनेन्द्र पुङ्गव हैं। जिनका अर्थ सम्यग्दृष्टि, व्रती, यती और स्नातक है। दर्शनमोह के विजयी होने से जिन संज्ञा चतुर्थ गुणस्थान से हो जाती है और बाद में अप्रत्याख्यानवरण प्रत्याख्यानावरण संज्वलन कषाय के अभाव से उत्तरोत्तर महत्त्वपूर्ण जिन संज्ञा हो जाती है। स्नातक देव तो प्रकट पूर्ण है उनमें प्रधान श्रीमान् जिनेन्द्रदेवाधिदेव तो महिमा के उदय से सुस्थित हैं और आत्मा के स्वाभाविक ज्ञान-दर्शन के प्रकाश से प्रकाशमान है। आत्माएँ ललित और अद्भुत ज्ञानादिवैभव से सदा विद्यमान हैं। ऐसे चैतन्य गुणों से परिपूर्ण आत्मा को जो भेदरूप से परमेष्ठीरूप और अभेद से आत्मा रूप है, उसके लिये नमस्कार करके आराधक चैतन्यदेव की आराधना करता है, क्योंकि परकीय अवस्था के सम्पर्क में जिस दृष्टि से आत्मा अनादिकाल से अपने में अनादर और पर में आदर करता आ रहा था वह दृष्टि और प्रवृत्ति बदलकर अब स्वोन्मुख हो गई है। उसके लिये आदरणीय और रूप नज़र आता है तो वही चैतन्यदेव व्यवहार से परमेष्ठीरूप और निश्चय से स्वात्म देवरूप है ।

श्लोक ३

स्वस्त्युच्छलद्विमलबोध-सुधाप्लवाय,

स्वस्ति स्वभाव-परभावविभासकाय।

स्वस्ति त्रिलोकविततैकचिदुद्गमाय,

स्वस्ति त्रिकालसकलायतविस्तृताय ।। ३ ।।

त्रिलोकज्ञ त्रिकालज्ञ प्रभु को प्रणमन—उछल रहा है निर्मल ज्ञानमय अमृत का प्लव(प्रवाह) जिसमें, जो स्वभाव और परभाव भाव का दिग्दर्शक है, जिसका ज्ञान-चैतन्य तीनों लोकों को ज्ञेय बनाने से व्याप्त हो रहा है और त्रिकाल की समस्त पर्यायों में जो व्याप रहा है, ऐसे अद्भुत ज्ञानमय भगवान को नमस्कार करता हूँ, अथवा वे भगवान हमारे लिये कल्याणरूप हों । यहाँ निर्मल ज्ञान केवलज्ञान को सुधाप्लव बताया है जिससे यह ध्वनित हुआ कि ज्ञान सामान्य व्यापक और केवलज्ञान व्याप्यरूप से है। केवलज्ञान प्रतिक्षण प्रवर्तमान रहता है और ज्ञान सामान्य हमेशा ध्रौव्यरूप है जो व्यक्ति शक्ति वा शक्तिरूप परमेष्ठी और स्वआत्मा में घटित होता है । भगवान के ज्ञान में तीनों लोकों के पदार्थ जो जहाँ जैसे अवस्थित हैं, ज्ञात होते हैं, परन्तु उनके सम्बन्ध में ये विकल्प नहीं कि अमुक इतने लाख योजन का है अथवा अमुक-अमुक से इतने दूर हाथ हैं आदि, क्योंकि नाप

या दूरी या समीपता न तो द्रव्य है, न गुण है, न पर्याय है। हाँ, ज्ञानी के विकल्प का ज्ञान हो रहा है, क्योंकि यह विकल्प, छद्मस्थ का ज्ञान विकल्परूप पर्याय है। इसी प्रकार कालक्रम से जो जब पर्याय होती है उस ऊर्ध्वता विशेषक्रम से अवस्थित परिणमन ज्ञान होते हैं। परन्तु वहाँ यह विकल्प नहीं है कि अब यह भूत पर्याय में शामिल है या भविष्य में । इस विषय को प्रवचनसार में देखकर भली-भाँति आत्मसात् करना चाहिये। ऐसे-ऐसे निर्विकल्प शुद्ध परिणमन का जिस चैतन्य से उद्गम है वह हमारा कल्याण करे अर्थात् उसकी दृढ़ दृष्टि बनी रहे।

श्लोक ४

द्रव्यस्य शुद्धिमधिगम्य यथानुरूपं,

भावस्य शुद्धिमधिगामधिगन्तुकामः।

आलम्बनानि विविधान्यवलंब्य वलगन्,

भूतार्थयज्ञपुरुषस्य करोमि यज्ञम् ।। ४ ।।

शुद्धिपूर्वक भूतार्थयज्ञपुरुष की पूजा का संकल्प—द्रव्य की शुद्धि को प्राप्त करके, और अधिक से अधिक भावशुद्धि की इच्छा रखता हुआ, तथा अनेक अवलम्बनों का अवलंबन लेता हुआ (वे अवलंबन हैं— अष्ट द्रव्य, मूर्ति, स्तोत्र और पूजा पाठ आदि) आराधक अपनी भावना व्यक्त करता है कि मैं यथार्थ यज्ञ के अधिष्ठाता देवता की मैं पूजा करता हूँ। राग-द्वेष के विषयभूत विविध भोगोपभोगादि सामग्रियों के अवलम्बन में रहने वाला गृहस्थ श्रावक निरवलम्ब चैतन्यानुभव को स्थित करने में असमर्थ है तो अपनी आदत के बदलरूप में यहाँ नाना शुभ अवलम्बनों का अवलम्बन ले रहा है। परन्तु यहाँ भी अपने ध्येयभूत निर्मलभाव और यज्ञ-पुरुष के वैभव का स्मरण नहीं भूला है। सो जैसे भावमुनि के प्रमत्त और अप्रमत्त गुणस्थान शीघ्र परिवर्तित होते रहते हैं वैसे ही यह पूजक-अन्तरात्मा; व्यक्त-परमात्मा और शक्त-परमात्मा के लक्ष्य में परिवर्तित होता चला जा रहा है। अब वह पूजक अपने प्रयोजनसार को व्यक्त करता है:—

श्लोक ५

अर्हन् पुराणपुरुषोत्तम् पावनानि, वस्तून्यनूनमखिलान्ययमेकएव।

अस्मिञ्जलद्विमल-केवलबोधवह्नो, पुण्यं समग्रमहमेकमना जुहोमि ।। ५ ।।

सर्वस्व समर्पण के भावसहित प्रभुपूजा का उद्यम—हे अर्हन् ! हे पुराण ! हे पुरुषोत्तम ! ये समस्त पवित्र पदार्थ निश्चय से एक ही हैं, क्योंकि जिस चैतन्यदेव को प्रसन्न अर्थात् निर्मल करना है उस चैतन्यदेव का ही

नाना पदार्थों के बाह्य अवलम्बन में रहकर भी ध्यान किया जा रहा है। आराधक की दृष्टि अनेक अर्थों के बाह्य अवलम्बन में रहकर भी उस एक चैतन्य लक्ष्य पर ही पहुँच जाती है। जैसे ब्याह-शादी में सैकड़ों तरह की खटपट एक विवाह के प्रयोजन के लिये ही होती है, उसी तरह जिसे अपने चैतन्यदेव को प्रसन्न करना है उसे ज्ञाता-दृष्टा एक चैतन्य आत्मा ही दिखता है। इस तरह के उच्च और महान् कार्य के करते हुये बाह्य कुछ बाधक कारण उपस्थित होने पर भी पूजक के मन में क्षोभ या अन्य विकार नहीं आते।

प्रभुभक्त का समग्रपुण्यहवन का भाव—भक्त का अन्य प्रोग्राम ही नहीं। अत: भक्त कहता है कि मैं इस जाज्वल्यमान केवलज्ञानरूपी अग्नि में एकचित होकर, सम्पूर्ण पुण्य को स्वाहा करता हूँ। जैसे अग्नि कूड़े-कचरे को साफ कर देती है उसी तरह ज्ञानरूपी अग्नि राग-द्वेष आदि मलों को साफ कर देती है। यहाँ अर्हंत-सिद्ध की भक्तिपक्ष में उनके ज्ञान में मन को लीन करके रागद्वेष हटाने का भाव है और आत्म-पक्ष में, ज्ञेयरूप से केवलज्ञान जिसमें आया ऐसा वह अपना ही ज्ञान है जिसमें रागद्वेष के विकल्पों को दूर करना है, रागद्वेष के विकल्पों को हटाना ही स्वाहा करना है। भक्त यह भी कहता है कि मैं समस्त पुण्य उस ज्ञान-अग्नि में अर्पित करता हूँ। लोगों को दिखने में आने वाला पूजन द्रव्य ही वहाँ सामने पुण्य (पवित्र) वस्तुएं हैं। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि यह तो अल्प मूल्य की वस्तुएँ हैं। इनके त्याग में आपकी उदारता ही क्या ? उत्तर—यहाँ भक्त का यह भी आशय है कि धन, मकान आदि सर्व पुण्य-वैभव आदि को भी मैं त्यागता हूँ, क्योंकि सर्व से प्रथम अपनी श्रद्धा से ही परमात्मा का भक्त हुआ है। पुन: प्रश्न हुआ कि सर्व वैभव भी तो अत्यन्ताभाव वाले भिन्न क्षेत्रवर्ती अचेतन पदार्थ हैं वे तो पहले से ही छूटे हुए हैं, उनको त्यागने की बात कहना 'रिपट पड़े की हर गंगा' की कहावत को याद दिलाना मात्र है। तब भक्त की निर्मलता की दृष्टि ने उत्तर दिया कि जिस पुण्य के उदय से वैभव मिलता है उस मूल का भी मैं स्वाहा करता हूँ। इतने पर भी वही प्रश्न हो सकता है, क्योंकि एकक्षेत्रावगाह होकर भी ये कर्म हैं तो अत्यन्ताभाव वाले पुद्गलपिंड। तब भावव्यक्ति होती है कि प्रभो ! जिस मंदकषायरूप भावपुण्य के निमित्त से पुण्यबन्ध होता है मैं उस चेतन-पुण्य को त्यागता हूँ। इसमें समस्त शुभभाव दान उपवास आदि से लेकर अर्हद्भक्ति तक सभी समिमलित हैं।

जिनेन्द्रपूजक के मन की स्वच्छता का दिग्दर्शन—देखो भैया ! जिनेन्द्र की पूजा में, जिनेन्द्रभक्ति में कषाय के त्याग की भावना है। जब अन्य कल्पितदेवों का यह आग्रह है कि हमारी ही सेवा करे जावो। अर्हन्तदेव का परमोपदेश है कि समस्त परोपयोग त्यागकर मात्र ज्ञाता-द्रष्टा के परिणमन मात्र रहो। इस तरह ये पुजारी अपना अकिंचनभाव बनाता हुआ आशय रखता है कि मैं इस सर्व पुण्यसामग्री से उपयोग हटाता हूँ और पुण्य से मिला हुआ फल— चेतन-अचेतन, वैभव, पुण्य का उदय, पुण्य का बंध कराने वाला भाव और यहाँ तक कि अरहंत-सिद्ध भगवान की भक्ति जो सर्वोच्च पुण्य है, उसके कर्तव्य का भी मैं त्याग करता हूँ और मेरे एक चैतन्यभाव

ही लक्षण है। ऐसे पुण्य को नहीं चाहने वाला पुरुष पूजा का पात्र है। यदि पुण्य की कामना लेकर पूजन का उद्यम किया है तो वह भगवान का, आत्मदेव का पूजन न होकर बाह्य उन जड़ पदार्थों की पूजा होगी जिसकी चाह उसके मन में बस रही है, उसका आदरभाव इन्हीं जड़ पदार्थों में हो रहा है। यदि पूज्य आत्मा में अनुराग और आदर होता तो अन्य जड़ पदार्थों की कामना क्यों रह जाती उस समय जब कि वह पूजा के लिये तत्पर हुआ है, हो रहा है ?

परमात्म पूजा की महिमा—अनादि काल से जीव ने एक बार भी पुण्य का आदरभाव छोड़कर, आत्मा या परमात्मा की पूजा नहीं की। यदि की होती तो यह भ्रमण क्यों बना रहता ? आत्मदेव में आदर आने पर फिर संसार का वास अधिक नहीं रहता, क्योंकि संसार में आदर नहीं तो उसके काम रुचि से कैसे करेगा? और रुचि न होने से वह उनका कर्ता और स्वामी कैसे कहलायेगा? जो जिसका कर्ता और स्वामी नहीं, वह उसका अधिकारी कैसे रहेगा? वह संसार और संसारी का अधिकारी नहीं, तो नियम से वह मोक्ष का अधिकारी है, संसार का कर्ता नहीं तो मोक्ष का अथवा अपने ही भावों का कर्ता होगा। और अंत में उस कर्तव्य-कल्पना से भी रहित, अकर्तव्य या कृतकृत्य के रूप में उस चेतन की स्थिति हो जाती है, लेकिन अभी तक वह स्थिति नहीं पा सके। इसका कारण ही यह है कि हमने निष्काम भाव से पूजा नहीं की। अब इस जन्म से कम से कम कुछ समय तो ऐसी पूजा करनी चाहिये, अभ्यास जिसका जीवनभर होता रहे। इस ही बीच वह समय भी आता रहेगा और अंत में आराधक कभी न कभी प्रसंग होकर समाधि में लीन होता हुआ सहज सुख का अधिकारी बन जायेगा। अब प्रस्तावना में तीर्थंकरों का स्वस्ति पाठ इस प्रकार है:—

स्वस्ति मंगलपाठ

श्री वृषभो न: स्वस्ति, स्वस्ति श्री अजित:, श्री संभव: स्वस्ति, स्वस्ति श्री अभिनन्दन:, श्री सुमति: स्वस्ति, स्वस्ति श्रीपद्मप्रभ:, श्री सुपार्श्व: स्वस्ति, स्वस्ति श्रीचन्द्रप्रभ, श्री पुष्पदन्त: स्वस्ति, स्वस्ति श्रीशीतल:, श्री श्रेयात्स्वस्ति, स्वस्ति श्रीवासुपूज्य:, श्री विमल: स्वस्ति, स्वस्ति श्री अनन्त:, श्रीधर्म: स्वस्ति, स्वस्ति श्री शांति:, श्रीकुन्थु: स्वस्ति, स्वस्ति श्रीअरहन्नाथ:, श्रीमल्लि: स्वस्ति, स्वस्ति श्री मुनिसुव्रत: श्रीनमि: स्वस्ति, स्वस्ति श्री नेमिनाथ: श्री पार्श्वो: स्वस्ति, स्वस्ति श्रीवर्धमान:।।

श्री वृषभ, अजित, संभव व अभिनन्दन जिनेन्द्रदेव का स्वस्तिवाचन—वृष या वृषभ धर्म को कहते हैं, श्री लक्ष्मी को कहते हैं, और ऋषभ नाम के प्रथम तीर्थंकर हो गये हैं। सो अरहंत का, वर्तमान में सिद्ध पद को प्राप्त, तीर्थंकर पक्ष में तो ज्ञान आदि लक्ष्मी से पूर्ण ऋषभनाथ तीर्थंकर हमारे लिए कल्याणरूप हों, यह अर्थ होगा और ज्ञान से परिपूर्ण आत्मस्वभावरूप धर्म वा धर्म से विशिष्टधर्मी स्वयं हमारे लिये कल्याणरूप हो, यह अर्थ हुआ। आगे भी इसी तरह एक अर्थ तीर्थंकर नामपक्ष में और दूसरा अर्थ निश्चय से आत्मपक्ष में लगाना

चाहिये। यथा स्वस्ति अजित: श्रीविशिष्टअजितनाथ तीर्थंकर हमारे लिये कल्याणरूप हों। अथवा अजित माने जो दूसरे पदार्थों से पराजित नहीं किया जा सकता, ऐसा शुद्ध चैतन्य स्वभाव हमारे लिये कल्याणरूप हों। तृतीय श्री संभवनाथ तीर्थंकर कल्याणरूप हों, अथवा सम्यक् प्रकार से उत्पन्न होने वाला नियमित रूप से ध्रौव्यपूर्वक धुरा के साथ उत्पादन करने वाला चेतन परणति ज्ञान (आत्मा) कल्याणरूप हों। अथवा संसार-तृष्णारूपी रोग के नाशक सम्भवनाथ तीर्थङ्कर हमारे लिये कल्याणरूप हों। चतुर्थ श्री अभिनन्दननाथ तीर्थङ्कर हमारे लिये कल्याणरूप हों अथवा 'अभि समन्तात्' सभी तरफ से 'नन्दतीति' नन्दन समृद्ध शांति रहे, आनन्दित रहे। ऐसा आत्मा (क्योंकि आत्मा आनन्दरूप है) कल्याणरूप हों।

श्री सुमति, पद्मप्रभ, सुपार्श्व, चन्द्रप्रभ, पुष्पदंत, शीतल, श्रेयांस व वासुपूज्य जिनेन्द्रदेव का स्वस्तिवाचन— श्री सुमतिनाथ भगवान कल्याणरूप हों। अथवा सु—उत्तम, मति — बुद्धि, ज्ञान— केवलज्ञान विशिष्ट नाथ और पूर्ण सुमति प्राप्त करने का अधिकारी यह सुमतिनाथ आत्मा कल्याणरूप हों। श्री पद्मप्रभ भगवान कल्याणरूप हों। अथवा पद्म — कमल, हृदय-कमल में प्रभु अर्थात् प्रकर्षरूप से शोभायमान होने वाले अनुभव में आने वाले ऐसे स्वयं आत्मदेव कल्याणरूप हों। सुपार्श्वनाथ भगवान कल्याणरूप हों। अथवा सुसुष्ठु प्रकारेण पार्श्व निकटता है जिसकी ऐसा आत्मा कल्याणरूप हों। श्री चन्द्रप्रभ भगवान कल्याणरूप हों। अथवा चन्द्रमा के समान प्रभावान श्री चंद्रप्रभ भगवान कल्याणरूप हों । श्री पुष्पदन्त भगवान कल्याणरूप हों। अथवा पुष्प — प्रकाशमान और दंत (दाँत)—दमनशील स्वरूप में स्थित आत्मा कल्याणरूप हों। श्री शीतलनाथ भगवान कल्याणरूप हों। अथवा शीतल शांतस्वरूप आत्मा कल्याणरूप हों, शीतलाति शीतल: श्री श्रेयांसनाथ भगवान कल्याणरूप हों, अथवा श्रेयांसनाथ कल्याणरूप स्वयं आत्मा कल्याणकर हों। श्री वासुपूज्य भगवान कल्याणरूप हों। अथवा इन्द्रों के द्वारा व इन्द्रपूज्यों द्वारा पूज्य आत्मा कल्याणरूप हों।

श्री विमल, अनन्त, धर्म, शान्ति, कुन्थु, अर, मल्लि , मुनिसुव्रत, नमि, नेमि, पार्श्व व वर्द्धमान जिनेन्द्रदेव का स्वस्तिवाचन—श्री विमलनाथ भगवान कल्याणरूप हों, अथवा निर्मल-स्वरूप आत्मा कल्याणरूप हों। अनन्तनाथ भगवान कल्याणरूप हों, अथवा अंतरहित नाथ—चैतन्य आत्मा कल्याणरूप हों। श्री धर्मनाथ भगवान कल्याणरूप हों अथवा रत्नत्रयधर्म के अधीश्वर आत्मदेव कल्याणरूप हों। श्री शांतिनाथ भगवान कल्याण रूप हों अथवा स्वरूप से शांत-आत्मदेव कल्याणरूप हों। श्री कुन्थुनाथ भगवान कल्याणरूप हों, अथवा कुन्थु— कीड़ी आदि जीवों में भी अर्थात् सर्वत्र व सर्वपर्यायों में विराजमान देव आत्मा कल्याणरूप हों। श्री अरहनाथ कल्याणरूप हों, अथवा कर्म शत्रुओं को हनने वाली आत्मा कल्याणरूप हों। श्री मल्लिनाथ भगवान कल्याण रूप हों, अथवा मोहकर्म आदि मल्लों को भी हराने वाली आत्मा कल्याण रूप हों। श्री मुनिसुव्रतनाथ भगवान कल्याणरूप हों अथवा मुनि अर्थात् ज्ञान और सुव्रत अर्थात उत्तम व्रत के नाथ चरण-चरित्र युक्त (रत्नत्रय युक्त) आत्मा कल्याणरूप हों। श्री नमिनाथ भगवान कल्याणरूप हों अथवा आत्मा कल्याण रूप हों। श्री नेमिनाथ भगवान

कल्याणरूप हों अथवा नेमि—धुरा—धर्मधुरा को धारण करने वाली आत्मा कल्याणरूप हों। श्री पार्श्वनाथ भगवान कल्याणरूप हों, अथवा पार्श्व याने निकटवर्ती, अति निकटवर्ती स्वयं आत्मा कल्याणरूप हों। श्री वर्धमान स्वामी कल्याणरूप हों अथवा ज्ञान, चारित्र आदि गुणों से वर्धमान आत्मा कल्याणरूप हों।

स्नातक अथवा केवली होने का उपाय—इस प्रकार पूजक; पूज्य पर-आत्माओं का आश्रय लेता हुआ भी स्वलक्ष्य में अति सावधान होता है, परमात्मा-आत्माओं की समान वृत्ति के साथ अपना स्वरूप स्पष्ट करता रहता है । यदि पूजक को आत्मस्वरूप का कदाचित् भी भान न होता तो उसे परमात्मा का भी प्रतिभास नहीं हो सकता, क्योंकि परमात्मा का स्वरूप स्वआत्मा के ही अनुरूप है, तब यदि आत्मा को न जाना तो परमात्मा को क्या जानेगा? अत: वास्तविक पूजक; आत्मज्ञानी व आत्मपूजक है, और ऐसे ही पूजक की पूजा सार्थक है मोक्षसाधिका है, अन्यथा सब क्रियाएँ व्यवहारमात्र लोकव्यवहार साधिका है, अधिक कुछ नहीं। अब २४ तीर्थंकरों का स्वस्तिवाचन करने के बाद साधुओं का स्वस्तिवाचन करते हैं।

परमर्षि स्वस्ति मंगलपाठ

श्लोक १

नित्याप्रकम्पाद्भूत केवलोघा:, स्फुरन् मन: पर्ययशुद्धबोधा:।

दिव्यावधिज्ञानबलप्रबोधा: स्वस्ति क्रियासु परमर्षयो न: ।। १।।

कषायविजय व इन्द्रियविजय—साधु ५ तरह के कहलाते हैं—१ पुलाक, २ वकुश, ३ कुशील, ४ निर्ग्रन्थ और ५ स्नातक। केवली भगवान को स्नातक साधु कहते हैं। केवलज्ञान स्वभावपर्याय है। वह पर्याय इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने एवं कषाय के अत्यंत अभाव करने पर होती है। जो आत्मजयी है वही विश्वविजयी होता है। इन्द्रियों को जीतने का उपाय क्या है? सो कहते है:—इन्द्रियविषयों में तीन बातें विचारणीय हैं:—

१-द्रव्येन्द्रिय, २-भावेन्द्रिय और ३-विषय अर्थात वे पदार्थ जो इन्द्रियों के भोग उपभोग में आते हैं। द्रव्येन्द्रिय विषयसेवन की साधना है; भावेन्द्रियां उपयोगरूप हैं, इच्छा या विषयसेवन का अनुभव करने वाली हैं और विषय; वे पदार्थ हैं जो व्यवहार-दृष्टि से भोगे जाते हैं, अवलम्बनरूप हैं। इन तीनों पर विजय पाने के लिये क्या इन्द्रियों को नष्ट-भ्रष्ट कर दें या विषयभूत पदार्थों को नष्ट भ्रष्ट कर दें? नहीं, ये उपाय इन्द्रियजय के लिये व्यर्थ हैं। इन पर विजय पाने का एक ही उपाय है कि इन द्रव्येन्द्रियों और भावेन्द्रियों से अपने को भिन्न देखो। भावेन्द्रियों के रंग-ढंग से भिन्न चैतन्यस्वरूप वा स्वभावधान आत्मा को भिन्न देखो। यही उनकी विजय का उपाय

है। विषयों पर भी विजय पाने का यही उपाय है। उनको बिगाड़ने या तोड़ने से उन पर विजय न होगी, बल्कि भीतर के विकार बने रहने से कोई पदार्थ में द्वेष करेगा तो राग करने लग जायेगा। इन्द्रियों के भी तोड़-फोड़ में यही बात है। आँख फोड़ लेने से क्या होता है, यदि भीतर उसके द्वारा विषयसेवन के, सुन्दर पदार्थों के सेवन के भाव बने हुए हैं। तो इसी तरह दूसरी इन्द्रियों के भी बिगाड़ लेने पर उनके द्वारा भोगे जाने की इच्छाओं का अभाव नहीं होता। और वे इच्छाएँ भावेन्द्रियाँ भी तब तक प्राणी का पीछा नहीं छोड़ सकती जब तक कि उनकी निरर्थकता न जान ली जाये और उनकी निरर्थकता तब तक ध्यान में नहीं बैठ सकती जब तक कि इच्छाओं को भुलाकर आत्मा को न जान जाये जो स्वभाव से इच्छारहित हैं। इच्छा आदि विकारों से भिन्न आत्मा के शुद्ध स्वरूप को न पहिचान लिया जाये तब तक इच्छा कैसे दूर होगी? अंतस्तत्त्व को न जाना समझा जाये तो उसके महत्त्व से अनभिज्ञ होकर बाह्य पदार्थों को ही महत्त्व की दृष्टि से देखेगा। और जब महत्त्व की दृष्टि बाह्य पदार्थों में होगी तो रुचि वहाँ ही रहेगी, उनकी ही इच्छाएँ तरह-तरह की पैदा होगी। अत: इस तरह का अनुभव हो जाना जरूरी है कि आत्मस्वभाव परवस्तुओं से भिन्न है। और यही क्यों ? अपूर्ण मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदि और पूर्ण केवलज्ञान भी जीव की पर्यायरूप दशा है, अध्रुव है। केवलज्ञान भी सादि और प्रतिक्षण की वर्तना वाला होने से शांत है, समय-समयवर्ती है। जब मेरा स्वभाव सामान्य शुद्ध ज्ञान है। इस सामान्य सत्तात्मक ज्ञान को परखना और उसका अनुभव करना ही इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने का उपाय है।

आत्मविजय में सर्वविजय की सिद्धि—एक राजा बड़ा बलवान था, उसने अपने आसपास के राजाओं पर विजय प्राप्त कर ली थी, अत: उसका नाम सर्वजीत पड़ गया, और लोग उसको सर्वजीत ही कहें लेकिन उसकी माँ सर्वजीत न कहे। तो राजा ने उससे इसका कारण पूछा। वह बोली— बेटा ! तूने अभी सब पर विजय प्राप्त नहीं पाई है इसलिये मैं तुझे सर्वजीत नहीं कहती। राजा पूछता है कि विजय पाने के लिये कौन राजा बाकी रहा है? माँ कहती है— तुम्हारा खुद मन, जब तक तुम खुद मन पर विजय पाकर आत्मजयी न बन जाओगे तब तक तुम सर्वविजयी नहीं हो। राजा को होश आया और उसने अपना वास्तविक कर्तव्य पहचाना। यों तो सांड भी कूड़े-करकट के ढेर को सींगों से बखेर-बखेर कर पूंछ उठा उछलता कूदता गर्व और सर्वविजयीपने का अनुभव करता है और कुत्ता भी निर्बल कुत्ते को मार भगाने पर अपनी विजय का गर्व करता है लेकिन इस तरह झूठमूठ विजयी बनने का गर्व व्यर्थ है, परद्रव्य में आत्मदेव का कर्तव्य नहीं है फिर भी कर्तव्य का अहंकार होना, यह मिथ्या आशय नहीं तो और क्या है? यही सबसे प्रमुख अपनी हार है।

बाह्य परिणति करने के विकल्प के गर्व की व्यर्थता—इसी तरह अन्य संसारी प्राणी भी कुछ चीजों का संग्रह करके गर्व करते हैं, अपने पुरुषार्थी होने का मान रखते हैं, लेकिन यह गर्व सांड के द्वारा कूड़ा-करकट उछालकर गर्व के अनुभव करने के तुल्य है। मोही जीव कूड़ा-करकट के समान आत्मा के लिये अनुपयोगी बाह्य पदार्थों को इधर की उधर करने के गर्व का व्यर्थ दम्भ करता है। उसके गर्व करने का स्थान तो तभी है जब

वह आत्मजयी हो जावे। आत्मदर्शन में गर्व नहीं रहता। यह दुलर्भ मनुष्य जन्म, उसमें भी उत्तम कुल और वैज्ञानिक सत्य जैनधर्म का आश्रय मिला है, तो हमें आत्मस्वभाव को पहिचानने में अपने को पूर्ण निष्ठा से लगा देना चाहिये सम्यग्ज्ञान को पैदा करने में परिश्रम करना चाहिए । व्यवहार होता है तो हो, किन्तु जब हम परमसमाधि के यत्न में हों तब तो सर्वोपयोग निज में ही रखें।

आत्महित की सर्वोपरि कर्त्तव्यता—एक राजा पर शत्रु ने आक्रमण किया। उसका मुकाबला करने के लिये सेनापति को दलबल से भेजा गया। सेनापति ने दिनभर खूब लड़ाई लड़ी व जब शाम हुई तो हाथी पर ही बैठे-बैठे सामायिक करने लगा, समस्त एकेन्द्रिय आदि जीवों से भी अपने किये हुये अपराधों की क्षमा माँगने लगा। सैन्य के कई व्यक्तियों ने यह खबर राजा तक पहुँचाई कि सेनापति तो तुच्छ एकेन्द्रियों से भी क्षमा माँगता है, वह युद्ध में विजय कैसे करायेगा ? लेकिन उसे युद्ध करने का अवसर दिया गया और वह विजयी हुआ। जब उससे पूछा गया कि तुम क्षुद्र प्राणियों से भी क्षमा मांगने वाले शत्रु पर विजय कैसे कर सके ? उसने बतलाया कि महाराज ! सामायिक के समय हम सामायिक की ड्यूटी पूरी तरह बजाते हैं, इसी तरह जब युद्धस्थल में उतरते हैं तो वहाँ भी पूरे ध्यान से युद्ध की ड्यूटी बजाते हैं। यही हमारी सफलता का कारण है। मतलब यह है कि आपको भी आत्मकार्य के लिये कोई समय निश्चित रखना चाहिये जिसमें कि केवल आत्महित का कार्य किया जाये और चिंताएं, इच्छाएं और कल्पनाएं अलग ही रहने दें।

जितेन्द्रिय, जितमोह, क्षीणमोह स्नातक के केवलज्ञान की महती ऋद्धि का स्मरण कर भक्ति में स्वस्तिवाचन—तो साधु जितेन्द्रिय होकर जितमोह होते हैं। सूक्ष्म से सूक्ष्म लोभ को भी जीतकर क्षीणमोह गुणस्थान पाता और फिर उसके एक ही क्षण बाद केवलज्ञान प्रगट कर लेता है। यहाँ पर जो केवलज्ञान बताया जा रहा है वह सिद्ध भगवान के केवलज्ञान को लक्ष्य करके नहीं, किन्तु परम औदारिक शरीर में स्थित अरहंत भगवान का लक्ष्य करके कहा है। क्योंकि यहाँ साधु का स्वस्तिवाचन चल रहा है, केवलज्ञान स्नातक साधु की ऋद्धि है जिसका कि वर्णन किया जा रहा है। सिद्ध भगवान में यद्यपि केवलज्ञान अरहंत के ही समान है किन्तु वे साधु नहीं हैं। अरहंत स्नातक केवलज्ञानी वे हैं जिनके समवशरण की भी रचना होती है। समवशरण की रचना ग्राम, नगरों से बाहर होती है। नीचे पहाड़, वृक्ष आदि भी हों तो ऊपर की समवशरण रचना से उनमें कोई तरह की बाधा या विकार नहीं होता, क्योंकि देव लोग अपनी ऋद्धि से ऐसी रचना तत्क्षण कर देते हैं और जो अपूर्व होती है, वहीं के स्थित पुद्गल स्कन्धों से करते हैं, और उसमें अनेक विशेषताएँ होती हैं। वह सब देव के द्वारा अपनी ऋद्धि के बल से और भगवान के पुण्य को निमित्त पाकर निर्मित होती हैं। केवलज्ञान ऋद्धि की बड़ी विशेषता है, उससे चराचर पदार्थ निर्विकारी भाव से अनुभव में आते हैं। केवलज्ञानी की आत्मा पूर्ण स्वभावोन्मुख होती है। उनके औदारिक शरीर में कई अद्भुत बातें होती हैं; उसमें भूख, प्यास और रोग, शोक, उत्सर्ग आदि की बाधा नहीं होती। दर्शनार्थी को हर दिशा से उनका दर्शन होता है, याने उनका मुख एक होकर भी चारों ओर से

दिखता है। केवल ज्ञानी की दिव्यध्वनि में द्वादशांग के ज्ञान से भी अनंत गुना अर्थ समाया रहता है, लेकिन हम अल्पज्ञ अधिक से अधिक उसको द्वादशांगश्रुतरूप ही समझ पाते हैं। समवशरण की और भी विशेषतायें हैं जो पहले बता आये हैं।

मनःपर्ययज्ञान ऋद्धिधारी परमर्षिका स्वस्तिवाचन—पूजक ऐसे केवलज्ञान ऋद्धि वाले स्नातक अरहंत ऋषि से कल्याण की कामना करता है। फिर आगे कहता है कि मन:पर्यय ऋद्धि वाले ऋषि हमारा कल्याण करें। ऋजुमति मन:पर्ययज्ञानी दूसरे के मन की सरल बात को जान लेते हैं और विपुलमति मन:पर्ययज्ञानी इतने निर्मल होते हैं कि वे मन की कुटिल बात को भी जान लेते हैं और जो आगे-पीछे विचार की वस्तु हैं उसे भी जान लेते हैं। यहाँ यह न भूलना चाहिये कि पूजक ऋद्धिधारियों का पाठ पढ़ता हुआ, उनके आत्मिक गुणों में विभोर होता हुआ अपने स्वयं के चैतन्यगुणों को अनुभव करने लगता है। वह अनुभव करता है कि ये सब ऋद्धियाँ और शक्तियाँ मुझमें भी शक्तिरूप से विद्यमान हैं। वह पूज्य की महानता का अनुभव करता हुआ स्वयं अपनी महानता के अनुभव में उतर जाता है। यही उसकी वास्तविक पूजा होती है। लक्ष्य उसका यही होता है। यदि यह लक्ष्य न हो तब ऐसा आत्मानुभव होना संभव न होगा और तब पूजा की भी सार्थकता न रह जायेगी। जैसे एक शेर का बच्चा कुम्हार के हाथ पड़कर गधों के साथ पलने लगा। उसकी वृत्ति बहुत कुछ वीरता के कामों से रहित गधों के समान रहने लगी, लेकिन जब एक दिन जंगल में शेर की दहाड़ सुनी तब उसको अपनी सिंह जाति का बोध हो गया और दहाड़ मार उछलकर जंगल में विचरने लगा। उसी तरह हम लोग अपने स्वरूप से अनभिज्ञ हैं, जिन्होंने उसे प्रकट किया है उनकी स्मृति, स्तुति और पूजा करके अपने स्वरूप की खबर करना चाहते हैं। यदि उस आदर्श से हमें अपने स्वरूप की खबर न हुई तो हमको कौनसा लाभ हुआ भगवान की पूजा से ? परम ऋषियों के विचार से हममें परम बल प्रकट होता है। अत: ऐसे ही कल्याण की भावना की जाती है। 'न:' से हम लोगों के लिये ऐसी जो बहुतों के कल्याण की भावना है उसमें व्यापकता है, सर्व कल्याण की भावना है और सबमें वही सदृश एक चेतन है, ऐसा ख्याल हो जाने पर केवल स्व का भी अनुभव हो जाता है।

अवधिज्ञान ऋद्धिधारी परमर्षिका स्वस्तिवाचन—आगे कहते हैं कि अवधिज्ञानी मुनि हमारे लिये कल्याणरूप हों। यहाँ अवधिज्ञानी से क्षायोपशमिक अवधिज्ञानी का मतलब है अथवा अवधिज्ञानी के साथ मुनि शब्द जोड़ने से ही क्षायोपशमिक अवधिज्ञान का ग्रहण हो गया, क्योंकि उनके भवप्रत्यय नहीं, क्षायोपशमिक गुणप्रत्यय ही अवधिज्ञान होता है। एक पुराण वार्ता है कि एक राजा के हाथ की अंगूठी स्नान करते समय तालाब में गिर गई, लेकिन राजा को इसकी खबर न पड़ी, पीछे जब ख्याल हुआ तब पुरोहित से पूछा। पुरोहित ने जंगल में जा मुनि से पूछा। उन्होंने उसका ठिकाना बता दिया। वह तालाब पर आया और मुनि के बताये अनुसार स्थान में अंगूठी खोजने लगा और वह मिल गई। अंगूठी राजा को सौंपी, वह मुनि से बहुत प्रभावित हुआ, अत:

उनके पास गया और ऐसा जानने की विद्या सिखाने का मुनि से आग्रह किया। मुनि ने कहा— यह विद्या तब आयेगी जब हम जैसे ही हो जाओगे। उसने मंजूर किया लेकिन स्त्री से सलाह लेने के लिये घर आया तो स्त्री इसके लिये मंजूर नहीं होती थी। उसने कहा कि केवल ६ माह के लिये मुनि होना पड़ेगा, पीछे विद्या सिद्ध होने पर घर आ जाऊंगा। स्त्री इस बात पर मंजूर हो गई। तब पुरोहितजी मुनि के पास आये और मुनि हो गये। गुरु ने उन्हें तत्त्वज्ञान देना आरम्भ किया। ज्ञान बढ़ाते-बढ़ाते और ध्यान लगाते-लगाते उनको स्वरूप का ज्ञान होकर, स्वरूप में इतनी स्थिरता बढ़ी कि अवधिज्ञान हो गया। अब उनको उस विद्या की चाह नहीं रही और वे घर लौटने की सुध भी भूल गये, सच्चे साधु हो गये। तो आदर्श आश्रय लेने से तत्सम होने की प्रेरणा प्राप्त होती है, तत्सम होने का सुयोग मिलता है। निमित्त का इतना स्थानापन्न महत्त्व है लेकिन निमित्त हठात् कुछ करा देता है ऐसा स्वप्न में भी न लाना होगा तो स्वयं अपने में से अपने ही द्वारा, लेकिन स्वरूप को प्राप्त कल्पना-पुरुषों से हमें अपने विकास की निमित्तता प्राप्त होती है। यदि हम अपना पुरुषार्थ करके स्वयं को पहचानने का यत्न करें तो वह लाभ मिल सकता है। बस शुद्ध चैतन्य को प्राप्त करने का एकमात्र ध्येय होना चाहिये, तभी शुभ उपयोग अपने स्थान में उपादेय बन सकता है।

श्लोक २

कोष्ठस्थधान्योपममेकबीजं संभिन्नसंश्रोतृपदानसारि।

चतुर्विधं बुद्धिबलदधानः स्वस्ति क्रियासुः परमर्षयो नः ।। २ ।।

चतुर्विध बुद्धिबल ऋद्धिधारी परमर्षियों का स्वस्तिवाचन—कोठे में रखे धान के समान, जो ज्ञान सुरक्षित रहता है ऐसा बुद्धिबल, १. बीज से जैसे वृक्ष तैयार होकर अनेक फल प्राप्त होते हैं उसी तरह बीजरूप एक बात से पदार्थ का बहुत ज्ञान होने वाला बुद्धिबल, २. एक ही समय में भिन्न-भिन्न तरह के अनेक व्यक्तियों के शब्दों को सुनकर सबका ज्ञान हो जानारूप बुद्धिबल ३. तथा एक पद को सुनकर आगे पीछे के प्रकरण का ज्ञान हो जानारूप बुद्धिबल ४. । इस प्रकार चार प्रकार के बुद्धिबल को धारण करने वाले परम ऋषि हमारे लिये कल्याणरूप हों। आत्मा में ज्ञान का अथाह सागर है, अथवा आत्मा ज्ञानमय है, लेकिन बाह्य पदार्थों में ज्ञान का व्यर्थ उपयोग करने से वह ज्ञान लुप्त-सा हो रहा है। बाह्यरूप उपयोग करने से वह ज्ञान पदार्थों के आश्रय से अल्पज्ञान का प्रकाश साधारण संसारी जनों के होता है, लेकिन जब यह बहिर्व्यापार मंद पड़कर अन्त:तत्त्व की ओर मुड़ता जाता है, तब ज्ञान का विकास अधिक होता जाता है और उसमें भी विशेषता यह होती है कि बाह्यपदार्थों का ज्ञान इन्द्रियों का अवलम्बन लिये बिना ही होता है। ऐसी बुद्धि की विलक्षणता को ऋद्धि कहा गया है। बुद्धि ऋद्धिधारी मुनीश्वरों का स्वस्तिगान करने से हमारी बुद्धि में भी निर्मलता, विशेषता और विशालता आती है, अपनी विशाल बुद्धि का भरोसा पैदा होता है, और उसके भी आगे ज्ञान का आधारभूत

आत्मत्व अनुभूत होता है। आत्मा की ऐसी चैतन्य अनुभूति ही आत्मा के लिये वस्तुत: कल्याणरूप है लेकिन उसके लिये बाह्य अवलंबन उस विकास को प्राप्त पुरुषों का ही उपयुक्त होता है। अत: विकल्प में ही निम्न दशा में बाह्य के अवलंबनपूर्वक स्व की अनुभूति का लक्ष्य दिखाया। ये ऋद्धियाँ चाह से उत्पन्न नहीं होती हैं। चाह तो ऋद्धियों की बाधक ही है। ऋद्धिस्मरण से तो पूजक चैतन्य के महत्त्व की ओर ही जा रहा है।

श्लोक ३

संस्पर्शनं संश्रवणं च दूरादास्वादन घ्राणविलोकनानि।

दिव्यन्मतिज्ञान बलाद्वहंतः स्वस्ति क्रियासु: परमर्षयो न:।। ३ ।।

दिव्यामतिज्ञानबल ऋद्धिधारी परमर्षियों का स्वस्तिवाचन—जो परम ऋषि स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण इन्द्रिय के द्वारा अस्पृष्ट बहुत दूरवर्ती पदार्थ का स्पर्शन, ज्ञान, स्वाद, गंध, चाक्षुषज्ञान और शब्दश्रवणज्ञान कर लेते हैं ऐसे दिव्य मतिज्ञानी ऋद्धिधारी मुनीश्वर हमारा कल्याण करें। चक्षु को छोड़ शेष ४ इंद्रियाँ पदार्थ से भिड़कर अथवा बिना भिड़े भी अपने विषय का ज्ञान करती हैं। यही कारण है कि वह ऋद्धिधारी मुनि दूरवर्ती पदार्थ का भी स्वाद, ज्ञान आदि कर लेते हैं। लेकिन हमारे इन्द्रियज्ञान से उनके ज्ञान में विशेषता यह है कि वे अतिदूरवर्ती पदार्थ का भी ज्ञान उस प्रकार की ऋद्धि के बल पर कर लेते हैं।

ज्ञानपरिणति के स्रोत के लक्ष्य में ज्ञानविकास का उद्भव—ऊपर जैसा कह आये हैं कि ज्ञान की विशेषता अचिंत्य है, उसकी डिग्रियाँ अनंत हैं। जिसकी जैसी निर्मलता होती है वैसा ही ज्ञान विकसित होता है तथापि ज्ञान, दर्शन और चारित्र अलग-अलग गुण हैं और उनको बताने वाले गुण भी अलग-अलग हैं। किन्तु एक गुण के प्रकट होने पर दूसरे में या एक गुण के निर्मल होने पर दूसरे में असर पड़ता है, क्योंकि सब गुणों का आधार तो वही एक आत्मा है। इस तरह आत्मद्रव्य, उसके अनंतगुण और अनंत उनकी परिणतियाँ; इनके यथार्थ ज्ञान से सम्यग्ज्ञान होता है। परिणतियाँ स्वद्रव्य से ही प्रगट होती हैं, अन्य से नहीं—बाह्य द्रव्य से नहीं। जिस चीज से परिणतियां प्रगट होती हैं वह ध्रुव और अचल है और जो परिणतियां होती हैं वे अध्रुव और चल हैं। जैसे:—एक अंगुली की अनेक दशाएं हैं । वह टेढ़ी है, मुड़ी है, सीधी हे आदि। तो ये अनेक दशाएं किसकी हैं ? एक अंगुली की। लेकिन उस एक अंगुली को कहा जाये तो एक दशा से कहा जायेगा। टेढ़ी अंगुली, सीधी अंगुली लेकिन द्रव्य एक पर्यायवान नहीं है अत: अंगुली का वास्तविक परिज्ञान शब्दों द्वारा करना असम्भव है। यहाँ अंगुली का मात्र दृष्टांत है। अत: सामान्य दृष्टि को मुख्य करके द्रव्य कहा जाता है, उसे पहचान लेने से

सम्यग्ज्ञान होता है, इसकी उपासना करने वाले साधु हैं जिनके ऋद्धियाँ प्रगट हो जाती हैं। ये ऋद्धियाँ तो बीच की चीज हैं, मनुष्य लोक की चीज हैं, आत्मसाधना का फल तो परमार्थ प्राप्त होना है।

निर्विकल्प दृष्टि पाने के पौरुष में मनुष्य जीवन की सफलता—मनुष्य जीवन की सफलता इसी में है कि विषयकषायों को छोड़ परमार्थ को प्राप्त किया जाये। विषय-कषाय तो तिर्यञ्च भी करते हैं, और हमने भी किये हैं। लेकिन मनुष्य भव की सार्थकता विषयसेवन आदि से नहीं है। यह तो भाड़ झोंकने के समान हुआ । जैसे कोई देहाती आदमी कमाई के लिये दिल्ली जैसे शहर में गया लेकिन वहाँ कोई बड़ा व्यापार न कर भाड़ झोंकने का काम करता रहा। जब अपने घर वापिस लौटा तो लोगों ने पूछा कि कहाँ गये थे ? वह बोला— दिल्ली। वहाँ क्या किया ? तो बोला— भाड़ झोंका। तब लोगों ने कहा कि भाड़ ही झोंकना था तो अपने गाँव को क्यों छोड़ा ? उसे तो यहाँ भी कर सकते थे ? इसी तरह कहा जाता है कि यदि विषयकषाय में ही जीवन बिताते रहे तो मनुष्य पाने की क्या सार्थकता हुई, वह तो तिर्यञ्च आदि पर्यायों में भी कर सकते थे। कल्पना करो कि लौकिक पद में ऊँचे से ऊँचा पद पा लिया तो उससे आत्मा का क्या हित सधा ? हित तो एक निर्विकल्प दृष्टि में है।

स्वोपयुक्त होने के लिये आवश्यक पौरुष की चर्चा—अपनी ओर दृष्टि आवे, इसके लिये मोटी बात यह तो आना ही चाहिये कि यह मैं सदा से हूँ और सदा रहूँगा, मिटता नहीं हूँ, पहले था, अब हूँ और आगे रहूँगा, ऐसा तो मैं हूँ। परन्तु पहले और अब जो संयोगी अवस्था है वह मैं नहीं हूँ। शरीर आदि के संयोग सर्वथा पर हैं। जब इतना जान लेवे तो फिर आगे बढ़े कि संयोग मेरे अधीन नहीं हैं। मनपसंद सारे संयोग मिल भी जायें तो वे हमेशा रहने वाले नहीं हैं, नियम से उनका वियोग हो जाने वाला है और जब तक संयोग है तब तक भी उनसे मुझमें कुछ आने वाला नहीं है। अत: पर मेरे सुख के साधक नहीं हैं। संयोग और वियोग दोनों में पर दु:ख के निमित्त कारण हैं। फिर आगे बढ़ विचारें कि ये समस्त पदार्थ अपने चतुष्टय में परिणमन कर पाते हैं और हम अपने परिणमन में हैं। इससे भी आगे वस्तु की स्वतंत्र सत्ता का भान हो, बोलना और लिखना आदि व्यापार रुककर अभेद स्व की अनुभूति में पहुँचे, उस स्व की अनुभूति के पहले कर्मों से और कर्मोदय के निमित्त से होने वाले रागादि भावों से भिन्न आत्मा अनुभव में आना चाहिये। तब फिर इन सबका भी विकल्प हटकर केवल स्व की अनुभूति होने लगती है। वह अनुभूति द्वारा ही गम्य है। शब्दों द्वारा कुछ वर्णन किया जा सकता है, शब्दों से वस्तुतत्त्व का अवलोकन नहीं कराया जा सकता। उस अनुभव में अनादि, अनंत, अहेतुक, एक ब्रह्मरूप का ही भान होने लगता है। ऐसा अनुभव जब होता है, जब उपरोक्त शैली से ही होता है। ऐसे निर्मल उपयोग में विचरने वाले ऋषीश्वर होते हैं, जिनके कारण उन्हें अनेक ऋद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं और निकट भविष्य में उन्हें वह स्वरूप अवस्था सदा के लिये भी प्राप्त हो जाती है। तब अरहंत और सिद्ध दशा प्राप्त हो जाती है। ऐसे ऋषीश्वर हमारे लिये कल्याणरूप हों। यद्यपि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं करता लेकिन

व्यवहार दशा में श्रद्धा निश्चय की रहते हुए भी ऐसा कहते हैं। श्रद्धा यदि यथार्थ है तो व्यवहार की ये प्रवृत्तियाँ पहली भूमिका में हेय नहीं है, व्यवहार की दृष्टि से उपादेय भी हैं।

वस्तुस्वातन्त्र्य की मीमांसा—प्रश्न:—एक पदार्थ का दूसरे पर असर होता है या नहीं? उत्तर:—नहीं होता, त्रिकाल में कभी भी नहीं होता। लेकिन असर होने में कहो या परिणमन होने में, उपादान के साथ जिन पदार्थों का अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध है वे निमित्त कहलाते हैं, वे निमित्त उपादान में असर नहीं करते। असर तो उपादान का स्वयं अपने से ही है। हाँ, वह असर निमित्त की उस स्थिति में हुआ, सो कोई भी कार्य जब होगा तब वहाँ कोई न कोई निमित्त उपस्थित होगा ही। लेकिन निमित्त की इस उपस्थिति से उपादान में पराधीनता न आयेगी कि उसके निमित्त से उपादान में यह असर हो गया या यह परिणमन हो गया। हाँ, यह बात अवश्य है कि नैमित्तिक अर्थात् औपाधिक भाव किसी अन्य द्रव्य उपाधि का निमित्त पाकर ही होता है, परन्तु प्रतीक्षा की रंच भी बात नहीं है । असर, कार्य, परिणति और पर्याय—ये सब समान अर्थवाची शब्द हैं। अब असर के सम्बन्धों में विचार करें। द्रव्य, गुण और पर्याय से पृथक् किसी का अस्तित्त्व नहीं कहा जा सकता। तो असर जिसे हम कहते हैं वह कोई स्वतंत्र द्रव्य नहीं है, किसी द्रव्य का गुण भी नहीं है। तब वह पर्याय ही हो सकता है।

एक उदाहरण द्वारा वस्तुस्वातन्त्र्य की चर्चा—कागज को अंगुलियों से फाड़ा तो यह असर किसका है ? क्या अंगुलियों का ? नहीं, कागज फटने का कार्य अंगुलियों में नहीं, कागज में हुआ है, हाँ, अंगुलियों का निमित्त है। निमित्त पाकर ही उपादान अपना विपरीत असर कर पाया है। इसमें उपादान के पराधीनता की बात नहीं आती। उपादान की योग्यता ऐसे ही है कि उस तरह के परिणमन में उस तरह का निमित्त उसे होता ही है। कागज की बात छोड़ों जब हम अंगुलियों के कार्य को जो कि कागज के फाड़ने के लिये हुआ है निश्चय से तो वह क्रिया भी कागज के लिये नहीं, स्वयं की स्वयं के लिये है, विचारेंगे तो वह अपने उपादान से हुआ है उसमें उसका ही असर है। यहाँ तक कि प्रत्येक अंगुली और प्रत्येक अंगुली में अनन्त परमाणुओं के परिणमन में कागज निमित्त है, उपस्थिति मात्र है, जबकि कागज के असर में अंगुलियाँ उपस्थितिरूप निमित्त थी तो उसी समय अंगुलियों के उपादान के परिणमन में कागज भी निमित्तरूप है। दोनों स्वतन्त्र हैं, एक के लिये दूसरा उस कार्य के क्षण में उपस्थित होने से निमित्त कहलाता है, पराधीनता किसी में नहीं आती।

नोकर्म के आश्रय से होने वाले कार्य भी वस्तुस्वातन्त्र्य का निर्णय—इसी कागज के फाड़ने के काल में आत्मा पर जो असर हुआ उस प्रकार की क्रिया करने के विकल्परूप वह भी उसका ही परिणमन है और जिस कर्म के उदय से वह इच्छा हुई है वह उदयरूप कार्य उन कर्मरूप पुद्गलों का है। इस तरह एक ही काल में जिस-जिस द्रव्य का जो-जो परिणमन है वह उस-उस स्वयं का है। उस काल में जिस-जिसकी उपस्थिति से जिस-जिस कार्य में निमित्तनैमित्तिक संबंधरूप सहायता प्राप्त हुई है उसे उस-उसका निमित्त कहते हैं। अत: यह

धारणा मिथ्या है कि अमुक पदार्थ ने अमुक पर प्रभाव डाल दिया। व्यवहार में ऐसा कहने में आवे भी, लेकिन श्रद्धा तो उपरोक्त प्रकार ही होनी चाहिये। हमारे कहने का आप पर असर हुआ और आपको पदार्थ बोध हो गया। ऐसी श्रद्धा यथार्थ नहीं है। आपके ज्ञान का विकास आपमें से ही हुआ है। हमारे शब्दों की उपस्थिति का संयोग का निमित्त पाकर हुआ, यह ठीक है। अत: हमारे शब्दों की निमित्तता कहलायेगी परन्तु असर किसी का किसी में आता नहीं है। वस्तुत: ये शब्द भी हमारी परिणति नहीं।

यदि ऐसा न हो तो रागद्वेष आदि भाव आत्मा के न रह कर्म के हो जावेंगे। जब कि कहा जायेगा कि ये कर्म के असर से हुआ अथवा जीव के स्वभाव बन बैठेंगे। कहा भी है:—

रागद्वेषोत्पादकं तत्त्वदृष्ट्वा नान्यद्द्रव्यं वीक्ष्यते किंचनापि।

सर्वद्रव्योत्पत्तिरंतश्चकास्ति व्यक्तात्यन्तं स्वभावेन यस्मात्।।१९।।

निमित्तनैमित्तिक भाव होने पर भी वस्तुस्वातन्त्र्य का वर्णन—ये विभाव आत्मा में विकार हैं सो स्वाश्रित है और पर-उपाधि को निमित्त किये बिना नहीं होते, अत: पराश्रित हैं। इस प्रकार वे कथंचित् स्वाश्रित भाव और कथंचित् पराश्रित भाव कहे जाते हैं। लेकिन एक द्रव्य का दूसरा कर्ता कभी भी किसी भी प्रकार से न होगा। एक द्रव्य द्वारा अन्य द्रव्य के कर्तृत्व की पुष्टि जिन शब्दों से हो, जिन संकेतों से हो वह सब कथन यथार्थ नहीं हैं। बात तो यथार्थ यह है कि उपादान में जिस तरह से परिणमन की योग्यता जिस निमित्त से है वही परिणमन होगा, दूसरा कैसे हो जायेगा ? चाहे दिखाने वालों को वह व्यवस्थित मालूम दे या अव्यवस्थित ऊटपटांग, कर्मपर्याय में फर्क नहीं पड़ सकता। क्रमभावी पर्याय किसी निमित्तभूत अन्य द्रव्य के आश्रित नहीं है। उपादान की स्वतन्त्रता से है वह। हाँ, विभाव वह उपाधि को निमित्त करके ही हुआ। केवली भगवान ने ऐसा देखा है, इसलिये इस पदार्थ की वैसी परिणति हो जाती है, यह बात भी नहीं है। ज्ञान का परिणमन अपने में अपने से है। उसके परिणमन से पर में क्रिया हुई, परिणमन हुआ, ऐसा मानना तो मोटा मिथ्यात्व हुआ। संसारी अनन्त जीवों का, मुक्त अनन्त जीवों का, प्रत्येक अनंत पुद्गल परमाणुओं का तथा धर्म अधर्म द्रव्य का, प्रत्येक कालाणु का परिणमन स्वतंत्र हो रहा है, होता आया है और होता रहेगा और वह परिणमन प्रति समयवर्ती हो रहा है। प्रत्येक द्रव्य में जो अनन्तगुण हैं उनके परिणमन भी स्वतन्त्र हैं। एक गुण का परिणमन त्रिकाल में भी रसगंधादिरूप न होगा। इसी तरह अन्य द्रव्यों के अन्य गुणों में भी जानना चाहिये।

अन्तरोन्मुख होकर सहज आनन्द पाने के पौरुष कर्तव्य—उपसंहृत बात यह है कि अनादि काल से इस जीव ने जो मोटी भूल की है वह यह है कि निमित्त को प्रधान करता आया, संयोग पर दृष्टि रखी, संयोगी

अवस्था को द्रव्य का स्वरूप माना, तब अपने द्रव्य से अनभिज्ञ रहा या कहो अपने को भूला रहा। यह भूल सबसे बड़ी भूल है जिससे अब तक धर्म का अंकुर नहीं उग सका क्योंकि धर्म तो आत्मस्वभाव का आश्रय करने से होता है। बाह्य शारीरिक क्रियाओं में धर्म का अनुमान गलत होता है। तो जब तक यथार्थ आत्मद्रव्य गुण और पर्याय का बोध न हो, ऐसा बोध जो यथार्थ श्रद्धा से पूर्ण हो तब तक मोक्ष दूर ही रहता है। अत: जो मोक्ष के इच्छुक हैं, संसार से भयभीत हैं, आकुलता को खतम करना चाहते हैं वे आत्मस्वरूप को समझें, उनके गुणों और पर्यायों को देखें और फिर पर्यायों के स्रोत गुण में पर्याय को लीन करके और गुण के अभिन्न आश्रय द्रव्य में गुणों को लीन करके सत्यरूप में ही लीन रहने का लक्ष्य बनाकर पुरुषार्थ करते चलें तो ऐसा सत्पुरुषार्थी नियम से अपने लक्ष्य को पा लेगा। उसकी आकुलताएं सर्वथा नष्ट हो जायेंगा। उसकी संसारी पर्याय खतम होकर मोक्षपर्याय प्रगट होगी, वह ध्रुव सत्य है । हम सबको ऐसा ही पुरुषार्थ करना चाहिये। इस अन्तरोन्मुख चित्प्रतिभास के मात्र योगी को ये ऋद्धियाँ मार्ग में सरलतया प्राप्त होती हैं।

श्लोक ४

प्रज्ञाप्रधाना: श्रमणा: समृद्धा: प्रत्येकबुद्धा दशसर्वपूर्वै:।

प्रवादिनोष्टांगनिमित्तविज्ञा: स्वस्तिक्रियासु: परमर्षयो न: ।। ४ ।।

प्रज्ञाश्रमणादि ऋद्धिधारी परमर्षियों का स्वस्तिवाचन—अभी यह बुद्धि ऋद्धियों का वर्णन चल रहा है । प्रज्ञाश्रमण प्रत्येक-बुद्ध दशपूर्वित्व, सर्वपूर्वित्व, प्रवादित्व, अष्टांग निमित्त विज्ञत्व— इन ऋद्धियों के धारक परमर्षि हमारा कल्याण करें। यहाँ पूजक की श्रद्धा तो ऐसी यथार्थ ही है कि प्रत्येक द्रव्य का परिणमन स्वसामान्य से ही विनिर्गत होता है। ऋद्धीश्वर महात्मा अपना ही परिणमन करते हैं, कल्याण करते हैं और उनके स्मरणरूप जो निज का ध्यान परिणमन है वह मुझ निज का कल्याण करता है तथापि जिनको ज्ञान का विषय बनाकर हम यह प्रसाद पा रहे हैं उनके प्रति बहुमान है, उसमें इस ही प्रकार विनय चल रहा है और आनन्द की घोषणा हो रही है, परमर्षिदेव कल्याण करें।

श्लोक ५

जंघावलिश्रेणिफलाम्बुतन्तुप्रसूनबीजांकुरचारणाह्वा:।

नभोऽङ्गणस्वैरविहारिणश्च स्वस्ति क्रियासु: परमर्षयो न: ।। ५ ।।

जंघावलिश्रेणिफलाम्बुतन्तुचारण ऋद्धिधारी परमर्षियों का स्वस्तिवाचन—निज चैतन्य के अतुल लक्ष्यप्रसाद से जिन मुनिराजों को ऐसी शक्ति प्रकट हुई कि चार अंगुल पृथ्वी को छोड़कर आकाश में घुटने को मोड़े बिना केवल हिलाकर ही जो बहुत योजनों तक गमन करते हैं वे जंघाचारण ऋद्धि वाले योगीश्वर हम सबका कल्याण करें। आवलिश्रेणि ऋद्धि के ईश्वर योगिराज आकाश की श्रेणियों में सीधे गमन करते चले जाते हैं, अगल-बगल कहीं नहीं डुलते, ऐसी ऋद्धि के धारी हमारा कल्याण करें। यहाँ सर्वत्र यह दृष्टि न भूलना चाहिये कि यहाँ ऋद्धि जिसके ध्यान से होती है वह धर्म है, उस चैतन्य प्रभु की दृष्टि धर्म है, वही आराध्य है। फलचारण ऋद्धि के धारी योगीश्वर ये हैं जो छोटे-छोटे फलों के ऊपर गमन करते चले जाते हैं परन्तु फलों को व अन्य जन्तुओं को किञ्चित् भी बाधा नहीं होती है। जलचारण ऋद्धि ज्ञानजल में अवगाहन करने वाले योगीश्वरों के प्रकट होती है, जिससे समुद्र पर भी बहुत बीचों तक बिना खेद के थल की भांति चले जाते हैं और जल-जन्तुओं को किञ्चित् भी बाधा नहीं होती है। तन्तुचारणऋद्धिधारी ऋषीश्वर मृणालतन्तु जैसे सूक्ष्म तन्तुओं पर विहार करें और वह टूटे भी नहीं। ऐसे चारण ऋद्धीश्वर हमारा कल्याण करें।

प्रसूनबीजांकुरनभश्चारण ऋद्धिधारी परमर्षियों का स्वस्तिवाचन—प्रसून चारण-ऋद्धि—निज चैतन्य भाव के दृढ़ लक्ष्य के बल से उत्पन्न हुए मुनीश्वरों के परिणामों से ऐसी शक्ति प्रकट होती है कि वे योगीश्वर जिन्हें प्रसूनचारण ऋद्धि प्रकट हो गई, फूलों पर भी विहार करते जाएं तो भी फूलों को व फूलों पर रहने वाले किसी जन्तु को कोई बाधा नहीं होती। ऐसे प्रसूनचारण ऋद्धि के ईश्वर परमर्षि हमारा कल्याण करें। बीजचारणेश्वर—बीजों पर विहार करते चले जाएं तो भी बीजों को या जन्तुओं को लेश भी बाधा नहीं होती। ऐसे बीज चारणऋद्धि वाले परमर्षि हमारा कल्याण करें अर्थात् वे गुण हमारे सदा ध्यान में बने रहें। अंकुरचारण ऋद्धि वाले योगीश्वर अंकुरों पर भी विहार करते जावें तो अंकुरों को ज़रा भी बाधा नहीं होती, ऐसे परमर्षि हमारा कल्याण करें। नभश्चारन ऋद्धि वाले योगीश्वर आकाश में पद्मासन अथवा खड्गासन या किसी भी प्रकार अवस्थित होते हुए भी आकाशमार्ग से चले जाते हैं ऐसे परमर्षि हमारा कल्याण करें। ये ऋद्धियाँ आत्मभावना के दृढ़ प्रयत्न बिना प्रकट नहीं होती हैं। इन बलों से यह मन में पूर्ण श्रद्धा होती है कि अहो ! इन योगीश्वरों ने बहुत ही निश्चल आत्मोपयोग बनाया। ये साधुसंत हमारे मंगल हों।

ज्ञानियों के स्वावलम्बन का लक्ष्य—पूजक किन भावों से पूजा करता है, वह प्रस्तावना में दिया गया है। यद्यपि वह बाह्य अनेक वस्तुओं के निकट है तथापि उसकी दृष्टि पूजन की द्रव्य, जिनप्रतिमा और शुभोपयोग में भी न रह शुद्ध चैतन्य भावों के अवलम्बन की होती है। साधुओं की भी यही शैली होती है। वे भी अपने व्रत तप आदि का यही लक्ष्य रखते हैं, क्योंकि उनको सर्वदा कल्पनागत पर का यों अनुभव होता रहता है कि मेरे से अन्य सब पदार्थ मुझसे भिन्न हैं। यही नहीं, इस कल्पना से भी आगे स्व की अनुभूति हुआ करती है, वह अनुभूति स्व के लक्ष्य बिना नहीं हो सकती। श्रावक हो या साधु उसको अपने सिवा सब अशरणरूप प्रतिभासित

होते हैं। व्यवहार-दृष्टि में कदाचित् पंचपरमेष्ठी को शरण मानता है, तब उनके स्वरूप को विचारता हुआ भी स्व के स्वरूप में ही आ जाता है, क्योंकि परमेष्ठियों की जो शुद्ध आत्मा है उनका अनुभव करने से स्व की शुद्धता प्रगट हुए बिना नहीं रहती। मतलब यह है कि स्वाश्रय के लक्ष्यपूर्वक उसमें ही स्थित रहने के सिवा धर्म का कोई काम है ही नहीं करने का। और दूसरे सब शुभोपयोग के काम इसी के लिये होते हैं। ऐसे शुभोपयोगों में राग कुछ कम होने पर सावधानी जगती है।

अन्तःविराजमान प्रभु की प्रसन्नता हेतु प्रभुभक्ति—हमारे खुद का भगवान रूठ गया है और वह खुद की करतूतों से ही रूठा है। 'एकोऽहं बहु स्याम्' की मान्यता के अनुसार पर्याय की अनेक कल्पनाओं को करता हुआ अपने संसार की सृष्टि करता है; मैं मनुष्य हूँ, पशु हूँ, दीन हूँ, दरिद्र हूं, बलवान हूँ, धनवान हूँ आदि पर्यायाश्रित मान्यताओं से अपने भगवान को भूला रहता है। उस निज भगवान को प्रसन्न करने के लिये पूजक अपनी एक स्वभाव की दृष्टि बनाये हुए पंचपरमेष्ठी का शरण लेते हुआ पूजा करता है । कभी देखा होगा कि पिता में अधिक श्रद्धा होने पर पुत्र उनकी फोटो का विशेष आदर करता है। यदि प्रेम विशेष न हो तो उस व्यक्ति के चित्र को भी विशेष आदर नहीं देता। इसी तरह भगवान में श्रद्धा रखने वाले भक्त का उनकी मूर्ति में भी विशेष आदर होता है। फिर भी वह मूर्ति और मूर्तिमान के अन्तर को नहीं भूलता। ऐसी तैयारी करके खड़ा हुआ वह पुजारी चौंसठ ऋद्धिधारी साधुओं का स्वस्ति वाचन पढ़ रहा हैं।

श्लोक ६

अणिम्निदक्षाः कुशलाः महिम्नि लघिम्निशक्ताः कृतिनोगरिम्णि।

मनो वपूर्वाग्वलिनश्च नित्यं स्वस्ति क्रियासुः परमर्षयो नः ।। ६ ।।

अणिमा ऋद्धिधारी परमर्षियों का स्वस्तिवाद—साधु; संसार की समस्त वांछनाओं से रहित एक स्वभाव की दृष्टि और अनुभूति में अचल रहने वाले होते हैं, जिससे उनकी आत्मा में ऋद्धियाँ प्रगट होती रहती हैं, उन्हीं का यहाँ वर्णन है। ऋद्धियों में से कितनी ही ऋद्धियों का असर आत्मगुणों के परिणमन में है और कितनी ही ऋद्धियों का असर आत्मसम्मुखी अन्य द्रव्यों में होता है। अणिमाऋद्धि—इस ऋद्धि से इतना छोटा शरीर बना सकते हैं कि वह मृणाल के छिद्र में से निकाला जा सकता है। ऐसे ऋद्धिधारी साधु हमारा कल्याण करें। उनसे कल्याण कहने का उपचार हैं । उनका आश्रय मात्र लेता हुआ यह पूजक अपने ही द्वारा अपने ही भावों से शुभ कल्याण करें लेकिन परमेष्ठीरूप स्वाश्रय ग्रहण करने से ऐसा भाव भगवान के प्रति भक्तों का होता है।

ज्ञानपरमर्षियों की भक्ति में परमर्षिव्यवहार—पहिले बता आये हैं कि पदार्थ के विज्ञान में हर जगह तीन बातें होती हैं—१-शब्द, २-अर्थ, ३-ज्ञान। मुनि में भी ये ३ बातें लगाना। तब मुनि के ३ भेद होंगे—१-शब्दमुनि २-अर्थमुनि और ३-ज्ञानमुनि । मुनि शब्द के कहने से जो 'मुनि' शब्द ज्ञात हुआ वह शब्दमुनि है। शब्द के द्वारा मुनिरूप जो वाच्यार्थ है उसे अर्थमुनि कहते हैं। अर्थमुनि का स्वरूप इस तरह से बतलाया है—

विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः।

ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते ।।

जो भूत, भविष्यत और वर्तमानकालिक विषय वासनाओं, आशाओं से निवृत्त हो चुका है, इसीलिये जिसके आरम्भ और परिग्रह नहीं हैं तथा जो ज्ञान, ध्यान और तप में लवलीन रहते हैं वे मुनि अर्थमुनि हैं। उनके लगने का सबसे बड़ा महत्त्वपूर्ण पहला काम है ज्ञान, अर्थात् शुद्ध यदि ज्ञायकस्वभाव में स्थिर न रह सकें, उस अवस्था को प्राप्त न हों तो केवल पदार्थों के ज्ञाता रहें । यदि यह भी अवस्था न हो सके तो धर्मध्यान करना और उसमें भी स्थिरता न हो तो तपों में लगना। ये ही काम मुनि के होते हैं। ऐसे ही मुनि कहलाते हैं। यह अर्थमुनि का भेद है और ऐसे मुनि का हमारे हृदय में जो ज्ञान लेता है वह ज्ञानमुनि है। हमको अर्थमुनि का ज्ञान होने से हम ज्ञानमुनि हैं। मुनि शब्द हम जो सुनते हैं वह शब्दमुनि है और ज्ञानमुनि तो हममें ही है और अर्थमुनि मुनीश्वर है तो उनका ध्यान करते-करते जो उपयोग में मुनि हो जाते हैं उनमें निमित्तभूत अर्थमुनि हैं। यहाँ निर्मल भाव का प्रधान कारण ज्ञानमुनि है। गृहस्थी में भी ज्ञानसाधु होकर अपना कल्याण कर सकते हैं। तो ज्ञानसाधु बनने के लिये अर्थसाधु की आश्रयमात्र आवश्यकता है। निश्चयतः हमारा जो परिणाम है वह हमारे लिये कल्याणकारक होता है।

महिमा ऋद्धिधारी परमर्षियों का स्वस्तिवाद—महिमाऋद्धि से शरीर विशालकाय बन जाता है। इस ऋद्धि का कार्य इच्छामात्र से और प्रदेशों की चंचलता से होता है। अपने मन में जैसे हाथ-पैर चलाने आदि की इच्छा होती है तब उन अंगोंपाङ्गों में हलन-चलन होकर वह क्रिया होती है, उसी तरह ऋद्धिधारी यति इच्छामात्र से शरीर को विशाल बना लेते हैं। परन्तु ऋद्धि की योग्यता इच्छा से नहीं होती। इच्छायें तो ऋद्धि की बाधिकायें हैं। धवलशास्त्र में ६४ ऋद्धियों के ६४ सूत्र आये हैं। इन ऋद्धियों का वर्णन सुनते समझते यह ख्याल जाता है कि ये ऋद्धियां कैसे पैदा हो जाती हैं ? तो इसके लिये एक ही कला की जरूरत है, वह कला है 'स्वानुभूति' की। जिसका भवितव्य उत्तम है उसकी तो बस यही कला प्रधानतया है। एक रंगरेज को आसमानी रंग रँगना अच्छा आता था और उस रंग को वह दिल से पसंद भी करता था। उसके घर जो व्यक्ति कपड़ा रंगाने को आते और वे हरा पीला गुलाबी आदि रंग करने को कहते, तब रंगरेज सबको हाँ कहकर पीछे यह जरूर कहता

कि रंग तो आसमानी अच्छा होता है और वही ठीक रहेगा। तो जिनको जो अच्छा लगता है, उनकी रुचि उसी में होती है।

स्वानुभवरुचिक संतों के ऋद्धियों का समागम—सम्यग्दृष्टियों की रुचि एक ही है 'स्वानुभूति' की। उनका लक्ष्य और कार्य तो स्व-उपयोग का ही होता है और सब अवलंबन तो छोड़ देने के लिये होते हैं। जैसे ऊपर छत पर पहुंचने के लिये एक-एक सीढ़ी ऊपर चढ़ते हैं लेकिन जिस सीढ़ी पर चढ़ते हैं उसको छोड़ते जाते हैं। सीढ़ी का अवलंबन मानो छोड़ने के लिये ही होता है, नहीं तो छत पर नहीं पहुंचा जा सकता, लेकिन कोई सोचे कि सीढ़ी को जब छोड़ना ही पड़ता है तो उसे ग्रहण की क्यों किया जाये? तो ऐसे विचार से वह छत पर ही न पहुंच सकेगा। उसका अवलंबन लेते हुए भी उसके छोड़ने का भाव रखे, लक्ष्य ऊपर पहुंचने का रखे तो नीचे की सीढ़ी छूटती जायेगी और इष्टस्थान प्राप्त हो जायेगा। जो जीव अनादि काल से परावलंबन में लगे होते है उन्हें स्वरूप की प्राप्ति का लक्ष्य बनाकर शुभोपयोग में आना ही पड़ता है। ऐसी ही इसकी शैली है। ऐसी परिणति बनाने वालों की ऐसी ऋद्धि प्रगट होती है।

लघिमा व गरिमा ऋद्धिधारी परमर्षियों का स्वस्तिवाचन—लघिमाऋद्धि से शरीर हल्का, रुई से भी हल्के वज़न का बन सकता है। आजकल भी ऐसे लौकिक कलाकार है कि धोती को चारों कोनों में चार आदमी अधर पकड़ लेते हैं, और कलाकार उसके ऊपर जमीन जैसा चलता है, शरीर को इतना हल्का बना लेता है। तो फिर अलौकिक आत्मादि शक्तियों के बारे में तो कहा ही क्या जाये? किसी के चलने में पैरों से धम-धम की आवाज आती, किसी के चलने में नहीं आती। किसी के चलने में कीड़ी आदि पैर के नीचे आ जाने पर उसका बचाव हो जाता है जबकि किसी के चलने में पैर के नीचे कीड़ी जन्तु आने पर प्राय: मर ही जाते हैं। इसमें सदयभाव और निर्दयभाव का भी बहुत कुछ कारण होता है। जो साधु जीवों की हिंसा बचाने में आत्मसावधान और निर्मलचित्त रहते हैं उनके ऐसी ऋद्धि प्रकट होती है कि पत्र, पुष्प और जल आदि पर गमन करते हुए भी उनकी विराधना नहीं होती। लघिमाऋद्धि के बाद गरिमाऋद्धि बतलाई है जिससे शरीर को बहुत भारी बनाया जा सकता है। जन्मकाल से ही हराया गया प्रद्युम्नकुमार युवा होकर और विद्याओं को प्राप्त कर जब द्वारका में आया तो विद्याओं के बल से ऋद्धियों से प्रगट होने वाले जैसे अद्भुत कार्य दिखाये थे, उनमें एक कार्य यह भी था कि अपने शरीर को ऐसा भारी शरीर बनाकर सत्यभामा के द्वार पर पड़ रहा कि बड़े-बड़े सामन्तों से भी टस से मस न हुआ। वह तो विद्याबल का काम था। यह ऋद्धि का प्रकाश है।

मनोबली, वचनवली व कायबली ऋद्धिधारी ऋषियों का स्वस्तिवाचन—मनोबल ऋद्धि से अंतर्मुहूर्त में सम्पूर्ण द्वादशांग पाठ चिंतवन किया जा सकता है और वचनबल ऋद्धि से अंतर्मुहूर्त में सम्पूर्ण द्वादशांग का पाठ कर सकते हैं। कायबल ऋद्धि से अनेक उपवास आदि होने पर भी कांति, आवश्यक कार्य आदि शरीर की विशेष चमत्कारिक बातें होती जा सकती हैं। कोई अन्तर नहीं होता। विषयकषायों से मन को हटाकर दृष्टि जब ध्रुव

चैतन्य में लगाई जाती है जो कि सारभूत है तब आत्मा में अद्भूत शक्तियों का प्रादुर्भाव हो जाता है जिन्हें ऋद्धियां कहते हैं। किन्हीं-किन्हीं तपस्वियों की साधना इतनी गम्भीर होती है कि ऋद्धि प्राप्त होने पर भी उनको यह मालूम भी नहीं पड़ पाता कि मुझे ऋद्धि प्रगट हुई है क्योंकि ध्यान आत्मसाधना में लगा रहता है। अन्य सबसे उपेक्षित भाव रहता है। जिसने हलुआ का स्वाद लिया है उसे उसका वर्णन सुनते हुए बातें सरलता से गले उतरती जाती हैं, लेकिन जिन्होंने उसका स्वाद नहीं लिया है, वे उसका वर्णन सुनते हुए कहने वाले की मुंह के तरफ देखते रहते हैं, भीतर उस बात को गले उतारने की चेष्टा करते हुए। इसी तरह जिन्होंने अपने स्वरूप को देखा है ऐसे ज्ञानी जीवों को चैतन्यस्वभाव और चैतन्यशक्ति शीघ्रता से व्यक्त हो जाती है, जबकि अज्ञानी जीवों की चिरकाल के परिश्रम से भी व्यक्त नहीं हो पाती। तो आपमें (आत्मा) सारभूत चीज क्या है ? रागादि पर्यायें ? नहीं । अनादि अनन्त अहेतुक ध्रुव स्वभावरूप द्रव्य सारभूत और दृष्टि द्वारा उपादेय है। वह सारभूत तत्त्व सम्यग्ज्ञान द्वारा ही गम्य है उसकी सत्ता तो हमेशा है, लेकिन शुद्धदृष्टि बिन अव्यक्त ही रहता है। दृष्टि की शुद्धता आने पर वह प्राप्त हुए बिना नहीं रहता और अनेक ऋद्धियां भी प्रगट होती जाती हैं, जो कि साधक के लिये गौण होती हैं, उपेक्षणीय होती हैं। यदि उनमें चित्त लुभा जावे तो पूर्ण शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करने में रुकावट पड़ती है।

श्लोक ७

सकामरूपित्ववशित्वमैश्यं प्राकाम्यमन्तर्द्धिमथाप्तिमाप्ता:।

तथाप्रतीघातगुणप्रधाना: स्वस्तिक्रियासु: परमर्षयो न:।।७।।

निरीहता में ही इच्छानुसार रूप बना लेने की ऋद्धियों की प्राप्ति—इच्छानुसार रूप बना लेने की एक जो ऋद्धि है वह निरीहता से प्राप्त होती है। इच्छाओं का जहां अभाव हो जाता है, वहां ऋद्धियां प्रकट हो जाती हैं। लेकिन ऋषीश्वर उन ऋद्धियों की भी इच्छा नहीं करते। वे योगीन्द्र आत्मा और जड़ शरीर के भेद को स्पष्ट जानते रहते हैं । यों तो अविरति भी जड़ और चेतन को भेदरूप अनुभव करता है, लेकिन वह विषयों का त्यागी न होने से आत्मक्रिया में असावधान रहता है, जबकि योगी आत्मा की क्रिया में पूर्ण दत्तचित्त रहते हैं। यद्यपि साधु अवस्था में भी अन्तर्मुहूर्त से अधिक समय तक आत्मा अपने में उपयुक्त नहीं रह पाती तथापि उनका आत्मपुरुषार्थ इतना प्रबल होता है कि प्रमत्त अवस्था भी अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं हो पाती और आत्मा अपने में आ जाती है। ऐसे योगीन्द्रों में भी जिनके विशेष निर्मलता होती है उनके ही ऋद्धियों का प्रादुर्भाव होता है। लोक-व्यवहार में भी ऐसा देखा जाता है कि घर का जो व्यक्ति निरीह हो जाता है वह उतना ही आदरणीय बन

जाता है। दु:ख का कारण इच्छाएं ही हैं अथवा इच्छाएं स्वयं दु:खरूप हैं। दु:ख का लक्षण आकुलता दिया है और आकुलता इच्छा का ही रूप है, अत: दु:ख-निवृत्ति के लिये इच्छाओं का निरोध करना पड़ेगा। इच्छाओं से होने वाले दु:ख उनके अभाव होने पर ही मिटेंगे और इच्छाओं का अभाव वस्तुस्वरूप के परिज्ञान से होता है। तब दु:ख-निवृत्ति के लिये मूल बात यह है कि वस्तु के सत्यरूप को देखा जाये, अनुभव में लाया जायें, जड़ को जड़ समझा जाये, चेतन को चेतन समझा जाये। जड़ परमाणुओं के स्कन्धों से जो यह शरीर बना है उसे परमाणुओं के रूप में ही ज्ञान में अनुभव किया जाये। संयोगी अवस्था में उस महत्त्व को परखा जाये जो कभी नष्ट नहीं होता, असंयोगी और संयोगी दोनों हालतों में अपने रूप को नहीं छोड़ता। यह अनुभव तब होगा जब संयोगी दृष्टि हटकर असंयोगी एकत्वरूप होगी। संयोगी दृष्टि वाले वस्तु के उस सत्यरूप को देखने में असमर्थ रहते हैं । वे अनेक तरह की विडम्बनाओं में पड़े रहते हैं, जिससे उन्हें वस्तु का इस तरह स्वतन्त्र रूप नहीं दिखता। जब वस्तु का स्वतंत्र रूप दिखने लगता है तब राग की मंदता होती जाती है, और क्रम-क्रम से अभाव भी हो जाता है।

मूढ़ता में ही कर्तृत्वबुद्धि की उपज—हम लोग अपने भविष्य की चिंता में पड़े रहते हैं किन्तु एक दृढ़ श्रद्धा हो जाये कि जो होगा सो होगा, होने वाला तो होगा ही, केवलज्ञानियों ने जिसे बिल्कुल स्पष्ट देख लिया है वही होगा, तब हम उसके विषय में चिन्ता क्यों करें ? कदापि नहीं। निमित्तों की चिन्ता नहीं करने से शांति आयेगी। लोगों को कर्ता-कर्म की बुद्धि पेरती रहती है। मैंने घर बनाया, धन कमाया, शरीर को बड़ा किया, कुटुम्ब को पाला, संस्था चलाई, आदि। अभिप्रायमूलक अपनी कर्ता-कर्म बुद्धि लगाता है, लेकिन यह अभिप्राय भ्रामक है। किसी भी चीज के बनाने-बिगाड़ने वाले हम कौन होते हैं ? हम एक धूलकण को भी पैदा नहीं कर सकते। समय को भी आगे-पीछे नहीं कर सकते। वस्तु स्वतन्त्र है, इसका मोटा मतलब है कि एक वस्तु दूसरे का कर्ता नहीं है और कर्म भी नहीं है। सब पदार्थ अपनी-अपनी पर्याय से परिणम रहे हैं। उन्हें बनाने और बिगाड़ने का हम केवल विकल्प कर सकते हैं, पाप और पुण्य कर सकते हैं, किसी को बना-बिगाड़ नहीं सकते क्योंकि जगत के सारे पदार्थ अपने आपमें परिणमन कर रहे हैं। हम अपनी चेष्टा अपनी कषाय से कर रहे हैं, आपका कुछ नहीं कर रहे। आप अपने आपमें विवेक करके कुछ ज्ञान कर लें। किसी को कोई सम्यक्त्व, चारित्र या कषाय आदि नहीं देता।

संयोगीदृष्टि व एकत्वदृष्टि के परिणाम—समवशरण में वा जिनालय में भगवान की शांतमुद्रा को देखकर अपने आप शान्ति लाते हैं उनसे कुछ नहीं मिलता, वे कुछ नहीं देते। लेकिन संयोगी-दृष्टि वाले मोही जीव को पर के सम्बन्धों में ऐसा लगता है—यह चीज हमारी ही है। तब दु:खी कौन होता है ? वही मोही जीव। परिणामों में जो मोह बसाया वही दु:ख का कारण है। जम्बूस्वामी को देखो ! जम्बूस्वामी को उनके घरवालों ने, स्त्रियों ने और दूसरे मित्रों ने कैसा समझाया मनाया कि अभी आप दीक्षा न लें, किन्तु उनके मन में उनकी एक न

भाई, क्योंकि उनकी दृष्टि अपने एक शुद्ध तत्त्व पर स्थित हो रही थी। जब पदार्थ स्वतन्त्र आने लगते हैं, और आत्मा अपने स्वतंत्र रूप में स्थित रहने के लिये तैयार हो जाता है तब उसे दुनियाँ की कोई दूसरी बात नहीं रुचती, लेकिन जिसे ऐसी समझ नहीं आई, चाहे वह ५० लाख का ही धनी क्यों न हो ? इतना ही क्यों ? राजा महाराजा सम्राट चक्रवर्ती और इन्द्र ही क्यों न हो, मोह के कारण वह दु:खी ही रहेगा। अनाकुलता जब सुख का कारण है, तब आकुलता दु:ख का ही कारण है। माँ अपने बच्चे को किसी अनिष्ट वा दु:खकारी प्रसंग में गाली देती, और कहती 'मर जा' सो ऐसा वह अपनी मूर्च्छा वा कषाय से कहती है। उसके दु:ख को सहन नहीं कर सकती। तब इस तरह की कषाय-प्रवृत्ति करती है। कोई माँ अपने विषयकषाय में बाधक होने से भी पुत्र को बुरा-भला कहती होगी, वह भी मोह के कारण पैदा हुई कषाय का एक कर्म है जो कि दु:खकारी कारण है। उस दु:ख को सहन नहीं कर सकती जिससे कि उस तरह के कषायपूर्ण उद्गार प्रगट किया करती है। प्रत्येक जीवों की मोह के कारण ऐसी ही दु:ख की अवस्था हो रही है। मोह की बड़ी विडम्बना है।

मोहभावना का एक नग्न चित्रण—सुकौशल की माँ के मोहभावों पर विचार करो। सुकौशल के पिता कीर्तिधर को जब दीक्षा लेने के भाव हुए तब मंत्री आदियों के इस शर्त पर कुछ समय के लिये दीक्षा लेना स्थगित रखा कि जब पुत्र का जन्म होने की खबर सुन लेंगे तब दीक्षा ले लेंगे। सुकौशल पुत्र का जन्म होने पर भी मन्त्री आदि तथा सुकौशल की माँ ने जहाँ तक और जब तक बने इस बात को गोप्य रखने का ही उपाय किया ताकि महाराज जब तक बन सके गृहस्थाश्रम न छोड़ें। लेकिन जब उन्हें दीक्षा लेने का सच्चा टाइम आया तब निमित्त वैसा मिल ही गया। वस्त्र धोने वाली दासी अनुचरी व सुनने वाले ब्राह्मण के निमित्त से अपने पुत्रजन्म के समाचार मालूम पड़ गये और वे तत्काल वन में जा दीक्षित हो गये। रानी को इस वियोग का बड़ा दु:ख हुआ लेकिन सुकौशल पुत्र में अपना मन बहलाने लगी। सुकौशल के बारे में निमित्त ज्ञानी ने यह बतलाया कि जब वह दिगंबर साधु के दर्शन करेगा तभी दीक्षित हो जायेगा। माता ने इसका पूरा इंतजाम कर दिया कि महल में किसी साधु का प्रवेश न हो। एक दिन वही कीर्तिधर मुनि चर्या के लिये उसी नगरी में आये और संयोग की बात कि वे पहले के अपने ही महल में भिक्षा के निमित्त प्राङ्गण तक प्रवेश कर गये। पूर्व अवस्था की स्त्री सुकौशल की मां को अपने पतिदेव के आने का हर्ष नहीं हुआ, उनके उस उच्च पद के प्रति उसका आदरभाव जाग्रत नहीं हुआ । इतना ही नहीं, वह साधारण शिष्टाचार और विनय को भी भूल गयी और मोह में मत्त विवेक में अंधी और पुत्र के दीक्षा लेने का अवसर उपस्थित न हो जाये, इस आशङ्का से विह्वल हो योगीराज को गालियों से प्रहार करने लगी। मोह के कारण उसकी धृष्टता चरम सीमा पर पहुंच गई। जिस योगी को इन्द्र और धरणेन्द्र पूजते हैं, जिन्हें संसार के स्वार्थों से कोई सम्बंध नहीं रह गया है, जिन्होंने आशाओं को पीछे धकेल दिया है ऐसे मुनिराज और जो कि दीक्षा लेने के पूर्व उसके प्रिय पतिदेव थे, जिनके लिये दीक्षा नहीं लेकर घर में ही रहने के लिये अनेक षड़यंत्र रचे थे, वे ही व्यक्ति निर्दोष अयाचकवृत्ति से घर में पधारे और स्त्री उन्हें देखकर प्रसन्न न हो, झुंझलाहट में आवे, अपशब्द कहे, ये सब क्या है ? मोहभावों की महिमा है। अन्त

में जो होने वाला था वह तो हुआ ही, कालान्तर में सुकौशल दीक्षित हो वन चले गये। सुकौशल की मां ने मरकर शेरनी की पर्याय पाई, और उसी जंगल में पैदा हुई जहां कि सुकौशल ध्यान लगाते थे । एक दिन ध्यानस्थ सुकौशल को शेरनी ने देखा और पूर्वभव के मोह से उत्पन्न होने वाली द्वेष कषाय से उनके ऊपर आक्रमण किया, क्योंकि जहां जितना अधिक मोह होता है वहाँ उतना ही अधिक द्वेष भी हो जाता है। पर्याय-जन्य स्वाभाविक क्रूरता के साथ पूर्वभव के अपने पुत्र सुकौशल को उसने विदीर्ण किया और भक्षण किया। संसार का यह नग्न चित्र है कि जिसने अपने शरीरांश से गर्भ में पुष्ट किया, जन्म होने पर अत्यंत गाढ़ अनुरागपूर्वक पाला-पोषा, अपने दूध से उसका खून मांस तैयार किया, आज उसे ही क्रूरतापूर्वक भक्षण कर रही है। हाय रे संसार का चरित्र ! ऐसा विलक्षण वीभत्स चित्र उपस्थित करने पर भी मोही प्राणी तुझसे विरक्त नहीं होते, धिक्कार है ! उनकी पर्याय बुद्धि को।

आत्महित की ओर दृष्टि होने में आत्मप्रगति—उधर सुकौशल योगी का विचार करने पर दूसरे पक्ष की बात मिलती है कि इतना घोर उत्सर्ग आने पर भी उनको अपने तन की सुध भी नहीं आई, जिससे न शरीर-भक्षण का दु:ख आया और न शेरनी पर रोष हुआ। एक ध्यान की ऊंची अवस्था आने पर तत्काल ही उन्हें केवलज्ञान ऋद्धि प्राप्त हुई, शरीरपात के ही साथ सारे कर्मों का निपात हुआ। सुकौशल मुनि सिद्ध परमात्मा बन गये। पश्चात् माँ के जीव शेरनी को भी उद्बोध हुआ और वस्तुस्वरूप की पहचान हुई। तब क्षणभर में ही उसकी भी अवस्था बदल गई। अब वह पुत्र-भक्षण करने वाली क्रूर शेरनी न रही, अन्तरात्मा व्रती बन गई। सारी क्रियाओं में भोजन और पान को छोड़ संन्यास में स्थित हो गई और आयु के अन्त में स्वर्ग में पैदा हुई। भावों के दो पहलू और तत्काल ही उनके भिन्न-भिन्न विलक्षण अच्छे और बुरे फल इस कथानक से बिल्कुल स्पष्ट होते हैं। इस समय भी यदि कोई पूर्व भावों को बताने वाला ज्ञानी योगी होता तो भावों के ऐसे विलक्षण रूप और उसका फल देखने-सुनने को मिलता। फिर भी यदि हम अपनी समझ को सही दिशा में लाना चाहें तो पद-पद पर इससे मिलते-जुलते प्रसंग हमारी आँख खोलने के लिये काफी मिलेंगे। ना सही पर-भव की बात, इस भव की ही बहुत-सी घटनाएं मोह की तुच्छता और विवेक की महानता को बतलाने वाली पर्याय मिलेंगी। संसार की इस विलक्षणता को देख परिणामों को निर्मल करो। वह निर्मलता आयेगी कैसे ? स्वरूप की ओर दृष्टि करने से, शुद्ध स्वरूप का ध्यान करने से।

बाह्य पदार्थों को असार जानकर उनकी उपेक्षा करके स्वोन्मुख होने की प्रेरणा—भाई ! अपने पुत्र, धन और गृह, शरीर और इनके विषय का ध्यान करने से वह निर्मलता न आयेगी। वह आयेगी अपने से भिन्न सबको भूलने से। सुध्यान की सिद्धि के लिये प्रारम्भ में ध्यान करते हुए जो भी बाह्य पदार्थ उपयोग में आवे उन्हें हटाते जावो, उन्हें अपने स्थान पर अपनी हालत में रहने देने का, जैसे कि वे रहते हैं, भाव रखते हुए उनसे उपेक्षा करते जाओ। इस तरह समस्त बाह्य पदार्थों से मोह हटा लें तो वह निर्मलता अवश्य आयेगी।

प्राणी को शरीर से मोह अधिक होता है परन्तु भैया ! यह जड़ और संयोग-वियोग के दु:ख, रोग-शोक के दु:ख प्रत्यक्ष दिखाने वाला, नव द्वारों से घृणित मल को बहाने वाला मलों से बना स्पष्ट दिख रहा है इससे क्यों प्रीति लगाना चाहिये? क्या कुछ दिनों के लिये संयोग हो गया इसलिये? नहीं, यह संयोग तुम्हारे दु:ख के लिये है। शरीर का संयोग न हो तो सारे दु:खों का अंत हो जाये, लेकिन यह शरीर ही है जो दु:ख का निमित्त होता है और दु:ख देने की परम्परा को जारी रखने के हेतु है। संयोग करके भी वियोग की अनिवार्यता नहीं छोड़ता। क्या इसमें बनी इन्द्रियों से सुख मिलता है इसलिये इससे प्रीति करना चाहिये ? नहीं, इन्द्रियों के द्वारा पैदा होने वाली इच्छाएं तेरे दु:ख को बढ़ाने वाली ही होती हैं। यदि इन्द्रियां न हों तो आत्मा अपने स्वाभाविक अतुल अक्षय सुख का उपयोग करे, क्योंकि सुख इन्द्रियों में नहीं भरा है। वह तो आत्मा में है। आत्मा के स्वभाव में सुख गुण हमेशा से मौजूद है और कभी भी नष्ट न होगा। शरीर से प्रेम करने का कोई उचित हेतु नहीं हो सकता, सिवा अपनी मूर्च्छा भाव के। अत: ऐसी मूर्छा का शीघ्रता से परिहार करो। दु:ख से पिंड छुड़ाने के लिये मूर्च्छा का परिहार करना ही पड़ेगा। सुखी तभी होओगे। इसके विपरीत जो प्रबन्ध कर सकते हो वह सब उल्टा ही है। संसार के कर्मों को छोड़ नहीं सकते तो उदासीनता अपनी बनी रहने दो और फिर उनमें उपादेय बुद्धि को न रखो। भ्रमण करते-करते, दु:ख उठाते-उठाते अथवा उपदेश सुनते-सुनते बहुत समय बीत चुका, अब समय अल्पपर्याय का थोड़ा रह गया है, चेत जाना चाहिये।

शेष नरजीवन का सदुपयोग कर लेने की प्रेरणा में एक दृष्टान्त—एक बार एक नट-नटनी एक कंजूस राजा के दरबार में खेल दिखाने आए। नट ढोलक बजाता था और नटनी नृत्य आदि करती थी। बहुत समय बीत गया, सांझ होने को आई लेकिन न राजा ने, न दरबार के किसी अन्य व्यक्ति ने उन्हें पुरस्कार दिया। तब नटनी कविता में कहती है कि—पुरस्कार मिलने की तो कोई आशा नहीं दिखती, पैर थक गये हैं, ढोलक धीरे-धीरे बजाओ, अब जल्दी पैर नहीं उठते। तब नट कहता है—बहुत गई थोरी रही, थोरी हू तो जात। मत चूके ऐ नर्तकी, फल मिलने की बात। अर्थात्—बहुत बीत चुकी है, थोड़ी रह गई और उस थोड़ीसी भी समय की घड़ी बीतती जा रही है। अब इस थोड़े से भी बीतने वाले समय में ही फल मिलने वाला है। हताश मत हो, निराश होकर भूल मत कर। इस गम्भीर और हृदय के कपाट खोल देने वाले रहस्य वाक्य को सुनकर राजपुत्र ने १ लाख रुपये का हार, राजपुत्री ने लाख रुपये के गहने और संन्यासी ने बहुमूल्य दुशाला नट को पुरस्कार में दे दिया। राजा ने क्रम से इनके इतना भारी पुरस्कार देने का कारण पूछा, क्योंकि जिसके दान देने का स्वभाव नहीं होता वह दूसरों को देते देख उसे दाता कुछ मूर्खसा मालूम पड़ने लगता है कि क्यों व्यर्थ में यह द्रव्य लुटा रहा है। इसका मगज ठिकाने नहीं है। हाँ, तो राजपुत्र ने कहा—महाराज ! आप तो वृद्ध हो गये फिर भी राजसिंहासन का मोह आपका नहीं छूटता। तब मैंने विचार कर लिया था कि आपको मरवाकर मैं सिंहासन पर बैठूंगा, लेकिन नट की बात सुनकर समझ आई कि आपकी वृद्ध अवस्था है, थोड़े दिनों में आपकी मृत्यु होने ही वाली है क्यों पिता से विद्रोह कर कलंक का भोगी बनूं, पीछे तो मुझे राजा बनना ही है। इस

समझ की खुशी में मैंने लाख रुपये का पुरस्कार दे दिया तो क्या बड़ी बात हुई? आपकी जान लाखों रुपये की बची और आपका तथा मेरा जो अपयश बचा वह अलग। राजपुत्री से पूछने पर उसने बताया कि—मेरा प्रेम मन्त्री-पुत्र पर है, किन्तु आप उससे मेरा विवाह करना नहीं चाहते, मेरी अवस्था बड़ी हो गई है, तब विचार आया था कि कल आपको विष देकर मार डालेंगे, फिर भाई तो हमारे अनुकूल ही है और वह मेरा विवाह मेरी इच्छानुसार कर देगा। लेकिन नट की बात सुनकर मुझे भी समझ आई कि आपकी आयु ही कितनी है, पीछे तो इच्छानुकूल विवाह होवेगा ही, ऐसी अमूल्य शिक्षा के उपलक्ष में मैंने अपना गहना पुरस्कार में दे दिया। संन्यासी बोला— राजन् ! मैं दीर्घकाल से तपस्या कर रहा हूं। कितना भारी परिग्रह मेरे पास है, और मेरी आयु पूरी होने को आयी। नट की बात सुन विवेक आया कि मुझे इस बहुपरिग्रह से मतलब नहीं, अल्प परिग्रह, सादा रहन-सहन, खान-पान करके ही अंतिम जीवन बिताऊंगा। अत: शरीर पर मौजूद बेशकीमती चादर पुरस्कार में दे दिया। राजा की आँखें खुली और राजपुत्र को सिंहासन पर आरूढ़ कर पुत्री का विवाह उसकी इच्छानुकूल कर आप विरक्त हो साधु बन गया।

शेष नरजीवन में धर्मसाधना कर लेने का अनुरोध—नट के द्वारा कही जाने वाली उक्ति को सब अपने ऊपर घटावें। आयु का भरोसा नहीं है। और जो वृद्ध हो गये हैं उनका तो अब इस पर्याय का अल्पकाल ही रह गया है। अब तो धर्मध्यान में दृढ़ता से लग जाना चाहिये। मनुष्य भव को यों ही पूरा न कर देना चाहिये। जो मूर्च्छा से रहित, परिग्रहरहित धर्मध्यान में समय का उपयोग करते हैं, उनके आत्मिक शक्ति का विशेष विकास होता है, जो ऋद्धि के नाम से कहा जाता है। जो लौकिक जनों को चमत्कार दिखने वाली चीज है, वह चमत्कार भीतर से ही पैदा होता है, बाहर के पुरुषार्थ से नहीं।

सकामरूपित्व, वशित्व, ईशत्व व प्राकाम्य ऋद्धिधारी ऋषियों का स्तवन—ईशत्वऋद्धि से साधु का प्रभुत्व प्रगट होता है। इन्द्रादिक सभी जीव उन्हें शीश नमाते हैं। सकामरूपित्वऋद्धि प्रकट हो जाने से साधु मनचाहा सुन्दर रूप बना सकते हैं। वशित्वऋद्धि प्रगट होने से मुनि को जो देखता है वह उनके अनुकूल हो जाता है, उनके वश हो जाता है अथवा आत्मा का बल ऐसा बढ़ जाता है कि इन्द्रियां वश में ही रहती हैं, किञ्चित् भी अपना असर नहीं दिखा पातीं। प्राकाम्यऋद्धि से अनेक प्रकार से शरीर बना लेते हैं। वे पृथ्वी में धंस सकते हैं, पृथ्वी में जलावगाह की तरह डुबकी ले सकते हैं। इस तरह अनेक प्राकाम्य वे मुनीश्वर कर सकते हैं, ऐसे ऋद्धिश्वर हमारा कल्याण करें।

इच्छा के रहते हुए ऋद्धि-सिद्धि की असंभवता—यह बात विलक्षण-सी है कि जो चाहता है उसे नहीं मिलता और जो नहीं चाहते हैं उन्हें मिलता है । अच्छा, मिल जाने पर भी क्या होता है ? क्योंकि मिलने पर वैराग्य रहता है। एक कहावत है कि—जब दांत थे तब चना नहीं थे, और जब चना है तब दांत नहीं हैं। अर्थात् जब

विषय-भोग के योग्य शरीर था तब तो धन आदि का संयोग नहीं हुआ, जब वह हुआ तो शरीर वा पुत्रादि की अनुकूलता नहीं रही। यही हालत संसार की है। दोनों बातों का मेल बहुत कम बैठता है। यदि मेल नहीं बैठता है तो मत बैठने दो। ज्ञानानन्द के पुंज आत्मा में उपयोग लगाओ । इसके लिये किस चीज़ की कमी है ? क्या बाहिरी बाधा है ? वह तो हमारी ही चीज है, हमारे ही अधीन है, बाहिरी लगाव की तो आवश्यकता ही नहीं है। और व्यर्थ ही जो लगाव लगा रखा है वस्तुतः उसे ही हटाना है । दुःख मेटने के लिये यही रास्ता है इसे ही स्वीकार करके इस पर चलने का उद्यम करना है। संसार का काम किया, धन यश और नाम कमाया तो क्या हुआ, आखिर उन्हें छोड़ना ही पड़ेगा । यश और नाम भी तो हमेशा किसी का नहीं रहता।

कुछ की चाह में अतुल निधि का विलोप—ऐसे धनी और यशस्वी बनो जो अक्षय हो, अव्याबाध और अनंत हो। ऐसा चैतन्य धन अपने भीतर ही मिलेगा, लेकिन उसकी अपेक्षा करने से वह नहीं मिलेगा। उसकी सतत दृष्टि, अपेक्षा रखने से वह प्राप्त होगा। अन्य कुछ की चाह नहीं रहना चाहिये। एक नाई ने सेठ की हजामत बनाई। सेठ ने कहा— हम तुम्हें कुछ देंगे । लेकिन सेठ के मन में आई कि पूरी मजदूरी न देनी पड़े तो अच्छा हो और नाई के मन में आई कि अधिक मांगू तो अच्छा। हजामत बना चुकने के बाद सेठ ने चार आने दिये। नाई बोला—हम तो कुछ लेंगे । १) दिया। नाई ने कहा—कुछ लेंगे। अशरफी दी, हम तो कुछ लेंगे। अन्त में सेठ ने कहा— फिर देंगे कुछ, अभी हमें भूख लगी है, सामने अलमारी में दूध का गिलास रखा है उसे उठा देना। वह लाया वह जो देखा तो बोल उठा कि इसमें तो कुछ पड़ा है। सेठ बोला— तो जो कुछ पड़ा है वह तू ले ले। देखा तो कोयला था। मतलब यह है कि मंगता मत बनो। जो कुछ मांगता है उसे कुछ नहीं मिलता। निरीह बनो। निरीह बनने के लिये स्वरूप की सावधानी में लगो। ऐसी सावधानी करने पर ऋद्धियां प्रगट होंगी, लेकिन उनकी अभिलाषा तुम्हें न होगी।

अन्तर्धान व आप्ति ऋद्धिधारी ऋषियों का स्तवन—अन्तर्धान ऋद्धि से शरीर ऐसा बना सकते हैं जिससे शरीर दूसरे को दिखे ही ना अथवा देखते-देखते अन्तर्धान (गायब, लुप्त) हो जाते हैं। अमूर्त आत्मा के ध्यान से शरीर को भी अन्तर्धान करने की शक्ति प्रगट हो जाती है। जिस स्वभाव की उपासना से ऐसा चमत्कार हो जाता है वह उपास्य आत्मदेव कैसा अलौकिक है इस बात पर ध्यान देना चाहिये। श्री वादिराज आचार्य ने कहा है:— 'इन्द्रः सेवां तव सुकुरुतां किं तया श्लाघनं ते। तस्यैवेयं भवलयकरी श्लाघतामातनोति।।' आदि। हे भगवन् ! आपकी सेवा इन्द्र करते हैं इससे आपकी महत्ता नहीं है, प्रशंसनीय बात तो यह है कि आपकी सेवा से इन्द्र का संसारोच्छेद हो जाता है। जिस चैतन्यस्वभाव की आराधना से ऋद्धि प्राप्त हो जाती है वह कितनी महत्त्वपूर्ण और लौकिक जनों के लिये अद्भुत वस्तु है। हमें आश्चर्य हो सकता है कि दीवाल में से शरीर कैसे निकल जाता होगा, किन्तु यह आश्चर्य की बात नहीं है। औदारिक वर्गणाओं का ऐसा सूक्ष्म परिणमन हो जाता है कि

वह मेरु को भी भेदकर गमन कर जाता है। आप्तिऋद्धि के प्रताप से योगीश्वर एक स्थान में होते हुए मेरु पर्वत, सूर्य, चन्द्र आदि इष्ट स्थान का स्पर्श कर लेते हैं। सूर्य, चन्द्र, ग्रह आदि को अंगुली पर रख सकते हैं।

अप्रतिघात ऋद्धिधारी ऋषियों का अभिवादन—जिस ऋद्धि के प्रभाव से शरीर द्वारा किसी जीव को बाधा न हो अथवा दूसरे जीवों या पदार्थों से ऋद्धिधारी को कोई बाधा न हो उसे अप्रतिघात ऋद्धि कहते हैं। प्रतिघात बाधा को कहते हैं। किसी को भी बाधा है तो विकल्पों से है, स्वभाव से नहीं। विकल्परूप प्रतिघात के न होने से पर और आत्मस्वरूप की एकाग्र स्थिरता होने पर ही अप्रतिघात ऋद्धि प्रकट होती है। वस्तुत: प्रतिघात मात्र विकल्प ही है । जब अंतरंग प्रतिघात नहीं है तो तपस्वी के ऐसी शक प्रकट हो जाती है कि बाह्य प्रतिघात भी नहीं होता। योगीश्वर मेरु पर्वत आदि के अन्दर चले जावें तब भी उन्हें रुकावट नहीं होती है। स्वहित चाहने वाले बन्धु को विकल्प-प्रतिघात मिटा लेना चाहिये, विकल्प ही महान् प्रतिघात है।

विकल्प की परेशानी एक दृष्टान्त—एक सेठ धन कमाने को विदेश गये, उसी समय उनके घर पुत्र का जन्म हुआ। परदेश में सेठ जी ने १४ वर्ष निकाल दिये। अब उनको घर आने की चिंता हुई और घर के लिये चल दिये। उधर घर पर उनका पुत्र १४ वर्ष का हो गया था, माँ ने पुत्र से कहा—बेटा ! तेरे पिताजी १४ वर्ष से (तेरे जन्मकाल से ही) विदेश गये हुये हैं, वे स्वयं अभी तक नहीं लौटे, तू जाकर लिवा ला। वह उधर से चला, रास्ते में एक जगह धर्मशाला में ठहरे लेकिन पुत्र और पिता दोनों एक दूसरे से अपरिचित थे, जिससे एक दूसरे को पहचान न सके । पुत्र को पेट में दर्द उठा, वह जोर-जोर से चिल्लाने लगा । पास में ठहरे हुए पिताजी ने धर्मशाला के मैनेजर को कहा कि मैंने १०) इनाम का दिया है, इस लड़के को हटाओ। खैर, ५ मिनट में लड़का मर गया। सेठ के पास पेट-दर्द की अच्छी दवा भी थी, परन्तु सेठ का तो वह शत्रु हो रहा था। दूसरे दिन सेठ घर को रवाना हुए। घर आकर स्त्री से मालूम हुआ कि पुत्र मुझे लेने गया है, तब वह पीछे उसे खोजने निकले और जब उसी जगह पहुंचे जहां दोनों अपरिचित हालत में ठहरे हुए थे, तब धर्मशाला के मैनेजर से अपने पुत्र के बाहर निकलने की बात कही और उसका नाम-ठाम बतलाया। मैनेजर ने कहा— एक लड़का अमुक समय में यहाँ आया था, उसको जोर से पेट में दर्द उठा जिससे वह मर गया। सेठ को पुत्र के मरने का नाम सुनते ही मूर्छा आ गई। पहले जब मिले थे तब अपनेपन का भाव नहीं होने से उसके दु:ख में भी सेठजी के संवेदना के भाव नहीं हुए, किन्तु आज पुत्रत्व का मोह है जो उनकी आत्मा को व्याकुल करने लगा, परेशान करने लगा।

दु:ख की कृत्रिमता व वास्तविक सुख की सहजता—दु:ख बनाया जाता है और सुख को बनाना नहीं पड़ता, वह तो अपने आप होता है। इन्द्रियसुख को भी बनाने की चेष्टा की जाती है, यदि बाह्य इन दु:ख-सुखों को नहीं बनाया जाये तो जीव की स्वाभाविक हालत सुख की रहे, क्योंकि वह तो कृत्रिम नहीं है, पर की

अपेक्षा से नहीं है। लेकिन इस भेद का पता नहीं होने से सच्चे सुख से दूर रहकर, सुखाभासों की चाह में भटकता रहता है। तो भाई ! जब तक भ्रमबुद्धि न हटे, अपनी स्वतन्त्र सत्ता को न जाने, मोह को न छोड़े तब तक दु:ख ही रहता है। हैरानी की बात यह है कि इन्द्रिय-सुख भी अपने से ही भोग रहे हैं लेकिन स्त्री से, पुत्र से और भोजन आदि से सुख होना मान रहे हैं। तो इस भ्रम से स्त्री पुत्रादि में अति आसक्ति करे, भोजन अधिक खा जाये तो दु:ख बढ़ेगा ही। अधिक सुख के लिये विकल्प किया और हो गया उल्टा, अधिक दु:ख का कारण।

सर्वत्र अपने ही सुख का संवेदन—एक लड़का गरीबी निकालने के लिये फुआ के यहाँ पहुंचा। उसने पूछा— भैया ! भोजन में क्या बनावें ? लड़के ने कहा— जो चाहें । भैया नहाने को बाहर गये, फुआ ने उसका कपड़ा गिरवी रख और उस दाम का घी शक्कर आदि खरीद अच्छे-अच्छे मिष्ठान्न बनाये । लड़का जब जीमने बैठा और तरह-तरह के मिष्ठान्न परोसे गये तब खाते हुए मिष्ठान्नों की तारीफ करता गया। फुआ भी कहती जाती थी कि तुम्हारा ही माल तुम खा रहे हो। लड़का समझता था कि यह अतिप्रेम के भाव में ऐसा कह रही है। लेकिन जब भोजन कर चुकने पर यथास्थान कपड़े न मिले, और फुआ से पूछा तब उसने बताया कि गिरवी रख उसी के पैसे से यह उत्तम भोजन तैयार किया गया है, इसीलिये तो मैं कहती थी कि तुम्हारा ही माल तुम खा रहे हो। जीव तो अपने आपसे ही सुखी है लेकिन मानता है पर से। क्योंकि भ्रम से पर का अवलंबन भी जो लिया जाता है उसी से आगे का भ्रम पुष्ट होता है।

अन्तस्तत्त्व की उपलब्धि की उपादेयता—धन कमाना कठिन है किन्तु धर्म कमाना सरल है, उसमें किसी की अपेक्षा नहीं करनी पड़ती, बाधा नहीं आती, जैसा कि अपना ज्ञानानन्दमय आत्मा है उस पर ध्यान दिया कि धर्म हुआ। बाधा देने के लिये वहां तक किसी भी परपदार्थ की पहुंच नहीं है। धन कमाने में अनेक पराधीनताएं हैं, कई बाधक कारण उपस्थित होते हैं। किन्तु भ्रम से, जो सरल है वह कठिन दिखता और जो कठिन है वह सरल दिखता है। मोह का माहात्म्य ऐसा ही है। उससे दृष्टि बाह्य हो जाती है, नहीं तो कौन किसे धर्म करवाता, पुण्य वा पाप करवाता, सुख व दु:ख देता ? किसी पर दया आयी और उसका दु:ख दूर कर दिया, तो हमने तो अपने विकल्पों की प्रतिक्रिया ही की। उसके प्रति जो वेदना हुई थी उस वेदना को मेटने का ही उपाय किया। हमने उसका दु:ख दूर किया, यह जो कहा जाता है यह लोकव्यवहार की भाषा से कहा जाता है, भाव उसका वैसा नहीं है अथवा वस्तुस्थिति वैसी नहीं है। तो किसी का भी जो भी प्रयत्न होता है वह अपनी शांति के लिये होता है। राग की भाषा में कहा जाता है कि हम आपके सुख में सुखी और दु:ख में दु:खी हैं, लेकिन जब बिगाड़ हो जावे तब एक दूसरे की सूरत भी नहीं सुहाती। यथार्थ बात यह है कि संसार के सब पदार्थ स्वतन्त्र हैं, अपने में परिणम रहे हैं, कोई किसी का शरण नहीं है, परपदार्थ को या परपदार्थ के संयोग को अपना मान बैठे हैं, यह मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व से कोई कुछ और कोई कुछ पर्यायरूप अपने को

मान बैठे हैं और नाना तरह की कल्पनाएं करते हैं और दु:खी होते हैं। चेतन वस्तु के स्वभाव में, चैतन्य जाति के सिवा न कोई जाति है और न कोई सम्प्रदाय, न कोई गरीब है और न कोई धनी, न कोई पुरुष है और न कोई स्त्री।

पर्यायबुद्धि न होने में सिद्धि—रूड़की में जैनियों से अजैनों की संख्या सभा में दूनी रहती थी। वहाँ एक अजैन महिला ने प्रश्न किया कि हम भाग्य से स्त्री हुए हैं, हमारा उद्धार कैसे हो ? मैंने उत्तर दिया कि तुम अपने को स्त्री न मानो। सो कैसे ? आत्मा न स्त्री है और न पुरुष; वह तो ज्ञान, दर्शन, सुख और शक्ति का पुंज अमूर्त है। तो चैतन्य स्वभाव वाले उस अमूर्त आत्मद्रव्य को देखो। आज से अपने को ऐसा देखने का अभ्यास करो। इस बात से उस महिला को भीतर बहुत सन्तोष हुआ, और भारी निर्मलता व्यक्त की। चेतन स्वभाव की परख करके जब उसका अनुभव आने लगता है तब पहले विकल्पों का निषेध हो जाता है और वह अपने आप हो जाता है। आत्मा अपने स्वरूप को जानकर जब अपने में ठहर गयी तब निम्न दशा के विकल्प स्वयं मिट गये। यदि अपने को पुरुष और स्त्री आदि पर्यायरूप ही देखते रहे तो संसार का भ्रम न मिटेगा। लेकिन जो स्वभाव में रम जाते हैं उनके अनेक ऋद्धियां प्रगट हो जाती हैं। प्रतिघात-रहित आत्मा की आराधना से ऐसी आत्मशक्ति प्रगट होती हैं कि जिससे शरीर को भी अप्रतिघातरूप बनाया जा सकता है, औदारिक शरीर होकर भी वह मेरु के आरपार सरलता से शीघ्रतापूर्वक जा सकता है। स्थूल शरीर का सूक्ष्मरूप से परिणमन करना; यह आत्मा के द्वारा नहीं हुआ, किन्तु वह सूक्ष्म परिणाम स्वयं उस स्थूल स्कंध से सूक्ष्मरूप उसी की ऋद्धिधारी आत्मा के निमित्त से हुआ।

प्रभुभक्ति में अन्तस्तत्त्व की उपासना का संदर्शन—ऐसे आत्मरत योगीन्द्र जो कि उक्त ऋद्धियों के धनी हैं वे हमारा कल्याण करें। पूजक ऐसे भक्तिरूप भाव प्रगट करता है। फिर भी अन्तरंग में भगवान की उस वाणी की प्रतीति होती है कि कल्याण हमारे से ही होगा क्योंकि उसे भगवान की दिव्यध्वनि में जो कहा गया है उसका भरोसा होता है। भगवान की दिव्यध्वनि में यह कहा जाता है कि जब समस्त विकल्पों को छोड़ चैतन्य की अभेद उपासना करोगे तभी तुम्हारा कल्याण होगा। भगवान द्रव्यों को अपने शरण में आने की बात नहीं करते जैसा कि अन्य पौराणिक ग्रन्थों में देवताओं की ओर से भक्त को अपनी शरण में आने की बात कही जाती है। वीतराग जिनेन्द्र ने तो यही कहा कि रागमात्र संसार का कारण है। मेरे प्रति भी जो राग है उसे छोड़ने पर ही मुक्ति मिलेगी। वे अपनी भक्ति कराने का उपदेश कदापि नहीं देते क्योंकि अपनी भक्ति कराने के भाव तो देवत्व से रहित अति जघन्य भाव हैं, ऐसे भाव तो रागी देवों में ही हो सकते हैं। वीतराग देव के तो राग के सूक्ष्मतम अंशों का भी अभाव हो जाता है । जिनेन्द्र आंशिक वीतरागी नहीं होते, सर्वांश या कहिये पूर्ण वीतरागी होते हैं। जिस देव का ऐसा दिव्य उपदेश है और जो स्वयं तद्रूप बन गया, भक्त का उसके प्रति कितना अनुराग होगा ? सो सोचें।

विषयरागवश उत्तम अवसर से लाभ न उठा पाने की मूढ़ता—ऐसी जिनेन्द्रवाणी को पाकर चेतना चाहिये। कोई राजा का एक मित्र गरीबी में आ गया, उसने राजा से मदद को कहा। राजा ने स्वीकारता दे दी, और रत्नों के कमरे में से २ घंटों तक जो लिया जा सके लेने की आज्ञा मिली। वह नियत समय पर रत्नों के कमरे में गया, वहाँ कई ऐसे विचित्र खिलौने रखे थे कि वह व्यक्ति उनको देखने में दत्तचित्त हो गया, उसने पहले सोचा था कि २ घंटे का समय तो बहुत बड़ा समय है, रत्नों को ले जाने में कितना समय लगेगा ? इस बात के फेर में उसने २ घंटे का समय पूरा कर दिया और खाली हाथ वापस आना पड़ा। उसको २ घंटे का समय सोने के कमरे में से इच्छित सोना लेने की आज्ञा मिली। वह उसमें घुसा तो हाथी, सिंह आदि विविध मोहक वाहनों को देख उसमें लुभा गया और उनको देखने में ही २ घंटे पूरे कर दिये और खाली हाथ कमरे से बाहर हो जाना पड़ा। तीसरी बार चाँदी के कमरे में से चाँदी लेने के लिये २ घंटे का समय मिला। उसमें विषयभोग की अनेक सामग्रियां थीं और अनेक चित्र सुगंधित पदार्थ और ऐसी अनेक लुभावनी चीजें थी। अबकी बार उसमें लुभा गया और उन्हीं में २ घंटे पूरे कर खाली हाथ वापिस आ गया। चौथी बार २ घंटे तांबे के कमरे के लिये दिये गये। वहां सोने-बैठने और आराम करने की अनेक कोमल शय्या पलंग आदि थे। अबकी बार उसने कोमल शय्या में आराम करते हुए सोकर २ घंटे पूरे कर दिये और खाली हाथ वापिस आया। आगे राजा ने किसी प्रकार की सहायता देने से इंकार कर दिया कि समय रहते जब तुममें वस्तु ग्रहण करने की योग्यता ही नहीं है तो हम क्या करें ? हमने तो ४ बार अवसर दिया, लेकिन तुम उससे लाभ न उठा सके, इसमें हमारा नहीं तुम्हारा ही दोष है। इसी तरह हमें मनुष्य भव की ४ अवस्थाएं मिलती हैं । बाल्य अवस्था रत्न के समान है। यदि इस अवस्था में विद्याधन को प्राप्त किया जाये तो इसके समान अमूल्य कोई अवस्था नहीं। दूसरी किशोर अवस्था है जिसमें कितना ही महान् पुरुषार्थ किया जा सकता है लेकिन इसमें आदमी सैर-सपाटे में समय निकाल देता है। प्रौढ़ अवस्था चाँदी के समान है, इसमें वह विषयभोगों और उनसे होने वाले परिवार के परिकर में इतना आसक्त हो जाता है कि धर्मरूप धन का वहाँ भी संग्रह नहीं कर पाता। चौथी अवस्था बुढ़ापे की मिलती है, जिसमें खटिया पर पड़े-पड़े समय निकाल दिया जाता है।

मोह में कर्तव्य की सुध का अभाव—जैसे राजा के द्वारा रत्न आदि देने के अनेक अवसरों को पाकर कुछ न कुछ उसने क्यों न लिया अथवा एक अवसर में धोखा खाकर दूसरे, तीसरे आदि अवसर में वह क्यों न संभल गया ताकि गरीबी के दु:ख को दूर कर सके ? यह प्रश्न किया जा सकता है। उसी तरह इन अवस्थाओं में मिलने वाले सुअवसरों को खोने वाले प्रत्येक मनुष्य से प्रश्न किया जा सकता है। लेकिन उसका एक ही उत्तर है कि अज्ञानी या मोही प्राणी को अपने कर्तव्य-पालन का मान नहीं रहता। वह प्राप्त हुए सुअवसर का लाभ नहीं ले पाता। और इस बात को प्रत्यक्ष देख रहे हैं, स्वयं अपना अमूल्य समय निकलता चला जा रहा है, और धर्म-संग्रह के लिये आगे-आगे शक्ति का भाग कम-कम होता जा रहा है और इस तरह पूर्ण जीवन व्यर्थ ही खोकर मृत्यु के मुख में जाते हुए अनेकों को देखते हैं; अपने को तो इस हालत में अभी नहीं, मृत्यु

के समय ही देख पावेंगे, लेकिन कितने समझदार पुरुष हैं जो सचेत होकर रत्नत्रय से ही अपनी गरीबी को दूर करते हैं, और दु:खी जीवन से पल्ला छुड़ाकर सुखी जीवन में आते हैं ? प्राणी की भूल को कहां तक कहा जाये ? जैसी भारी भूल वह दुहराता रहता है उसके कड़वे और विषैले फल भी वह चखता रहता है। मोह की उन्मत्तता में वह उन्हें भोगता हुआ भी नहीं सम्भलता, लेकिन जिनकी मोहनिद्रा टूट जाती है वे मनुष्यजीवन के एक-एक समय का लाभ लेते हैं। ऐसे आदर्श पुरुष पूजक के पूज्य बन जाते हैं। हमें भी अपनी निम्न दशा को पार कर अपनी उस उच्च दशा को प्राप्त करना चाहिये।

श्लोक ८

दीप्तं च तप्तं च तथा महोग्रं, घोरं तपो घोर पराक्रमश्च।

ब्रह्मापरं घोर गुणाश्चरन्त:, स्वस्ति क्रियासु परमर्षयो न: ।। ८ ।।

दीप्त, तप्त, उग्र, महोग्र ऋद्धिधारी ऋषियों का अभिनन्दन—दीप्तऋद्धि के धारी ऋषीश्वर अनेक अनशनादि तप करते हैं, तो भी शरीर में कांति बनी रहती है। शरीर सुख कर कांटा क्यों न हो गया हो फिर भी शरीर की दीप्ति द्विगुणित रहती है, मुख से सुगन्धि निकलती है, दीप्तऋद्धि का ऐसा प्रभाव है। शरीर की ऐसी अद्भुत स्थिति जिससे हो जाती है, उस आत्मस्वरूप की साधना पर ध्यान दीजिये। पूजक का ध्यान ऐसी साधना में लीन साधक आत्मा पर ही जाता है, जिन्होंने कि संकल्प-विकल्पों से रहित शुद्ध आत्मा की स्थिति को प्राप्त किया, ऐसी अवस्था अथवा ऐसी अवस्था पर विचार पहुंचाना ज्ञाता-दृष्टा की दृष्टि बनाने से संभव होता है। तप्त ऋद्धि के बल से किया हुआ सम्पूर्ण आहार रक्त आदि शरीररूप परिणम जाता है उसका खल, मल, मूत्र आदि नहीं बनता। ऐसा होने से आहाररूप पुद्गल स्कन्धों का नहीं, आत्मस्वरूप की उपासना का चमत्कार प्रगट होता है। महाउग्रतप ऋद्धि से ज्ञान की विशेष व्यक्तता होती है; विशेष मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ही नहीं, अवधिज्ञान मन:पर्ययज्ञान और केवलज्ञान तक प्रगट हो जाता है। मंदकषाय की बड़ी विशेषता है, उससे लौकिक वैभव, यश और सुगति की प्राप्ति होती है, यह तो तुच्छ लाभ है, किन्तु अलौकिक वैभव और शांति प्राप्त होती है, उसका यह वास्तविक लाभ है। किसी को क्रोध आदि कषाय के बल से अनुकूल नहीं किया जा सकता, लेकिन परिणामों की निर्मलता से ऐसा सहज हो जाता है। किसी विद्वेषी के प्रतिकूल विचारों को एकाएक प्रकट न करके प्रेमपूर्वक शांति से उसे कर्तव्य सुझाया जावे तो वह शीघ्र सुमार्ग पर आ जायेगा। इसके विपरीत कठोर व्यवहार से ऐसा होना कदापि संभव न होगा। मंदकषाय से अन्य कार्य भी सहज हो जाते है। ऋद्धियां अतिमंद कषाय से तो प्रकट होती ही हैं। उग्रतपऋद्धि की विशेषता यह है कि बहुत उपवासादि करने पर भी शरीर में क्षीणता नहीं आती, अशक्तता नहीं आती।

उपवास का परिचय—उपवास का लक्षण इस प्रकार कहा है—'कषायविषयाहार: त्यागो यत्र विधीयते। उपवास: स विज्ञेय: शेष लंघनकं विदु।।'

उपवास में सर्वप्रथम क्रोध, मान, माया और लोभ आदि कषायों का परित्याग होना चाहिये, फिर उनकी मंदता से विषयों की प्रवृत्ति का निरोध होना चाहिये । इतना होने पर आहार-पान का त्याग होता है उसे उपवास कहते हैं। यदि पहले की दो विशेषताएं न हो और केवल आहार-पान का त्याग किया गया हो तो उसे उपवास न कहा जायेगा किन्तु वह लंघन करना कहलायेगा। बहुत से उपवासों में ऐसा लंघन का ही रूप देखा जाता है, जिसमें साधारण समय की अपेक्षा कषाय बढ़ती हुई भी देखी जाती है। यदि विधिपूर्वक उपवास हो तो उससे बड़ा भारी काम होता है। उसमें ध्यानरूपी अग्नि प्रज्वलित होती है जिससे मोह आदि कर्म जड़ मूल से नष्ट हो जाते हैं। कई लोग मोह की महिमा के गीत गाते हैं, लेकिन अपनी उस ज्ञान-ध्यानरूप शक्ति की महिमा का भी ज्ञान करना चाहिये जिससे ४८ मिनट के भीतर-भीतर मोह आदि सारे कर्मों को जड़-मूल से उखाड़ कर फेंक दिया जाता है। उप अर्थात् समीप—आत्मा के समीप में वास अर्थात् निवास करना सो उपवास है। अर्थात् आत्मप्रवृत्ति में विशेषरूप से लगने को उपवास कहते हैं। तो फिर उपवास में आहार का त्याग करना क्यों जरूरी है ? वह इसलिये जरूरी है कि उसके तैयार करने कराने में, ग्रहण करने में बाह्य प्रवृत्ति विशेष होती है। आहार कर लेने पर आत्मचिंतन और स्वाध्याय आदि उतनी निर्मलता और एकाग्रता से नहीं होते। दूसरी बात यह है कि उपवासरूप आत्मप्रवृत्ति हो जाने पर इन्द्रियों के विषय स्वयमेव रुक जाते हैं, क्षुधा आदि की वेदनाएं ही नहीं होती। उसमें भोजन करने की इच्छा ही नहीं होती, अत: उपवास में आहार-पानी का भी त्याग होता है। किन्तु कषाय और विषयों से निवृत्ति हुए बिना जो आहार का त्याग होता है, उसमें आत्मशक्ति का विकास, ऋद्धि का प्रादुर्भाव होना तो दूर रहा, उल्टी कषायों की तीव्रता से शक्ति की क्षीणता होती है, निर्मलता की बजाय कठोरता की तह पड़ती है। प्रारम्भ अवस्था में यदि विषयकषायों का विशेष परिहार न हो सके तो भी निराहार रहकर धर्मध्यान में लगने के उत्साह को कम न करना चाहिये क्योंकि उपवास की विशेषता महान है। अभ्यास करते-करते कभी उसमें वह निर्मलता आ सकती है कि जन्म-जन्मांतरों के पाप क्षीण हो जायें। आजकल जबकि खाने पीने आदि की लोलुपता अधिक बढ़ती जा रही है, उपवास की बड़ी विशेषता है। पर्व के दिनों इसे अवश्य करने की भावना और प्रवृत्ति रखना चाहिये।

घोर, घोरपराक्रम ऋद्धिधारी ऋषियों का अभिवादन—घोरऋद्धि के प्रगट होने से बड़ी आपदाएं, उपसर्ग, वेदना और बाधाएं होने पर भी ध्यान नहीं टूटता, ध्यान से विचलित होने की क्षुब्धता व कमजोरी प्रगट नहीं होती। ऋद्धि से ऐसी शक्ति बनी रहती है कि बाहरी विघ्न-बाधाओं का रोग और संयोग-वियोग आदि का आत्मा पर कुछ भी असर नहीं होता। घोरपराक्रमऋद्धि वह है जिससे उपद्रव और उपसर्ग होते ही नहीं। इस ऋद्धि के मुनि जहां होते हैं वहाँ आसपास के स्थान में सुभिक्षता हो जाती है, सब ऋतुओं के फल फूल जाते हैं। हाँ,

एक प्रश्न हो सकता है कि क्या यह ऋद्धि तीर्थंकरों के नहीं होती ? यदि होती है तो पार्श्वनाथ भगवान पर उपसर्ग क्यों हुआ ? इसका उत्तर इस प्रकार है— इस ऋद्धि में भी तो उपसर्ग हों यदि तो भी विचलितता न हो, इसकी ही प्रधानता है। अब बात रह गई पार्श्वनाथजी को उपसर्ग क्यों हुआ ? सो भाई ! इसे हुंडावसर्पिणी काल की एक विचित्र बात कही गई है। वैसे तीर्थंकरों को मुनि अवस्था में भी कोई उपसर्ग नहीं कर सकता।

योगिसत्सङ्ग की महिमा—आत्मसाधना और शक्ति से सम्पन्न ऐसे योगी ही जगत के सच्चे बन्धु हैं। उनसे कभी अहित नहीं होता, अहित की सलाह उनसे कभी नहीं मिल सकती, जबकि मोही कुटुम्बी ठीक उसके विपरीत होते हैं वे मोह और राग को ही पुष्ट करते हैं। यदि उनमें से कोई निकलना चाहता हो तो उसमें वे बाधक होते हैं, आत्महित की सलाह मिलना उनसे असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है । मोही जीव अपने परिचितों से अपने दूषित स्वार्थों की, विषय और वांछाओं की पूर्ति की ही भावना रखते हैं । जब अपने ही कल्याण की भावना नहीं तो दूसरे के लिये कहां तक सहयोग दे सकेंगे ? अतः रागियों का संग अहितकर ही है, दुःखकर ही है। यदि हित और सुख शान्ति पाने की सलाह लेना हो तो विरागियों से ही लेना चाहिये । विरागियों के दर्शनमात्र से हेय-उपादेय बुद्धि का विवेक जाग्रत होता है । जैसे कि उदयसुंदर का बहनोई वज्रभान अपनी स्त्री में बड़ा आसक्त था । जब उसकी स्त्री अपने भाई के साथ अपने मायके जाने लगी तब उसका वियोग उससे सहन नहीं हुआ और वह भी अपनी स्त्री और साले के साथ हो लिया । रास्ते में जंगल के बीच एक दिगम्बर योगी को ध्यान मुदा में देखा, उदयसुंदर की आंखें उस मुद्रा में गढ़ गईं। उसे इस स्थिति में देख साले ने मजाक किया कि क्या आप भी ऐसा बनना चाहते है ? विषयासक्ति की तीव्रता देख ऐसा मजाक किया गया था, लेकिन उसे यह कल्पना उस समय न उठी कि मन बदलते देर नहीं लगती । निमित्त भी समय-समय का विलक्षण परिवर्तन का रूप प्रदर्शित करता है। बहनोई ने कहा— हाँ, क्या आप भी होना चाहते हैं ? उसने भी कहा— हाँ। तब वज्रभान, विलासी वज्रभान न रह दिगंबर शंकर होकर हो गया। साले ने भी अपने वचन की पूर्ति की और स्त्री भी आर्या बनी। तो निमित्त की महत्ता की अपेक्षा से विचार किया जाये तो विरागियों का दर्शन भी महान कल्याणकारी होता है। वीतराग भगवान की स्थापनापन्न मूर्ति असंख्यों को कल्याणपथ पर लगा चुकी और लगाती रहेगी। विरागियों का क्षणमात्र सहयोग और थोड़े से भी शब्द हृदय-परिवर्तन के लिये पर्याप्त होते हैं। अत: यह श्रद्धा अडोल होना चाहिये कि वीतरागी देव, साधु और धर्म ही हमारा सच्चा बन्धु है।

घोरपराक्रम व अघोरब्रह्मचर्य ऋद्धिधारी ऋषियों की महिमा—घोरपराक्रम ऋद्धिधारी मुनि को यदि कोई सतावे तो वहां भारी उपद्रव और दुर्भिक्ष तथा मरी आदि आपत्तियां आ जाती हैं। मुनि ऐसा नहीं करते, किंतु ऐसे महान् तपस्वी ऋद्धिधारी के ऊपर उपसर्ग करने से महान् पाप का बन्ध होता है जिससे कि ऐसा हो जाता है। उनकी शक्ति की उपेक्षा परिहास भी और तिरस्कार करने का उसरूप कुफल तो मिलेगा ही। अघोरब्रह्मचारी ऋद्धिधारी तपस्वी जहां हो वहाँ के दुर्भिक्ष और मरी आदि रोग शांत हो जाते हैं। आत्मा की शक्तियों का कुछ

प्रभाव ऋद्धियों के रूप में हम जान सकते हैं। आत्मा में अनन्त शक्तियां हैं, यिद आत्मा को बाहर की तरफ से खींच अपने ही उपयोग में लगाया जाये तो उन शक्तियों के प्रादुर्भाव होने में देर नहीं लगती। हमें अपनी शक्तियों को जगाना चाहिये।

तप का निर्देशन—तपऋद्धि के प्रकरण में १२ तपों के विषय में कुछ कहा जाता है। संकल्पों का त्याग कर देने पर इच्छामात्र के अभाव हो जाने मात्र को तप कहते हैं। इसमें और रहस्य कुछ नहीं है। तप १२ होते हैं, उनमें ६ बाह्य तप और ६ अंतरंग तप होते हैं। जिनमें ६ बाह्य तप ये हैं:—१ अनशन, २ अवमौदर्य, ३ वृत्तिपरिसंख्यान, ४ रस परित्याग, ५ विविक्त शय्यासन और ६ कायक्लेश।

अनशन तप—अनशन उपवास करने को कहते हैं, अनशन अर्थात् भोजन का त्याग करना अनशन है। अनशन करने वाले के भोजन का त्याग क्यों हो जाता है ? जब ज्ञानी के मन में यह बात आई कि बाह्य का ग्रहण तो होता ही नहीं, मेरा स्वभाव अशन-ग्रहण का नहीं है। जब ज्ञान में ऐसा विचार आता है तो भोजन करने की इच्छा ही पैदा नहीं होती, तब भोजन के लिये पैर उठना, हाथ उठना आदि क्रिया नहीं होती, भोजन की क्रिया में वह आलसी हो जाता है। जैसे किसी को अपने के अलावा दूसरे के काम में आलस हुआ करता है उसी तरह आत्मज्ञानी अशन को जब आत्मस्वभाव से पृथक् दूसरा समझता है तो उसमें शिथिलता होवेगी ही। अशन का स्वभाव मेरा नहीं, ऐसी बार-बार भावना होना और चैतन्यस्वभाव में भाव जाना सो वह अनशन अन्तरंग तप हुआ और बाह्य में भोजन का नहीं करना यों बाह्य तप है। अनशन बाह्यतप इसलिये है कि इसे ज्ञानी-अज्ञानी सभी कर सकते हैं। तो निज चैतन्य स्वभाव के समीप बसना सो अनशन तप है। जो ऐसा तपते थे उन्हें ऋद्धियां प्रगट होती थी।

अवमोदर्य तप—२. दूसरा तप अवमौदर्य है—जिसका मतलब है पेट से कम खाना, इसलिये इसको ऊनोदर भी कहते हैं। भूख से कम खाने में कई गुण हैं, शरीर निरोग रहता है, हर काम में उत्साह रहता है, चित्त में प्रसन्नता रहती है, आलस्य नहीं घेरता, इसलिये जीवन में अकर्मण्यता नहीं रहती, ज्ञानाभ्यास में मन खूब लगता है, बुद्धि प्रखर होती है। ध्यान की सिद्धि के लिये अल्पाहार होना परम आवश्यक है और मोक्षमार्ग में ध्यान की अनिवार्यता आवश्यक है, इसलिये अल्पाहार मोक्षमार्ग का एक बाह्य साधन है, अत: मुमुक्षु जीवों में अनिवार्यरूप से पाया जाने वाला यह महत्त्वपूर्ण गुण है। किन्तु अल्पाहार से चित्त में संतोष न आवे, केवल दिखावे कि लिये अथवा आज मैंने अल्पाहार का नियम लिया है इसलिये थोड़ा खाना चाहिये आदि अभिप्राय से थोड़ा भोजन करना अवमौदर्य तप नहीं है । यदि अल्पाहार करके संतोष न हो तो बच्चा जैसे थोड़ा भोजन करके खेलकूद की धुन में भाग जाता है इसी तरह मुनि को आत्मक्रीड़ा की धुन में जो कुछ जैसा शुद्ध भोजन मिले उसे थोड़ासा खाकर चल देता है, संतुष्ट होकर। उसे मन में यह ध्यान नहीं आता कि मैं भूखा रह गया हूं, आगे जल्दी भोजन करने की सुविधा मिल जाये। तब उसे अवमौदर्य तप कहते हैं।

वृत्तिपरिसंख्यानतप—३—तीसरा व्रत परिसंख्यान तप है। भोजन के विषय में कुछ अटपटी प्रतिज्ञाएं लेने का व्रत परिसंख्यान तप कहा है। जैसे कि आज इतने घरों में से आहार विधि मिलेगी तो ही लूंगा, अमूक स्थिति में दातार होंगे तो ही आहार लूंगा। वन में आहार मिलेगा तो लूंगा आदि। ऐसी प्रतिज्ञाओं के करने का प्रयोजन क्या है ? ऐसी प्रतिज्ञाएं आहार के विषय में निर्लोलुपता की परिचायिका हैं। आहार में लोलुपता घटे बिना ऐसी प्रतिज्ञाएं नहीं ली जा सकती। रसना इंद्रिय की तीव्रता घटे बिना व्रत्तिपरिसंख्यान नहीं हो सकता। इस हालत में भोजन मिले तो लें अन्यथा नहीं लें, इस प्रकार की भावना में भोजन और शरीर की निस्पृहता का उत्साह है। दोष और अन्तराय टालकर भोजन लेने की दृढ़ता आती है, अन्तराय हो जाने पर खेद न आने की भावना पुष्ट होती है, क्षुधा और तृषा परीषह जीतने का अवसर प्राप्त होता है, समता की प्रबलता आती है, भोजनविषयक इच्छाओं का दमन होता है। ऐसी अटपटी प्रतिज्ञाएं लेने पर भी उनके लाभान्तराय के क्षयोपशम से वह विधि मिल जाती है। लेकिन कभी नहीं मिलती तब वे निराहार रहकर अपने को धन्य मानते हैं कि अच्छा हुआ भोजन नहीं करना पड़ा, ध्यान और स्वाध्याय निर्विघ्न होगा, प्रमाद नहीं फटक पावेगा, क्षुधा परीषह जीतने का सुअवसर प्राप्त होगा। जिनके आहार-लाभ के अभाव की भावना है उनके यह तप होता है। लेकिन जानी-मानी २-४ प्रतिज्ञाओं को अदल-बदल करके लेते रहना और आहार के पहले या पीछे उन्हें प्रगट कर देना व्रत्तिपरिसंख्यान तप को रूढ़िमात्र चलाना है। क्योंकि इसमें बाह्य आडम्बर बढ़ने का ध्येय रह जाता है। हमारे मन में तो उतने दरजे का वैराग्य नहीं है, यह तो अतिविरक्त तपस्वियों के ही होता है जिनको आहार के विषय में राग नहीं रह गया है।

रसपरित्याग तप—४—चौथा बाह्य तप है—रसपरित्याग—१ दूध, २ दही, ३ घी, ४ तेल, ५ नमक और ६ मीठा; इन छहों रसों का या कुछ का त्याग करना रसपरित्याग तप है। जो खाने में आते ही नहीं ऐसे तेल आदि नहीं खाने का त्याग, त्याग नहीं है। जिह्वा जिस पर ललचावे या जो रस सुलभता से और बहुलता से मिलता हो, निरीहतापूर्वक उसे त्यागना ही रसपरित्याग है। बाह्य में रसों का त्याग लेकर अन्तरङ्ग में रसनेन्द्रियजनित स्वाद के विकल्प का भी त्याग होना चाहिये। स्वाद कौन लेता है ? चेतन आत्मा तो लेता नहीं, वह अमूर्त जड़ पुद्गल का क्या स्वाद लें, यह तो उससे अस्पृष्ट ही है। तो क्या भोजनरूप पुद्गल स्वयं अपना स्वाद लेता है ? सो भी नहीं, उसमें स्वादरूप अनुभव करने की चेतना नहीं । जिसमें चेतना है उसमें रस नहीं और जिसमें रस है उसमें चेतना नहीं। पुद्गल-त्याग तो बाह्यरूप से उपचार से है। इन्द्रियों के द्वारा स्वादरूप जो कल्पना की उस कल्पना का ही वास्तव में त्याग किया जाता है। विषय ''ज्ञानरस'' का त्याग होना ही रसत्याग है। यह सुस्वादु है, इस तरह स्वाद में उमंगरूप परिणामों को, विकल्पों को त्यागना रसपरित्याग है। जैसे—नमक का त्याग किया तो सीरा पुड़ी बना लेना, विडम्बना ही है। यह तो डबल रस ग्रहण हुआ। उदासीन जन साधारणरूप से इस तप को निभाते हैं, विरक्त पुरुषों की प्रवृत्ति अद्भुत होती है। वस्तुत: बाह्य पुद्गल के रसों को ग्रहण कौन करता ? उन कल्पनाओं का त्याग ही किया जाता है। अलौकिक लगन में त्याग सहज हो

जाता है। पं० टोडरमलजी जब किसी ग्रन्थ का निर्माण कर रहे थे तो ६ माह तक यह मालूम नहीं पड़ा कि भोजन अलोना बन रहा है, ६ माह बाद जब ग्रन्थ रचना का कार्य समाप्त हो गया तब भोजन करते समय कहते हैं—मां ! आज भोजन में नमक नहीं है। माँ कहती है— बेटा ! मैं तो ६ माह से ऐसा ही अलोना भोजन बना रही हूं, पर तू तो ग्रन्थ बनाने की धुन में तल्लीन रहता है कि अलोना खारा का भेद ही नहीं करता। जब हम इटावा से फिरोजाबाद आये तब सहजानन्दगीता की रचना में लग गये, तब कभी-कभी हमें ख्याल होवे कि हम भोजन कर आये या नहीं ? पेट भरा या नहीं? तब विशुद्ध आत्मज्ञान में जिनका उपयोग है फिर उनकी तो कथा ही क्या ? भोजनादि के विषय में ऐसी उपेक्षा लाभकारी है जिसमें लालसा का उदय न हो।

विविक्तशय्यासन तप—५. एकान्त स्थान में सोना-बैठना— यह विविक्तशय्यासन नाम का पांचवां तप है। वह इसलिये कि एकान्त स्थान में उपयोग की स्थिरता रह सकती है। यह बाह्यरूप से विविक्तशय्यासन तप हुआ। अन्तरंग विविक्तशय्यासन तप क्या है ? जैसे—भीड़ में भी बैठे हों फिर भी आत्मस्वरूप में ध्यान रहे, पर का ख्याल ही न जावे, तो वह एकान्तवास निश्चय से है । पष्पडाल मुनि एकान्त वन में रहकर भी बहुत समय तक घर का ख्याल दौड़ाते रहे तो उनका वह एकान्तवास तप नहीं हुआ और जब श्री वारिषेण के बताये दृश्य को निमित्त पाकर शान्त हुये तो वे जमघट में भी एकान्तवासी थे।

कायक्लेश तप—६. छठा बाह्य तप कायक्लेश है। जहां आत्मा ही साधना बन रही हो ऐसे प्रसंग में काय को क्लेश होने पर भी उसमें ध्यान न जाना कायक्लेश तप है। और कोई उपद्रव या उपसर्ग आ सकते हैं उनको सहन करने के लिये ज्ञानसाधना में रहते हुए शरीर को कष्ट देना, आतापन योग करना, अनेक आसनों से लम्बे समय तक ध्यान करना, दीर्घ काल तक एक ही आसन बैठे रहना आदि भी कायक्लेश तप है। कायक्लेश तप में शरीर को सुखाना ध्येय नहीं होता बल्कि शरीर आत्मसाधना के योग्य सहिष्णु और अनुकूल रहे, उसमें सुखियापन आकर मोक्षमार्ग की साधना में शिथिलता न आवे इसलिये तथा उपसर्ग आदि की उपस्थिति में आत्मा अपने कर्तव्य से च्युत होने की कमजोरी में न आ जावे, इसलिये पहले से ही धीरता का अभ्यास करने के लिये यह तप होता है। बाह्य में लोगों को कष्टमय अवस्था दिखने पर भी साधक के अन्तरंग में आत्मानुभव करने से अपूर्व आनन्द रहता है, यदि ऐसी स्थिरता नहीं आती तो भी उस स्थिति को लाने के लिये अभ्यासरूप में यथायोग्य प्रति समय इस प्रयोग को किया जाता है। जो मुनि कायक्लेश तप के अभ्यासी हो जाते हैं वे ही मुनि अपने गुरु के द्वारा सफल विहारी होने की अनुमति पा सकते हैं ऐसा आगम में कहा गया है। शरीर से उपेक्षाभाव होने पर कायक्लेश तप हो ही जाता है। ऐसे तप के होते रहते कोई-कोई तपस्वी को शुद्धि प्रगट हो जाती है, जिससे बाधा करने वाली परिस्थिति ही नहीं आ पाती। ऐसे योगीराज से भक्त चाहता है कि वे हमारा कल्याण करें। योगीराज तो वीतरागता की ओर ही बढ़े चले जाते हैं लेकिन उनकी तरफ आत्मझुकाव होने से भक्त के स्वयं कल्याणमय अवस्था प्रगट हो जाती है।

अन्तरङ्ग तपों में प्रथम प्रायश्चित्तनामा तप—अन्तरंग तप ६ तरह के हैं—१. प्रायश्चित, २. विनय, ३. वैयावृत्य, ४. स्वाध्याय, ५. व्युत्सर्ग और ६. ध्यान। प्राय: अधिकतर के लिये आता है किन्तु दूसरा अर्थ उसका अपराध भी है, यहाँ अपराध अर्थ ही लेना। और चित्त का अर्थ शुद्धि करना है तो अपराधों की शुद्धि करना प्रायश्चित्त तप है। अपराध-शुद्धि किस तरह होती है कि आगे उस अपराध को न किया जाये। अपराधों को बार-बार करता रहे और उनसे छूटने के लिये अमुक पाठ पढ़ ले, उपवास जाप आदि कर ले, रसों को छोड़ दे तो ऐसा व्यक्ति प्रायश्चित्त का अधिकारी नहीं है। प्रथम तो ऐसा ध्यान रखना चाहिये—भावना रहना चाहिये कि व्रतादि में कोई दूषण ही न लगे, यदि कदाचित् लग भी जाये तो उसका दंड लेकर आगे के लिये ऐसा सावधान रहे कि दोष की पुनरावृत्ति न हो सके।

प्रायश्चित्तशास्त्र के अध्ययन का अधिकारी—प्रायश्चित्तशास्त्र पढ़ने का सबको अधिकार नहीं है। साधुओं में भी आचार्य ही इसके पढ़ने के अधिकारी हैं और प्रायश्चित देने के भी वे ही अधिकारी हैं। यदि हर कोई प्रायश्चित्त शास्त्र पढ़ने लगे तो दोष लगाने में वह निर्भय हो जायेगा, क्योंकि उसे पहले से ही मालूम है कि अमुक दोष लगाने का यह प्रायश्चित्त होगा, उपवास एकाशन या जाप्य आदि सो कर लेंगे। देखो, यदि और किसी बड़े चारित्रवान ज्ञानी पुरुष से प्रायश्चित्त लेने की बात रहेगी तो व्रतादि में अतिचार लगाने से भय खायेगा कि इसका नहीं मालूम क्या दंड मिलेगा ? और साथ ही लज्जा और संकोच का भी भाव सोचकर हिचकता है कि गुरु के पास यह अपराध कहना पड़ेगा, उनके समक्ष हमें अपराधी के रूप में जाना पड़ेगा, गुरु की निगाह में मैं अयोग्य शिष्य समझा जाऊंगा आदि विचार उसके मन में आते हैं तो वह अपराध न करेगा। प्रायश्चित्तों का ज्ञान पहले से कुछ न रखे, बड़ों से जाकर प्रायश्चित ले ले। सिद्धान्त शास्त्र और आध्यात्मिक शास्त्र भी गुरुमुख से ही पढ़ना चाहिये क्योंकि इनके गहन स्थलों को गुरु बतावे प्राय: तभी यथार्थ बोध हो सकता है अन्यथा कुछ का कुछ समझ अपना व दूसरों का अहित भी कर सकता है, आगे की परिपाटी को सदोष बना सकता है।

प्रायश्चित्त का पात्र—प्रायश्चित लेने वाले को चाहिये कि अपने से बड़े ज्ञानवान चारित्रवान के समक्ष अपने अपराधों को व्रतादि में लगे अतिचारों को जैसा का तैसा प्रगट कर दे, कोई बात छुपावे नहीं। उसका दंड लेने से भय न खावे कि नहीं मालूम क्या प्रायश्चित्त दे देंगे ? फिर गुरु जैसा प्रायश्चित्त दें स्वीकार करना चाहिये और आगे ऐसा अवसर न आवे ऐसी भावना दृढ़ करना चाहिये। प्रायश्चित तप का यह बाह्य रूप है। इस तप में प्रतिक्रमण, आलोचना और प्रायश्चित तीनों शामिल हैं। मेरे पाप मिथ्या हों—यह भावना करना प्रतिक्रमण है। तो जो पाप किये हैं वे मिथ्या क्यों हों, झूठे क्यों हों जबकि ये किये गये है ? तो मिथ्या होने का भाव यह है कि आत्मा व द्रव्यमात्र सामान्यविशेषात्मक है। सामान्य वह है जिसके अनंत विशेष (पर्याय) होती हैं, सो जो वह एक सामान्य, विशेष - समय-समय के परिणमन में हैं, वह सर्वदा है। विशेष सर्वदा रहने वाला नहीं होता। ज्ञानी

विशेष में (पर्याय में) अहंपने का अनुभव नहीं करना चाहता, सामान्य में करना चाहता है, तो वह सामान्य कैसा है ? न प्रमत्त है, न अप्रमत्त है, न शुद्ध है, न अशुद्ध, न मुक्त है, न संसारी। मैं इन भेदों से रहित अभेद चित्सामान्य स्वरूप हूं। जब आत्मस्वरूप का ऐसा ख्याल आता तो पुण्य, पाप आदि जो (विशेष) हैं उन्हें अपना नहीं मानता। ऐसा सामान्य अनुभव करने वाले की आवाज है कि ये सब किये गये शुभ-अशुभ मिथ्या हों। विशेष में रहते हुए भी उसमें दृष्टि नहीं रखता। इसी एक सामान्य के विचार में प्रतिक्रमण, आलोचना और प्रत्याख्यान— ये तीनों हो जाती हैं। जो उदय में आ रहे विभावपरिणामों से अपने को लौटा लेता है उसके आलोचना हो गई, प्रायश्चित हो गया, पूर्वकृत पाप निष्फल होकर निर्जीर्ण हो गये, इसलिये प्रतिक्रमण भी हुआ। आगामी कर्म जो नहीं बंधे वह प्रत्याख्यान हो गया। ऐसा प्रायश्चित मुनिजन निरंतर करते रहते हैं। आप कहेंगे कि व्रतसमिति आदि पालने वाले को प्रायश्चित का सर्वदा अवसर क्यों? तो उत्तर है कि दोष सर्वदा होते रहते हैं, दोष जब सर्वदा हैं तो उसका प्रायश्चित्त भी है। कषायों की सत्ता सूक्ष्मतम रहने तक दोष होते ही रहते हैं बुद्धिपूर्वक नहीं तो अबुद्धिपूर्वक। अत: प्रायश्चित भी समय-समय पर करना पड़ता है।

विनय तप—२. दूसरा विनय तप है—यह तप इतने महत्त्व का है कि जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। विनय के बिना जीवन ही नहीं, उन्नति नहीं, लौकिक सिद्धि नहीं और परमार्थ भी नहीं। जितने भी सन्मार्गी हैं वे सब विनयशील हैं। अविनयी जग में रुलता रहता है और विनयवान् संसार से छूट जाता है। विनय से विद्या की प्राप्ति होती है, इह लोक सुधरता है और परलोक भी सुधरता है। विनयशीलता नहीं रहने के ही कारण घर-घर में लड़ाई होती है। समाज-समाज में विद्वेष चलता है और एक राष्ट्र दूसरे को हड़पने की फिकर में रहता है। यदि विनय हो तो सुख शांति रहती है क्योंकि विनय से सुबुद्धि जागृत रहती है। जो प्रतिभाशील छात्र होता है वह प्राय: विनयवान भी होता है, प्रतिभा भी उसकी विनय से ही चमकती है। अविनयी प्रतिभाशाली का अपवाद बहुत कम मिलेगा। मोक्षमार्ग में भी विनय के बिना आगे नहीं बढ़ सकता। मानी रहकर मोक्षमार्ग पर कैसे चल सकेगा ? कभी नहीं। परमार्थ की बात तो विनय बिना चलती ही नहीं। विभाव से रुचि हटाकर स्वभाव की रुचि किये बिना क्या कर सकता है ? देव, गुरु और धर्म; इनके आयतन और उपकरण में विनय आये बिना धर्म में बढ़ना कैसे संभव हो सकता है? मोक्षमार्गी का जीवन संयमी और साधु जीवन है, वह उसमे कोमलता, सहृदयता, दयालुता और नम्रता का भरा छलकता रहता है। कठोरता और उद्दण्डता मानो उसके जीवन का साथ छोड़ चुकी होती है। वह अपने कर्तव्य के प्रति कठोर होकर भी दूसरों के प्रति तो कोमल और सरल ही होता है। किसी को अच्छा बनना हो तो विनयशील बने। विनयवान पुत्र; पिता के द्वारा जहां तक संभव होता है सुखी जीवन बिताता है, पिता तकलीफ भोग कर भी उसकी सुविधा और सुख का ख्याल रखता है। तो क्या यह अच्छा है कि विनय की नीति से पिता को दु:खी भी होने दे और स्वयं सुखी होवे ? विनय; वह हृदय का स्वच्छ भाव है उसके कारण वह जिसके प्रति विनय किया जाता है मर मिटने के लिये तैयार रहता है फिर भी अपने को सुखी अनुभव करता है। विनय करने वाला और जिसके प्रति विनय की जाती है— ये

दोनों सुखी रहते हैं । विनय हथियार नहीं जो पर का प्रतिघात करे, वह तो फूल की माला है, जिसकी सुगन्धि और कोमलता पहनाने वाले को और पहिनने वाले को गुदगुदी पैदा करती है। विनय में वह गुण है कि पत्थर भी मोम बन जाता है, शत्रु भी मित्र हो जाते हैं और महापापी महान् धर्मात्मा महात्मा बन जाते हैं।

झूठे मान की झूठी शान—कोई बढ़िया भोजन खिलाने के बाद यह कह दे कि कहो क्या बढ़िया भोजन खिलाया। तुम्हारे बाप ने भी न खाया होगा, तो वह भोजन खिलाना उल्टा विद्वेष और दु:ख का कारण बन जायेगा। तो मान की शान छूटती क्यों नहीं ? यदि सुखी बनना चाहते हो तो झूठी शान को छोड़ना ही पड़ेगा। एक बार किसी राजा के दरबार में उपस्थित एक कवि से सुन्दरतम कविता करने को कहा गया। उसने कोरे कागज पर कुछ लिखने का बहाना करके कोरा कागज राजा को दे दिया और कहा कि यह कविता अति उत्तम है, लेकिन उसी को दिखेगी जो एक बाप का पैदा होगा। राजा कागज को हाथ में लेकर असमंजस में पड़ गया और सोचने लगा आखिर उपस्थित सभासदों में कविता के बारे में क्या मंतव्य जाहिर करूं ? आखिर यह सोचा कि यह कहकर कि 'मुझे नहीं दिखता क्या कैसा लिखा है' दोगला संतान बनना ठीक नहीं। अत: बोला कि कविजी ने बहुत सुन्दर कविता लिखी है। इसके समर्थन पाने के लिये अन्य कवियों को भी यह कोरा कागज देकर अनुमति ली गई, तो क्रमश: उन सबने राजा के जैसे विचारों के फेर में झूठमूठ कोरे कागज में—बहुत सुन्दर कविता लिखने की बात को पुष्ट किया। अन्त में वह रहस्य प्रगट होने पर सबको शर्मिन्दा होना पड़ा। तो झूठी शान में तथ्य कुछ नहीं केवल हैरानी के सिवा। कितना ही बनावा बनाया जाये और अपने को बड़ा दिखाया जाये, लेकिन सच्ची बात कभी न कभी सामने आ ही जाती है और बड़े की जगह छोटा बनना पड़ता है, क्योंकि प्राकृतिक नियम से यही बात है कि जो अपने को बड़ा दिखाना चाहता है, आत्म-प्रशंसा करता है, दूसरे को हल्का समझता है, ओछा बताता है वह स्वयं बड़ा न रह छोटा ही होता है। इस मान और शान ने संसार को डुबो रखा है लेकिन जिन्होंने उसे त्यागा और वे विनयशील हुए, लोक के अग्रणी बन गये। विनय गुण का अवलंबन लेने पर ज्ञानवान्, चारित्रवान् और निष्ठावान् बनने में कोई कठिनाई नहीं है। इसमें भारी गुण भरे हुए हैं। जिनका वर्णन करना कठिन है।

विनयहीनता; भविष्य की बुराई के लक्षण—हमें व्याकरण कई विद्वानों ने पढ़ाया, एक कपिलेश्वरजी थे, उन्होंने भी पढ़ाया है। उनकी टाँग टूटी थी। जब हम उनके पैर दबाते तो टूटी टाँग को दबाने में बड़ा आनन्द आता और गुरुजी को इष्ट था। मन में यह नहीं आता कि लंगड़े पैर को क्यों दबाया जाये ? लंगड़ेपन से विद्यागुरु से अनादर नहीं होता था। अब जमाना बड़ी तेजी से बदल रहा है कि विनयगुण भी हीन और हीनतर होता जाता है। पहले गुरु को साष्टांग विनय होती थी, फिर पंचांग होने लगी, पीछे हाथ जोड़ शिर नवाकर करने लगे। फिर शिर नवाना रह गया और केवल हाथ जोड़ना रह गया, अब हाथ जोड़ना भी मिट रहा है और मुंह से ही कुछ कहकर अभिवादन किया जाता है और साधारण अपने समान वालों में तो पाँच उँगली मस्तक

को लगाकर अथवा १ उँगली लगाकर अथवा मुँह से कुछ भी न बोल केवल हँसकर और यहां तक कि घूंसा-मुक्का आपस में लगाकर पैर में पैर मारकर अभिवादन करने की परिपाटी चल निकली है। ये अच्छे भविष्य के लक्षण नहीं हैं।

विनय से गुरु प्रसाद का लाभ—एक गुरु अपने सब छात्रों में से एक पर विशेष प्रेम रखते थे क्योंकि वह विनयवान् बहुत था। तब गुरुजी का झुकाव हो ही जाता था। एक बार गुरुजी की स्त्री ने कहा कि आप एक छात्र पर ही विशेष प्रेम क्यों रखते हैं ? उन्होंने उसका कारण समझाने के लिये एक प्रसंग बनाया। भुजा में आम का फल बांधकर छात्रों को यह मालूम कराया कि बड़े जोरों का दर्द करने वाला फोड़ा उठा है। तब सब छात्रों में से कोई डाक्टर को लाने की बात पूछता, कोई वैद्य को लाने की और कोई कुछ कोई कुछ। लेकिन गुरुजी ने कहा, इस फोड़े में मवाद है वही तकलीफ दे रही है यदि कोई मुंह से उसे चूस कर निकाल दे तो ठीक हो सकता है। एक को छोड़ सारे छात्र बगलें झांकने लगे। लेकिन उस विनयशील छात्र ने तुरन्त लपककर पीव चूसने की आतुरता दिखाई और मुंह लगा ही रखा था कि गुरुजी ने कहा—बस रहने दे, मिट गया फोड़ा। इतना ही देखना था और अपनी श्रीमती जी को कहा कि इस कारण से इस पर स्वाभाविक अधिक प्रेम है। विनय ऐसी चीज है जो हर तरह समृद्धिशाली बनाता है। ऊपरी विनय दंडवत करना और हाथ जोड़ना आदि है और अन्तरंग विनय है अपने मन वचन काय को सरल रखकर निश्छल स्वअनुराग करना।

विनय का मुख्य लक्षण अनुवृत्तिभाव—इच्छाओं की पूर्ति का यत्न रखना, अनुकूल चलना, उसे अनुवृत्तिभाव कहते हैं। जैसे कोई बेटा अपने बाप को भोजन तो बढ़िया करावे लेकिन उसकी बात न माने, तो उसका विनय करना नहीं हुआ। मन्दिर में जिनकी खूब स्तुति पूजा करे, लेकिन जिन भगवान के उपदेशों पर ध्यान ही न दे, सप्तव्यसनों आदि का भी सेवन करता रहे तो क्या वह भगवान का विनयकर्ता कहलायेगा ? नहीं। अरहंत सिद्ध में तो इच्छा का अभाव ही है। उनके उपदेश के अनुकूल चलना ही उनका विनय है। दो मित्र जो मिलते बहुत कम हों लेकिन एक दूसरे का हित चाहें, अनुकूल वृत्ति करें तो वे आपस में विनयशील कहलायेंगे, सच्चे मित्र कहलावेंगे। इसी तरह परमार्थ के विषय में भी समझना चाहिये। जिसकी विनय करते हैं उसकी अनुकूलता का ध्यान विनय में अवश्य होता है।

वैयावृत्य तप—३—तीसरा तप वैयावृत्य है। वैयावृत्य भी बड़े महत्त्व का तप है। धर्मात्मा पुरुषों की सेवा करना, उनके कष्टों को दूर करना; वैयावृत्य है। वैयावृत्य शब्द के अर्थ से उसका भाव समझिये 'व्यावृत्त्य भावं वैयावृत्त्यं'—निवृत्त पुरुष को व्यावृत कहते हैं। उस पुरुष का जो परिणाम है उसे वैयावृत्य कहते हैं। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि—विरक्त पुरुष के भाव को वैयावृत्त कहना कुछ ठीक सा मालूम नहीं पड़ता ? सो नहीं। जो सेवा-टहल आदि ऊपरी वैयावृत्य है यह विरक्तता के परिणाम से ही होता है। अर्थात् वैयावृत्ति करने वाले के परिणाम विरक्त, धर्ममय होते हैं तभी वह धर्मात्मा की सेवा-टहल करता है अन्यथा दिखावे के लिये, स्वार्थ के

लिये जो सेवा है, वह वैयावृत्य नहीं है, आत्मवंचना है वह। बच्चे का नाक, मल-मूत्र मातापिता साफ करते हैं और टहल वे बच्चे की करते हैं किन्तु उसे वैयावृत्य नहीं कहेंगे, क्योंकि वह विरक्ति-परिणामों से हुई सेवावृत्ति नहीं है। वह तो मूर्च्छा परिणामों से होने वाली वृत्ति है। विवेकरहित सेवा भी वैयावृत्ति नहीं है। दो शिष्य अपने गुरु के पैर दबा रहे थे। एक एक को, दूसरा दूसरे पैर को। एक शिष्य ने अपना दबाया जाने वाला पैर दूसरे से छुवा दिया तो उस पैर को दबाने वाला बिगड़ पड़ा कि हमारे पैर को क्यों तुमने अपने पैर से दबा दिया ? उसने अपना पैर दूसरे पर दे मारा। मतलब यह है कि वैयावृत्ति तो आराम पहुंचाने के लिये होना चाहिये, किन्तु अविवेक और कषाय से दु:ख देने वाली बन गई। यह तो मात्र बच्चों का दृष्टान्त है। ईर्ष्या या स्वार्थ से वैयावृत्य नहीं होता; सच यह है कि वैयावृत्य विरक्त पुरुष ही कर सकते हैं। वैयावृत्य स्वयं करे, दूसरों से कराये, वैयावृत्य की सराहना करे, उसकी व्यवस्था बनावे; ये सब उसके विविध रूप हैं। स्त्री सब मनुष्यों के सामने अपने बीमार पति की सेवा करने में संकोच करती है, दूर खड़ी है, फिर भी उसके सेवा के भाव हैं तो भी उस भाव को वैयावृत्य के भाव न कहेंगे, क्योंकि वह विरक्त भावों का रूप नहीं है। स्वयं दु:ख भोग ले, धर्मात्मा के दु:ख को दूर कर दे, ऐसी वृत्ति वैयावृत्य करने वाले के होती है। और उसके करने में भले ही उसे श्रम करना पड़ता है, दूसरों के दिखने में कष्ट उठाना पड़ता है लेकिन उसे उस कष्ट का अनुभव नहीं होता, प्रत्युत अपूर्व आनन्द का अनुभव होता।

स्वाध्याय अन्तस्तप—अन्तरङ्गतपों का चौथा भेद स्वाध्याय तप है स्वाध्याय इसलिये अन्तरङ्ग तप है कि उसका आत्मा से सम्बन्ध रहता है। जहां स्वआत्मा का अध्याय मनन होता है उसे स्वाध्याय कहते हैं। कोई सोचे या कहे कि चलो एकाध मिनट में कुछ भी पढ़ लेना स्वाध्याय के नियम की पूर्ति कर देगा, सो बात नहीं। स्वाध्याय ५ तरह का होता है—१ वाचना, २ पृच्छना, ३ अनुप्रेक्षा, ४ आम्नाय और ५ धर्मोपदेश। शास्त्र के पढ़ने में यदि वह अर्थ को विचारते हुए, उपयोग को लगाते हुए पढ़ा जा रहा है तो उसमें आत्ममनन अवश्य होगा। तत्त्वज्ञान के विषय में प्रश्न करना भी स्वाध्याय है क्योंकि जब तक तत्त्वज्ञान के श्रवण में, मनन में उपयोग नहीं होगा, उसको ठीक-ठीक या विस्तारपूर्वक समझने की जिज्ञासा नहीं होगी तब-तक प्रश्न करना सम्भव न होगा। हाँ, यह बात अवश्य है कि प्रश्नकर्ता का अभिप्राय निर्मल होना चाहिये। जिज्ञासावृत्ति से प्रश्न पूछा जाना चाहिये । तत्त्व के बार-बार विचारने में भी स्व का मनन होता है । आम्नाय अर्थात् पाठ करने में चित्त की चंचलता रुक, शब्द-शब्दार्थ और कभी-कभी परमार्थ पर ध्यान जमने से भी आत्मचिंतन होता है अत: वह भी स्वाध्याय है। धर्मोपदेश देना और धर्मोपदेश सुनना, इसमें भी स्व का अध्याय होता है। सुनने में कभी-कभी स्व का अध्याय सुनाने से अधिक होता है। शांति से वचन और काय के व्यापार से रहित होकर तत्त्वज्ञान के मनन करने का अवसर मिलता है। सुनाने में भी तत्त्व की ओर दृष्टि जाने से स्वाध्याय होता है क्योंकि जब तक जिस तात्त्विक बात को सुनाता है उसे विचार में न लाया जाये तो कैसे कहा जाये ? स्वरूप का अवधारण होकर निरपेक्षरूप अनादि, अनन्त और अहेतुक चित्स्वभाव का अवधारण निश्चय होना, तत्त्व के उन्मुख होना

स्वाध्याय है। ज्ञानी पुरुषों का स्वाध्याय, पुस्तक, श्रोता या किसी विद्वान् के अधीन नहीं है, किन्तु सारी परतन्त्रताओं को हटाकर स्वरूप के आधार से स्वाध्याय होता है। निरन्तर ऐसे स्वाध्याय को करने वाले, मोक्षमार्ग में चलने वाले ऋषियों को ऋद्धियों की प्राप्ति सुलभता से हो जाती है। जिनका उपयोग करने की भी योगी के मन में इच्छा नहीं होती।

ध्यान अन्तस्तप—५. ध्यान; सब ओर से चित्त का स्थिर हो जाना ध्यान तप है। इसमें भी कुछ करना आया, प्रवृत्ति आई, अत: वह ध्यान है। छहढाला में कहा है ''जहां ध्यान-ध्याता-ध्येय को न विकल्प वच भेद न जहां। चिद्भाव कर्म देश कर्ता, चेतना किरिया तहां।। तीनों अभिन्न अखिन्न शुद्ध उपयोग की निश्चल दशा। प्रगटी जहां दृग ज्ञान व्रत ये तीनधा एकै लसा।।'' जहां ध्यान, ध्याता और ध्येय— ये सब एक ही प्रकार से शोभायमान हो रहे हैं केवल चित्स्वभाव में परिणमते रहते हैं वहाँ उत्कृष्ट ध्यान होता है। श्री नेमिचन्द्र जी सिद्धांतचक्रवर्ती कहते हैं—''मा चिट्ठह मा जंपह, मा चिंतह किंवि जेण होइ थिरो। अप्पा अप्पम्मिरओ इणमेव परं हवेज्झाणं।।'' अर्थात् कुछ भी चेष्टा मत करो, न वचन से कुछ बोलो और न शरीर से कुछ करो। कल्पना, जल्पना और चलपना को छोड़कर आत्मा आत्मा में ही लग जावे, यही उत्कृष्ट ध्यान है। ऐसा ध्यान करने वालों के ही ऋद्धियां प्रगट होती हैं।

कायोत्सर्ग अन्तस्तप—६. कायोत्सर्ग—शरीर के ममत्व का त्याग करना, शरीर मैं नहीं हूं ऐसा मानना अथवा शरीर की दासता छोड़ना यही कायोत्सर्ग है। अंगुलियों के चलाने में व मंत्र पढ़ने में ही ध्यान रहने से कायोत्सर्ग नहीं होता। हाँ, मंत्रपाठ आदि उसकी एक पद्धति अवश्य है। निश्चय से काय में ममबुद्धि नहीं होना कायोत्सर्ग है । यह खड़े होकर होता है और बैठकर भी हो सकता है। शरीर का लक्ष्य बिल्कुल न रहे और एक ध्रुवस्वभाव को देखे; इसे कायोत्सर्ग कहते हैं। ऐसे तपों की साधना में निरन्तर रहने वाले योगियों के कई चमत्कारिक शक्तियों का प्रादुर्भाव हो जाता है तो ऋद्धि कहलाती हैं । ऐसे ऋद्धिधारी साधु हमारा कल्याण करें।

श्लोक ९

आमर्ष-सर्वोषधयश्तथाशी र्विषाविषा दृष्टि विषंविषाश्च।

सखिल्ल-विड्जल्ल-मलौषधीशा: स्वस्ति क्रियासु: परमर्षयो न: ।। ९ ।।

औषधिऋद्धियों में आमर्षौषधि ऋद्धिधारी ऋषिवरों का अभिवन्दन—उपर्युक्त औषधि ऋद्धिधारी योगीश्वर हमारा कल्याण करें। वे हमारा कल्याण करने के लिये नहीं आते, यदि वे इसी में फंस जायें तो वे मोही हो जावेंगे और यहाँ तो कुछ होने जाने का नहीं। आमर्षऋद्धि किसे कहते हैं ? जिनके अङ्ग-उपांग और उसमें लगी हुई धूल के लगते ही रोगियों के रोग दूर हो जावें ऐसे योगी की चमत्कारिक शक्ति को आमर्षऋद्धि कहते हैं।

देखो तो सही, आत्मा से पवित्र हो जाने से शरीर और उसमें लगी हुई धूल में कितना असर हो जाता है ? वास्तव में तो वह शुद्ध आत्मा ही परम औषधि है । किसी साधु के शरीर में वात कुष्ट आदि भयानक रोग हो जावें और वे ध्यान की निर्मलता से इस औषध ऋद्धि को प्राप्त कर लें तो शरीर के वे रोग तत्क्षण विलय जाते हैं, शरीर में अपूर्व कांति को भी मंद करने वाला ओज शरीर में प्रगट हो जाता है, दिव्य केवलज्ञान प्रगट हो जाता है । अति वीभत्स रोग को दूर करके शरीर को परमऔदारिक बनाने वाली आत्मा की निर्मलता को विचारो। जिससे ऐसी ऋद्धि प्रगट हो जाती है।

निष्काम तपश्चरण की महिमा—शुभचन्दाचार्य और भर्तृहरि भाई-भाई थे। शुभचन्दाचार्य बड़े और भर्तृहरि छोटे । इन दोनों राजपुत्रों को बचपन से ही वैराग्य हो गया। इनके बल को देख कौटुम्बिक ईर्ष्या बढ़ी, जब उन्हें मालूम हुआ कि राजलोभ से हमारे प्राणों के ग्राहक तैयार हैं तो संसार की असारता और तुच्छता देख घर छोड़ चले गये। शुभचन्द्राचार्य को दिगंबर साधु का आश्रम मिला, अतः वे दिगंबर दीक्षा ले तप तपने लगे और भर्तृहरि कोई अन्य तापसी का सहयोग मिला और वे तापसी दीक्षा से दीक्षित हुए। अपने-अपने रास्ते से तप तपते हुए वे अपनी पद्धति की तरक्की करने लगे । भर्तृहरि के गुरु ने खुश हो दो तूम्बी ऐसा रस दिया जिससे धूल-पत्थर सोना बन सकता था। अब भर्तृहरि ने अपने बड़े भाई की सुध और उनकी खबर लेने के लिये अपने शिष्यों को भेजा। पता लगाते-लगाते वे एक अटवी पर ध्यान लगाये मिले। तापसी शिष्यों ने सोचा कि कपड़ा तन पर नहीं, खाने-खिलाने को भोजन का ठिकाना नहीं, शरीर सूखा जा रहा है । बड़ी गरीब हीन हालत है गुरु के भाई की। यह दशा शिष्यों ने जा अपने गुरु भर्तृहरि को बतलायी। उन्होने दु:ख माना और एक तूम्बी रस उनके पास भिजवाया जिससे कि सोना तैयार कर गरीबी दूर कर सकें। रस की तूम्बी ले जाकर आचार्य जी को दी गई और उसका गुण बखाना गया। उसकी तारीफ सुन आचार्य ने तूंबी को उलट दिया और रस को व्यर्थ कर दिया। भर्तृहरि के शिष्य उनकी यह क्रिया देख पेशोपेश में पड़े और विचारा कि इनका मस्तक ठिकाने पर नहीं है। वापिस यह खबर मिलने पर वे कुछ शिष्यों के साथ स्वयं भाई के पास गये और मिलजुलकर साथ की दूसरी रस तूंबी छोटे भाई ने बड़े को दी, तो आचार्य ने उसे भी उड़ेल दिया, भर्तृहरि को बड़ा पश्चात्ताप हुआ और इसका दु:ख प्रकट किया। शुभचन्द्राचार्य ने उन्हें सम्बोधा— यदि माया में ही फंसे रहना था तो आपने घर क्यों छोड़ा ? जिस साधना के लिये निकले थे उसको भूल गये और कुचक्र में पड़ गये। यदि सोना ही चाहिये तो लो यह कहकर पैर के नीचे की धूल पास की शिला पर डाल दी। वह शिला तत्काल ही स्वर्ण की हो गई। भर्तृहरि को भाई की इस अलौकिक साधना के चमत्कार को देख चेत आया और वह अपनी तुच्छता पर लजाये। सच है, वास्तविक वस्तु से बहुत से प्राणी अनभिज्ञ ही रहते हैं और बाह्यपदार्थ में ही सब कुछ पाने के लिये लगे रहते हैं, भटकते रहते हैं। लोग अपने से अत्यन्त भिन्न पदार्थ के लिये इतने मरे जा रहे हैं, संग्रह की बुद्धि नहीं हटती। वे एक बार भी अपने को सांसारिक भार से रहित अनुभव नहीं कर पाते लेकिन सम्यग्दृष्टि

जीव ऐसा अनुभव करता रहता है जिससे वह ऋद्धि प्रगट हो जाती है कि नख, केश तथा शरीर की स्पर्श की हुई धूल रोगी के शरीर में लगते ही उसे चंगा कर देती है।

सर्वौषधि, आशीविष, दृष्टिविष ऋद्धिधारी ऋषिश्वरों का अभिवन्दन—सर्वोषधि ऋद्धि वह है कि जो शरीरमात्र को औषधिरूप कर देती है। उस शरीर के स्पर्श से बहती हुई हवा रोगी के शरीर को मिल जाये तो रोग तत्क्षण दूर हो जायें, भूत प्रेत और सर्पादिक भय भाग जायें। आशीविष या आशीर्विषऋद्धि के प्रताप से कितनी ही अद्भुत बातें होने लगती हैं। कोई व्यक्ति मूर्छित पड़ा हो और उससे ऐसे योगी कुछ कह दें, आर्शीवाद दे दें तो बेहोशी भाग जाती है। खाया हुआ विष भी ऐसे योगी को अमृतरूप परिणमता है। दृष्टिविषऋद्धि जिनके प्रगट हुई है वे यदि किसी मूर्छित प्राणी की तरफ दृष्टि कर लें तो उसकी मूर्छा दूर हो जाती है ! कोई तरह के विष का असर किसी पर का हो गया हो और उसकी तरफ इस ऋद्धि के धारी योगी दृष्टिपात करें तो वह विष का भाव नष्ट हो जाये। यदि कोई दुष्ट ऐसे योगीश्वरों पर उपसर्ग करे तो भी वे अपनी शक्ति का प्रयोग नहीं करते फिर भी किसी के कदाचित् कषाय का आवेग आ जाये तो उसकी ओर कठोर दृष्टिपात करने से उसका बुरा हो जाता है। लोक के साधारण व्यक्तियों में भी ऐसा सुना जाता है कि किसी की दृष्टि से भला और किसी की दृष्टि से बुरा हो जाता है। छोटे बच्चे को इसीलिये डठूला (काला टीका) लगाने की रूढ़ि कि बच्चे को नजर का दोष न लग पावे। ऋद्धिधारी योगीश्वरों के दर्शन और वचन दुर्लभ होते हैं। जहां वे रहते हैं वहाँ अपूर्व शांति रहती है। ऐसे ऋषीश्वर हमारा कल्याण करें।

सखिल्ल, विड, जल्ल, मल औषधि ऋद्धिधारी ऋषीश्वरों का अभिवन्दन—सखिल्ल ऋद्धि जिस योगी के होती है उसका थूक वा खकार का स्पर्श हो जाने पर रोग दूर हो जाते हैं। यह सब वर्णन द्वादशांग शास्त्र में आया हुआ है। षट्खंडागम के आठवें अध्याय में इनका वर्णन है। चित्स्वभाव की उपासना से ऐसी ऋद्धि प्रगट हो जाती है कि उनके थूक और खकार में भी रोग दूर होने का प्रभाव आ जाता है। अब भी यहाँ यह देखा जाता है कि संयम पालने वाले, उपवास करने वाले के खकार आदि में बदबू नहीं आती। इतने पर से अनुमान कर लें कि जो निरंतर आत्मा के समीप—आत्मस्थ रहते हों उनके शरीर और मलादि पर कैसा प्रभाव पड़ता होगा ? ऐसे साधक के आत्मप्रदेशों से स्पर्शित पुद्गल मात्र औषधिरूप हो जाता है। विड ऋद्धि—वह है जिसके प्रभाव से योगियों के मलमूत्र आदि मल का स्पर्श हो जाने पर रोगियों के रोग दूर हो जाते है। भागवत में जहां ऋषभदेव का वर्णन किया है वहां बतलाया है कि उनके शरीर में की सुगन्धि कोसों दूर तक जाती थी तो आत्मा की पवित्रता से शरीर और शरीर के संयोगी पदार्थों में अपूर्वता आ जाये, इसमें कोई विस्मय नहीं है। वह पवित्र आत्मा उन पुद्गलों को ऐसा परिणमा देता हो यह बात नहीं किन्तु ऐसी पवित्र आत्मा के शरीर में ऐसे विलक्षण पुद्गलों का आवास और परिणमन होता है, उनका निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध ऐसा ही है। जलऋद्धि वह है जिससे इस ऋद्धिधारी का पसीना या पसीना से लगी हुई धूल का स्पर्श होने पर रोग दूर हो जाते है। मल्लौषधिऋद्धि

वह है जिससे कान आदि के मल के स्पर्श को निमित्त पाकर रोग दूर हो जाते हैं। ऐसे अनेक औषधि ऋद्धि के धारी ऋषीश्वर हमारा कल्याण करें। जिनकी आत्मा ऐसे वैभव से पूर्ण है वह आत्मवैभव, आत्मनिर्मलता हमारी हममें प्रगट करें। अब रस ऋद्धिधारियों कल्याण की कामना पूजक करता है:—

श्लोक १०

क्षीरं स्रवंतोऽत्र घृतंस्रवन्तो, मधुस्रवंतोऽप्यमृतंस्रवंत:।

अक्षीणसंवासमहानसाश्च, स्वस्ति क्रियासु: परमर्षयो न: ।। १० ।।

क्षीरस्रावि ऋद्धिधारी ऋषीश्वरों का अभिवंदन—क्षीरऋद्धि के धारी ऋषि रूखा भी आहार कर लें तो वह दूधरूप मिष्ठ और पुष्टिकारक हो जाता है अथवा उनके वचन आत्मसाधक होते हैं। आत्मा को भी दूध के समान पुष्ट करने वाले होते हैं। आप सोचो कि यह बड़े आनन्द की बात है। यदि हममें ऐसी ऋद्धि हो जाये तो अच्छा हो। सो भाई ! ऐसा होना असंभव है, इच्छा में वह योगसाधन कहा रहा जिससे ऐसी ऋद्धि हो जाये। इच्छा करने वालों को ऋद्धियां नहीं हुआ करती। संसार के इस वैभव का यही हाल है कि इच्छा करने से नहीं मिलता और इच्छाओं का त्याग करने से पीछे लगता है छाया की तरह । वैश्य के सेवक को यह दोहा बड़ा पसंद था—''होंगे दयाल तो देंगे बुला के। कौन जायेगा लेने देंगे घर आके।।'' इस दोहे को वह हमेशा बोला करे और उसके मन में यह विश्वास जमा कि—जब भगवान ही हमारी फिकर करने वाले हैं तो हमें क्यों किसी बात की परवाह करना ? एक समय उस वैश्य के घर में चोर औंड़ा लगाने लगे, सो औंड़ा नौकर की जगह पर लग गया। नौकर को चोरों का हाल मालूम पड़ा तो उसके मुंह से कह आया कि अमुक जगह अमुक वृक्ष के नीचे अशर्फियों का हंडा गड़ा है, वहाँ से क्यों नहीं लाते ? हमारे यहाँ क्या रखा है ? एक बार उस जगह किसी चोर को अशर्फियों का एक हंडा गाड़ते हुए उसने देख लिया था, लेकिन यह बात उसने किसी से न कही और न उस धन को स्वयं ले लेने का भाव किया। लेकिन उस प्रसंग में उसे यह एकाएक कह आया। चोर उसके घर का औंड़ा करना छोड़ उस झाड़ की जगह पर गये जहां अशर्फियों का हंडा गड़ा हुआ था और निर्दिष्ठ स्थान को खोदने लगे, खोदते-खोदते हंडा निकल आया, लेकिन ज्यों ही उसके मुंह को खोला कि उसमें से ततैया उड़ने लगी। चोरों ने सोचा बनिया ने तो अपने साथ बड़ी चालबाजी चली है, चलो इस हंडे का मुंह बंद करके इसे उसके घर पर ले चलें और इसमें भरी हुई ततैया उसके घर पर छोड़ दें। ऐसा ही किया। हंडा को लाकर उसी औंड़े के मुंह में से जिसमें से कि चोरी करने को भीतर जाना चाहते थे हंडे का मुंह करके उसे उड़ेलने लगे। भाग्य की बात उस हंडे में से खनाखन अशर्फियां उड़ेल पड़ीं, जो अशर्फिया चोरों के लिये ततैयों के रूप में थीं।

उपेक्षा में समृद्धिलाभ—भैया ! सांसारिक वैभव उपेक्षा करने से पीछे लगता है और अपेक्षा रखने से दूर भागता है। अरे ! शरीर भी तो साथ नहीं देता जो आत्मा के प्रति निकट सम्पर्क में है। जो शरीर और विषय के ध्यान में रहते है उनके ऋद्धियां नहीं होतीं। लेकिन जो आत्मध्यान से रत रहते हैं उनके ऋद्धियां प्रगट होती हैं। ऐसे ऋद्धिधारी यतीश्वर हमारा कल्याण करें। यहाँ पर ऋद्धियों की महानता का अभिप्राय नहीं है किन्तु जिस तपस्या के बल में ऋद्धियां हो जाती हैं उस योग-साधना का और उस योगी का स्मरण, पूजन की प्रस्तावना में किया गया है। पूजक ने निश्चय से अपनी आत्मा और व्यवहार से पंचपरमेष्ठी वा देव शास्त्र गुरु को आराध्य माना है। वह अपने कार्य की प्रस्तावना में आराध्य देवताओं को जो कि आत्मादि अनेक वैभवों से परिपूर्ण हैं उन्हें ध्यान में लाकर आत्मा की निर्मलता को बढ़ाया जा रहा है।

घृतस्रावि, मधुस्रावि व अमृतस्रावि ऋद्धिधारी ऋषीश्वरों का अभिनन्दन—घृतस्रावि ऋद्धि जिनके प्रगट हो उनके हाथ में आया हुआ आहार घृतरूप परिणम जाता है, अर्थात् रूखा-सूखा भी आहार घी के समान स्वादिष्ट और पुष्टिकारक हो जाता है और वचन भी जिनके घी के समान मिष्ट और पुष्टिकारक होते हैं। आत्मचिंतना से, रागद्वेष हटाने से ऐसा चमत्कार जिनके प्रगट हो जाता है ऐसे वे ऋषीश्वर हमारा कल्याण करें। मधुस्रावि ऋद्धि—वह है जिससे रूखा आहार भी मिष्ठान्न के समान मीठा हो जाये, वह पूरा का पूरा आहार जिसमें से कि उन ऋषि को आहार कराया गया है अति मिष्ठ हो जाता है। इस ऋद्धिधारी के वचन भी अति मिष्ठ और मिष्ठान्न के समान शरीर को संतुष्ट करने वाले होते हैं। देखो, भक्तिपूर्वक नीरस आहार बनाओ तो उस दातार के घर उस दिन आहार में मिठास आ जाता है, विशेष रूचिपूर्वक खाया जाता है। जबकि साधारण दिनों के आहार में वह मिठास नहीं आता चाहे जितना ही मीठा क्यों न बनाया गया है। जब आज के साधारण पात्रों की ऐसी विशेषता है तब प्राचीन काल के तपस्वियों की विशेषता का तो कहना ही क्या ? तो पात्र और दातार के गुणों से आहार में भी विशेषता आ जाया करती है। अमृतऋद्धि से विष के समान कडुवा अथवा विष भी खाया जाने पर अमृत के समान हो जाता है। इस ऋद्धि से ऋद्धिधारी के वचनों में भी ऐसी विशेषता होती है कि वह अमृत के समान प्रिय और गुणकारी होता है।

अक्षीणसंवास व अक्षीणमहानस ऋद्धि के ईश्वरों का अभिवन्दन—अक्षीणसंवासऋद्धि—वह है कि जिस साधु के यह प्रगट हो जाती है वह जिस जगह हो वहां की यदि चक्रवर्ती का कटक भी पहुंच जाये तो भी जगह की कमी नहीं पड़ती। ऐसे ऋद्धिश्वरों को हमारा अभिवन्दन हो। अक्षीणमहानसऋद्धि—जिन मुनि के हो वे जिसके घर भोजन करें, उसके घर का उस दिन का आहार इतना अटूट हो जाता है कि कितने भी भोजन करने वाले आवें कमी नहीं पड़ती। चक्रवर्ती का कटक भी उसमें आसानी से भोजन कर सकता है। ऐसी ऋद्धियां जिन योगीश्वरों के ध्यान के प्रताप से प्रगट हो जाती हैं वे ऋषीश्वर हमारा कल्याण करें। यहाँ तक प्रस्तावना का प्रकरण हुआ। प्रस्तावना के बाद वर्तमान पूजन करने की पद्धति यह है कि पहले देव शास्त्र गुरु की पूजा करते

हैं। सम्यग्दर्शन के लक्षण में भी व्यवहार से देव, शास्त्र और गुरु के श्रद्धान करने को सम्यग्दर्शन कहते हैं। यथा—रत्नकरंड श्रावकाचार में—''श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागम तपोभृताम्। त्रिमूढ़ापोढ़मष्टाङ्ग सम्यग्दर्शनमस्मयम्।।'' अर्थात् तीन मूढ़तारहित अष्ट मदरहित और अङ्गों से सहित परमार्थ आप्त आगम और तपस्वी इनकी श्रद्धा करना सम्यग्दर्शन कहलाता है।

(इति परमर्षिस्वस्तिमङ्गल विधानम्)

प्रत्येक कार्य में उसके अनुरूप देव शास्त्र गुरु की उपयोगिता—देखिये, व्यवहार के काम में भी इन तीनों के बिना काम नहीं चलता। जैसे—संगीत सीखने वालों को उसका आदर्श उस विषयक पुस्तक और उसको सिखाने वाले शिक्षक की आवश्यकता पड़ती है। इसी तरह व्यापार आदि में भी ऐसी तीन चीज़ों की ज़रूरत पड़ती है । धर्म धारण करने में भी तीन चीजों की जरूरत पड़ती है । पहिले वह कि जिनकी आत्मा अत्यन्त निर्मल हो गई हो, आदर्शरूप में मानने के लिये उंगली जिस पर उठती है वह है देवाधि-देव अरहंत सिद्ध परमात्मा। जयपुर में दरोगा जी के मंदिर में काले पाषाण की मूर्ति पहिले मिलती थी, उसका दर्शन करते थे तो मानो वह हमसे कहती हो कि तुम कहां भटकते हो, सुख-शान्ति तो यहां है। ऐसा मालूम हो कि साक्षात् कोई निर्मलात्मा महापुरुष बैठा है और कह रहा है कि सुख शान्ति के लिये अपने में लीन रहो। तो देव के स्थानापन्न स्थापित उनकी मूर्ति भी हमारी आराधना का अवलम्बन है और शास्त्र वह जो रागद्वेष हटाने की शिक्षा देता हो । गुरु वे हैं जो बाहर और अन्दर के परिग्रह से रहित हों तथा ज्ञान, ध्यान में तप में लीन रहते हों। धर्मात्माओं को धर्म के लिये आत्मा के सिवा बाह्य ध्यान में इन तीन का अवलंबन लेना आवश्यक है और इसलिये वह इन तीनों की पूजा करता है।

विद्यमान तीर्थंकरों की उपासना—देव शास्त्र गुरु की पूजा कर चुकने के बाद बीस तीर्थंकरों की पूजा की जाती है । वर्तमान में भरतक्षेत्र में तीर्थंकर नहीं हैं किन्तु कुछ क्षेत्र आगे बढ़कर विदेहक्षेत्र में कम से कम २० तीर्थंकर मौजूद हैं। कभी अधिक भी हो सकते हैं लेकिन कम से कम जम्बूद्वीप, धातुकी खंड और पुष्करवर द्वीप के ५ विदेहक्षेत्रों में मिलाकर कम से कम २० तीर्थंकर तो हमेशा मौजूद रहते हैं। स्थान का केवल फर्क है। तीर्थंकर तो अभी भी मौजूद हैं। यदि हमारी भावना उनसे मिलने की, उनके दर्शन करने की अथवा उनकी दिव्यध्वनि सुनने की प्रबल हो तो हम उनसे मिल सकते हैं। आवश्यकता केवल इस बात की है कि धीरतापूर्वक १०, २० वर्ष या मुहूर्त मात्र भी धर्म की आराधना करते हुए अंत में प्राणों को छोड़ें, उनके ध्यान में अपने को न्योछावर कर दें, समवशरण में स्थित अरहंत का जैसा वर्णन किया है उसी तरह अलौकिक विभूतिसहित समवशरण को ध्यान में लाकर श्री मण्डप के आठ प्रातिहार्यों से युक्त कमल पर अन्तरिक्ष ५०० धनुष प्रमाण उत्तुंग परम औदारिक शरीर में स्थित राग द्वेषादि विकारों से रहित पूर्णज्ञानी चित्स्वभाव में सदा लीन, अमूर्त, अनन्त शक्ति-सुख-सम्पन्न अरहंत को अनुभव में लावें। ऐसा अनुभव करने के लिये बार-बार अभ्यास करें।

सामायिक में एकाग्रतापूर्वक ऐसे अरहंत प्रभु का दर्शन करने का ध्यान जोड़ें। उस समय केवल उन्हीं के दर्शन के लिये लालायित होकर और सब कुछ भूलकर केवल उनका दर्शन-अनुभव पाने का एकमात्र लक्ष्य रखकर यदि हम अपना ध्यान जोड़ें तो अवश्य ही उसका अनुभव आयेगा और आत्मा (स्वात्मा) के भी दर्शन होंगे। क्योंकि कहा है कि—

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्त पज्जयत्तेहिं।

सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं।।२८।।

अर्हंत्स्वरूप के ध्यान में आत्मप्रभुता का दर्शन—द्रव्यपने गुणपने और पर्यायपने से जो अरहंत को जानता है वह अपनी आत्मा को जानता है क्योंकि अरहंत की शुद्ध आत्मा जैसी है, स्वरूप से हमारी आत्मा भी वैसी है, उसमें लेशमात्र भी अन्तर नहीं है। अत: अरहंत को जानना अपनी आत्मा को ही जानना है और अपनी आत्मा को जानना सो अरहंत को जानना है । सो ऐसे अरहंत को मन में विचारकर यह ध्यान में लावें—मानो समवशरण में बैठे साक्षात् तीर्थंकर देव के दर्शन हो रहे हैं, उनकी दिव्यध्वनि हो रही है और मैं सुन रहा हूं, वहीं और अनेक ऋद्धिधारी ऋषीश्वर, उत्तम-मध्यम-जघन्य-भव्य श्रावक-श्राविकाएं भी बैठी हुई भगवान की दिव्यध्वनि का पान कर रही हैं। इस विचार में दो तरह की वृत्ति आत्मा की होगी—एक तो यह बाह्य दिव्यध्वनि आदिरूप और दूसरी वह जहां न समवशरण है और न परमऔदारिक शरीर, किंतु वही एक चेतना-पुंज आत्मा है जिसमें परम वीतरागता है, पूर्ण ज्ञान है। इस तरह बाह्य और अभ्यन्तर रूप से जब हम विदेह क्षेत्र में स्थित तीर्थंकरदेव का परोक्ष में अपने हृदय में ही दर्शन करने का आनन्द लेने लगेंगे तब हमारी आत्मा में वह निर्मलता आयेगी कि जिससे हमें सम्यक्त्व न जगा होगा तो सम्यक्त्व होगा और मरण करके हमें उत्तम देवों की योनियों में वह स्थान मिलेगा जहां से हम प्रतिदिन चारों कालों में दिव्यध्वनि सुनने के लिये विदेह क्षेत्र पहुंच सकेंगे। सम्यक्त्व होने पर देवायु बन्धती है। अत: कोई सम्यग्दृष्टि चाहे कि मनुष्य होकर हमें विदेह क्षेत्र में भगवान के समागम का अवसर मिले सो नहीं हो सकता। हाँ, यदि सम्यक्त्व न हो पावे या छूट जावे और हमारी भावना और ध्यान का अभ्यास उपर्युक्त प्रकार से उनके समागम का चलता रहे तो विदेहक्षेत्र में जन्म लेना कुछ भी कठिन बात नहीं है। भक्त ने ठीक ही कहा है कि 'तुम्हें ढूंढ़ ही लेंगे कहीं न कहीं' कौन चीज दुर्लभ है पुरुषार्थ से ? कोई नहीं। यही आत्मा जो अनन्त काल से कर्मों की चोटें सह रहा है वही अरहंत और सिद्ध बनता है । अनंत जितने भी अरहंत और सिद्ध हुए हैं वे ऐसी ही दु:खमयी संसारी पर्याय को पार करके हुए हैं। पूजक को बीस तीर्थंकर पूजा करते समय विदेहक्षेत्र में स्थित सीमंधर आदि तीर्थंकरों को अपने हृदय में स्थापित करके, और जिसकी तदाकारता को दिखाने के लिये सामने मूर्ति का अवलंबन है, उस मूर्ति का अवलंबन लेते हुए भगवान में तन्मय होकर पूजा करना चाहिये, मानो विदेह क्षेत्र में नहीं, मेरे हृदय में ही सीमंधरादि तीर्थंकर मौजूद है। अथवा मैं यहाँ भरतक्षेत्र के जिनालय में नहीं किन्तु विदेहक्षेत्र के समवशरण में स्थित भगवान की

पूजा कर रहा हूं। ऐसी पूजा करने वाले भक्त को कहिये भगवान के दर्शन क्यों न होंगे ? अवश्य होंगे। इस भव में परोक्ष में तो उनका आभास ही आवेगा किन्तु आयु का अन्त होने पर अवश्य ही उनका सत्समागम मिलेगा और हम अपने को कृतार्थ करेंगे। बीस तीर्थंकरों की पूजा के बाद अकृत्रिम चैत्यालयों की पूजा की जाती है अथवा अर्घ्य चढ़ाते हैं पश्चात् सिद्ध पूजा करते हैं। स्थापना में बोलते हैं—

सिद्धपूजा

स्थापना

ऊर्ध्वाधोरयुतं सविंदुसपरं ब्रह्मस्वरावेष्टितं,
वर्गापूरितदिगताम्बुजदलं तत्सन्धितत्त्वान्वितम् ।
अंत:पत्रतटेष्वनाहतयुतं ह्रींकारसंवेष्टितम्,
देवं ध्यायति यः स मुक्तिसुभगो वैरीभकण्ठीरवः।।२९।।

सिद्धस्वरूप की चित्त में स्थापना—सिद्ध भगवान में प्रदेशत्व गुण के कारण अमूर्त आकार है, फिर भी मूर्तिमान कोई आकार उनका नहीं है, क्योंकि मूर्तिकपना पुद्गल का ही गुण है, अशुद्ध दशा में जब आत्मा रहता है तब शरीर के संयोग से उसका भी कुछ न कुछ शरीराकार आकार व्यवहार से कहा जाता है। निश्चय से तो संसारी दशा में भी आत्मा के प्रदेशों में मूर्तिकपना नहीं आ जाता, शरीराकार रहकर भी अमूर्त ही रहता है और फिर सिद्ध दशा प्राप्त कर लेने पर तो शरीर का भी संग छूट जाता है। अत: सिद्ध भगवान के कोई मूर्तरूप नहीं है, अरहंत जैसे प्रातिहार्य आदि कोई औपाधिक रूप भी नहीं है। अत: उनका वर्णन मूर्त बीजाक्षरों द्वारा करते हैं—क्योंकि व्यवहार-बहुल गृहस्थों के अमूर्त आत्मा के अवलम्बन में मन ठहरता नहीं, अत: कोई मूर्त रूप का आलंबन लेना पड़ता है, जिसके विचारते-विचारते उस चित्स्वभाव में भी दृष्टि पहुंच जावे ।उन बीजाक्षरों द्वारा इस प्रकार वर्णन है—जैसा कि उपर्युक्त श्लोक में कहा है। ऊपर और नीचे ''र'' से सहित तथा बिन्दुसहित सपर अर्थात् 'स' से आगे का अक्षर ''ह'' । यह तो मन्त्र के बीच में है, जिसका आकार ऐसा बना 'र्ह्रं' फिर वह बीजाक्षर ब्रह्मस्वरों से वेष्ठित है अर्थात् उसकी दक्षिण परिक्रमा करते हुए 'अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अ:' ये स्वर लिखे जावें। फिर ५ पांखुड़ी बनायी जावें, उन पांखुड़ियों की संधि में णमोकार मन्त्र का एक-एक वाक्यपद लिखे और दलों में क्रमश: वर्गाक्षर लिखे। अन्त:पत्रतटों में अनाहत युत और ह्रीं-कार सहित लिखें। इत्यादि विधि से यन्त्र को पूरित करें। इन अक्षरों से वाच्य देव का जो ध्यान करता है वह मुक्तिलक्ष्मी से सुशोभित होता है। जैसे कि हाथियों को भगाकर सिंह सुशोभित होता है, इसी तरह सिद्ध भगवान का ध्यान करने से शत्रुओं को भगाकर आत्मा अपने स्वरूप में सुशोभित होता है। उक्त कथनानुसार स्वरों और व्यंजनों के द्वारा सिद्ध भगवान की स्थापना का संकल्प किया गया है। आगे उस सिद्ध परमात्मा के स्वरूप को स्मरण किया जाता है—

(अनुष्टुप)

स्थापना

निरस्तकर्मसम्बंधं, सूक्ष्मं नित्यं निरामयम्। वन्देऽहं परमात्मानममूर्तमनुपद्रवम्।।३०।।

निष्कर्मा सिद्ध भगवंत का अभिवंदन—जिन्होंके कर्म का बन्धन छूट गया है, यद्यपि अरहंत के पूर्वमोह कर्म तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय निमित्तदृष्टि से ये ४ सीधे आत्मा पर असर करने वाले कर्म नष्ट हो चुके होते हैं फिर भी आयु, नाम, गोत्र और वेदनीय ये ४ कर्म अपनी सत्ता रखते ही हैं जिससे शरीर और आयु की स्थिति में रहना पड़ता है। योगों की चंचलता से अव्याबाध गुण की पूर्ण स्थिति नहीं होती, अगुरुलघु गुण भी व्यक्त नहीं होता। यद्यपि इन स्थितियों से आत्मा में कोई वीतरागता की हानि नहीं होती तो भी जली हुई रस्सी की गौड़ेरी (ऐंठ) के समान निरर्थक किन्तु सत्ता में बैठे हुए कर्म अपना अस्तित्त्व रखते ही है। किंतु सिद्ध भगवान के इन शेष चार कर्मों का भी सम्बन्ध छूट जाता है अत: आत्मा का वह सूक्ष्म अमूर्त रूप प्रगट हो जाता है। कर्मों के सम्बन्ध छूटने से सिद्ध आत्मा सर्वदा अनन्त काल तक के लिये हर तरह की व्याधियों से उन्मुक्त रहते हैं। ऐसे अमूर्त और मोह-क्षोभ आदि के निमित्त से उठने वाले उपद्रवों से सर्वथा रहित आत्मा को मैं नमस्कार करता हूं। अमूर्त आत्मा का शुद्ध रूप हृदय में विचारने से भावनमस्कार हुआ और उसके कारण शरीर की नम्रतारूप चेष्टा द्रव्यनमस्कार हुआ। लेकिन यहाँ भावनमस्कार की प्रधानता है क्योंकि सिद्ध पूजा शुद्ध आत्मा को स्पर्श करने वाले भावों से ही होती है।

(भावष्टक द्रुतविलम्बित)

जल छंद

निजमनोमणिभाजनभारया, समरसैकसुधारसधारया।

सकलबोधकलारमणीयकं, सहजसिद्धमहं परिपूजये ।।

सहजसिद्ध ज्ञायकस्वरूप की अभ्यर्चना—सिद्ध पूजा का यह भावाष्टक परम रहस्य से भरा कल्याण से ओतप्रोत है। मैं सहज सिद्ध की पूजा करता हूं। किसकी पूजा की जा रही है ? सहज सिद्ध की। कौन सहज सिद्ध है ? कर्मों को नष्ट करने वाले सिद्ध तो सिद्धालय में है जिसको और लोग सदामुक्त कहा करते हैं। जो स्वभाव से निष्पन्न है, पूर्ण शुद्ध है ऐसा आत्मा सहजसिद्ध है, जो कि सामान्य स्वभाववान अनादि-अनन्त और अहेतुक है। साधक को सिद्ध बनने की कोशिश नहीं होती, परमात्मा तो निज आत्मा स्वभावत: है, किन्तु राग द्वेष आदि जो सब लगे हुए हैं उनको दूर करने की कोशिश होती है। जो मनुष्य है वही बालक, वृद्ध और युवा है अथवा जो बालक, युवा और वृद्ध है वह मनुष्य ही है। यह वही मनुष्य है जिसे १० साल पहले देखा था।

यह लौकिक दृष्टांत बता रहा है कि बालक, युवा आदि सब दशाओं में एक मनुष्यत्व के समान जो सब दशाओं में एक रहा वह एक क्या है ? उसको कोई दिखा सकता है क्या ? नहीं। जैसे मनुष्य को हम दिखाना चाहेंगे, जानना चाहेंगे तो वह कोई न कोई दशा में ही मिलेगा, दशा से अतिरिक्त उस सामान्य को देखने में हम असमर्थ हैं, लेकिन उसके बिना दशायें नहीं। क्योंकि यदि बालक को ही मनुष्य मान लें तो बालकपन खतम होते ही मनुष्यपना खतम हो जाना चाहिये, सो होता नहीं। इसी तरह युवा और वृद्ध को ही मनुष्य मान लें तो दूसरी अवस्थाओं में मनुष्यपना नहीं रहना चाहिये, सो होता नहीं। जैसे बालयुवा आदि सब अवस्थाओं में मनुष्य एक है इसी प्रकार जीव की पर्याय मनुष्य, तिर्यञ्चादि के रूप में होती रहती है किन्तु जो मनुष्य है, देव है, नारकी व तिर्यञ्च है वह आत्मा नहीं है किन्तु जो सब दशाओं में रहता है वह एक आत्मा है । यह द्रव्य से बताया, अब गुण और पर्याय से बताते हैं ।

गुण व पर्यायापेक्षया सहजसिद्ध की अभ्यर्चना—जीव का असाधारण स्वभाव ज्ञान-सामान्य है और पुस्तक को जाना, मूर्ति को जाना, भगवान के शरीर को जाना आदि पर्यायज्ञान है, ये ज्ञानगुण की पर्यायें हैं । आत्मा-अनात्मा आदि जाना सो ये किसके परिणमन हैं ? ये एक सामान्य ज्ञानस्वभाव की पर्यायें हैं । जिस एक ज्ञान की विभूतियाँ चलती हैं वह ज्ञान सहजसिद्ध है। यह सहजसिद्धता गुण की अपेक्षा से है। अब पर्यायापेक्षया सहजसिद्धता देखिये—गुप्ति, समिति, संयम पालकर सर्व विकल्पों से अतीत होकर जो कर्मों से रहित हो गये, निर्मलदशा को प्राप्त हो गये वे पर्याय की अपेक्षा सहजसिद्ध हैं। तो पूजक की दृष्टि कभी पर—परमेष्ठी पूज्य की ओर जाती तो कभी स्व की ओर जाती । तो सारे विकल्पों को हटाकर पूजक ध्रुव स्वभाव के लक्ष्य में पहुंच रहा है जिससे उस सामान्य स्वभाव की पूजा करता है । असली चीज तो सहजसिद्ध भगवान हैं उसमें दृष्टि न लगा, स्त्री, पुत्र और धन आदि में ही मन लगा रहे तो ऐसी पूजा-भक्ति की सार्थकता क्या ? भगवान की भक्ति से संसार के सारे द्वन्द-फन्दों से रहित स्वभाव की दृष्टि और प्रवृत्ति आना चाहिये। प्रतिदिन पूजन करके भी अपने को सिद्ध बनाने की भावना नहीं होती तो उसे क्या कहा जाये ? दृष्टि की फिरन आत्मा की ओर जरूर आना चाहिये, पूजा की यही सार्थकता है।

समरसैकसुधारसधारा से सहजसिद्ध प्रभु की अभ्यर्चना—पूजक अपनी भावना को व्यक्त कर रहा है कि मैं समतारसरूपी अमृत की, एक धारा से सहजसिद्ध भगवान की पूजा करता हूं । यह दृष्टि स्वभाव की है । 'सुष्ठु दधाति इति सुधा,' उत्तम पद में जो धारण करे वह सुधा है और 'रस्यते इति रसः,' अनुभवन में जो आवे वह रस है । उत्तम पद में धारण कराने वाला कौन है ? समता। सुधारस तो एक ही है, समग्र है, सहजसिद्ध भगवान स्वरूप है उसकी धारा अंशरूप है, विकल्परूप भी है। मीठी चीज से थोड़ा-थोड़ा झरना धारा है। सो हे भगवन् ! आप तो समरस में डूबे हुए हैं, और मैं तो उसके एक अंश में रहने वाला हूं। वह धारा कैसी है ? अपने मनरूपी मणि के भाजन में, पात्र में भरी हुई है । आप की पूजा के योग्य मेरे पास क्या है ? कुछ नहीं।

तब अपना हृदय ही आपको समर्पित करता हूं, (यह है भी सर्वोत्कृष्ट, धन पैसा दे देना उनकी समता नहीं कर सकता) क्योंकि सर्वोत्कृष्ट चीज है ही क्या, जो मैं आपको समर्पित करूं ? तब मैं अन्य कुछ न मिलने से स्वयं अपने को ही आपके लिये समर्पण करता हूं। रामचन्द्र जी के विषय में एक पौराणिक कथा इस प्रकार है—रामचन्द्र जी जब लंका पर विजय करके आये तब सहयोगी राजाओं को यथायोग्य राज्य देकर पुरस्कृत किया, किन्तु हनुमान को कुछ भी नहीं दिया। तब वे राम से पूछते है कि महाराज हमको निरूंगा क्यों रखा ? तब राम कहते हैं कि मैं तुम्हें एक चीज देता हूं, वह यह कि तुमने मेरे ऊपर जो उपकार किया हो वह खत्म हो जाये। हनुमान जी (विनोद में) बोले—यह तो और भी खूब रहा। रामचन्द्रजी ने समझाया कि जो मौके के लिये उपकार मेटने की बात कही जाती है तो वह अनिष्ट मौका उपस्थित होगा तब मैं आपकी मदद करूंगा ऐसा कहकर मानव (नहीं चाहते हुए भी) उसके अनिष्ट को चाहा जाता है, किन्तु मैं तो यही चाहता हूं कि तुम्हें कोई अनिष्ट प्रसंग ही उपस्थित न हो जिससे कि मुझे मदद करने की जरूरत पड़े। हनुमानजी को इस वार्ता से अति संतोष हुआ।

सहजबोधकलारमणीयकं सहजसिद्ध की अभ्यर्चना—भक्त कहता है कि वह अनुपम चीज कौनसी है जिससे में आपकी पूजा करूं? मैं अपने भावों को ही आपके लिये समर्पित करता हूं। उसका रूपक बांधते हैं कि जो समझे वह मन और वह मन कैसा ? मणि के समान उत्तम निर्मल ऐसा जो पात्र उसमें भरा हुआ समतारस की एक धारा उससे 'सकलबोध और रमणीयक',— सम्पूर्ण पदार्थों को बोध करने वाला जो ज्ञान, केवलज्ञान उसकी कला चैतन्य-परिणति से सुन्दर। सहज शुद्ध प्रभु आपकी पूजा करता हूं। देखो, इसमें कैसी दृष्टि आयी ? जिसमें सकल पदार्थों को बोध करने वाली कला भरी है ऐसा सहजसिद्ध स्वयं अपनी आत्मा तथा कर्मक्षयसिद्ध, सिद्ध परमात्मा इन दोनों के चित्र इस भाव में हैं। इस पूजा से दोनों भाव प्रति स्थल पर दृष्टिगत होंगे। यह आत्मा अभी भी सिद्ध है क्योंकि इसे पैदा करना कुछ नहीं है मात्र मल दूर करना है, परम आराध्य है। इसकी महत्ता सकल ज्ञान से प्रगट होती है। कोई बालक जब कला में आता है तब कितना सुन्दर मालूम होता है ? यह तो बाह्य कला है लेकिन अन्तरंग की कला तो अलौकिक ही है। तो सहज सिद्ध के माने क्या हैं ? 'स्वभाव सह जायेते इति सहजं' अर्थात् जो साथ ही पैदा हुआ हो। तो स्वभाव का नाम ऐसा क्यों हुआ ? जब से द्रव्य की सत्ता है तभी से स्वभाव भी उसके साथ ही है। द्रव्य बिना स्वभाव क्या और स्वभाव बिना द्रव्य क्या ? अत: स्वभाव-सिद्ध सिद्धालय में विराजमान अथवा स्वभावसिद्ध निजात्मा—परमात्मा की पूजा करता हूं।

अन्तर्भाव की परख—अब स्तवन के अनुसार भाव को विचारिये—किसकी पूजा की ? किसने की ? हो क्या गया ? पूजक को कभी-कभी इन विकल्पों से सहज आत्मा का अनुभव होता है। ऐसे सहज स्वभाव के आश्रय निज में रति आवे, एक ज्ञानानुभवरूप वृत्ति आवे वह पूजा है। ज्ञानसागर ऐसा रमणीक तत्त्व है जिसमें आने पर और किसी की आवश्यकता नहीं रहती। कभी देखा होगा कि ठंड के दिनों में तालाब के तट पर नहाने

के लिये ठंड से डरकर कोई बालक बैठा हो और पीछे से कोई साथी उसे ढकेल दे और वह कूदकर तालाब में जा पड़े तो फिर वहाँ उसकी ठंड भाग जाती है। ठंड मालूम नहीं पड़ती। तो स्वभाव में जाने को मोही बालक घबराते हैं। कदाचित् कुछ समझ में आवे कि स्वभाव के बिना शांति न होगी। तो पहले अनेक विकल्प उठते, शुभोपयोग छोड़ शुद्धोपयोग में आना बड़ा गहन मालूम पड़ता, शुभोपयोग में ही ठहर कर रह जाता, किन्तु जब एक बार भी स्वरूप में प्रवेश करने की रुचि और दृढ़ता आयी कि झट से अपनी स्थिति में पहुंच गया, समतारस में गोते लगाने लगा। देखो भैया ! पूजा करने पर भी समता नहीं आई, विषमता बनी रही, मोह का पर्दा नहीं हटा, झगड़े टण्टे बने रहे और भगवान से कुछ चाह-पूर्ति की भावना रही तो वास्तविक पूजा नहीं की। भगवान की पूजा जिसने किसी आशा से की उसने कुदेव की पूजा की, सामने वीतराग मुद्रा होते हुए भी कर्तृत्वपने से—रागी (इच्छा की पूर्ति करना मानने से) देव मानने से। यह तो निज मन का सौदा है। एक ही वीतराग की मूर्ति किसी के लिये देव और किसी के लिये कुदेव है। घर की सारी आकुलताओं से परेशान होकर शांतिलाभ के लिये मन्दिर में आये और समतारस से पूजा नहीं कर पाये तो क्या विशेषता पायी ? हाँ, फिर भी इतनी विशेषता भी है ही कि वीतरागता की श्रद्धा आने का अवलम्बन तो मिलता है। स्वाध्याय, सामाजिक और तत्त्वचर्चा का अवसर तो मिलता है। लेकिन यह ध्यान में आना चाहिये कि हमें क्या बनना हैं ? हमें अपना रूप सिद्धस्वरूप ही प्रगट करना है। ऐसे की ही हम पूजा करते हैं। जैसे—किसी के हाथ में हीरा हो लेकिन समझ यह रहा हो कि यह कांच है तो बुद्धि में फरक होते हुए भी हाथ खाली नहीं है। इसी प्रकार जिसे हम मूर्ति के द्वारा देखते हैं, उसकी यथार्थ समझ नहीं आने पर भी हम हाथ के खाली नहीं हैं, बुद्धि के खाली हैं। बुद्धि के भी भरे हो सकते हैं।

सहजसिद्ध का सहजभाव से परिपूजन—सारांश यह है कि अवलम्बन तो अच्छा पकड़ना ही चाहिये, बुरे अवलम्बनों को अपनाते रहें और अच्छे से मुख मोड़ते रहें, यह तो उचित नहीं है। हम मंदिर जायें और अवश्य जायें। लेकिन उस स्थान की पवित्रता और महत्ता को भी ध्यान में लें, उसकी पवित्रता और महत्ता वीतरागदेव की स्थापनानिक्षेप से स्थापित मूर्ति के कारण है और उस मूर्ति की भी महत्ता वीतराग अवस्था को प्राप्त परमात्मा से है और उनकी भी महत्ता हमारे लाभ के लिये हमारी निर्मल आत्मा से है और हमारा प्रयोजन भी इस सबका, सब साधनों के जुटाने का और परमात्मा को हृदय-मन्दिर में लाने का यही है कि हम अपने परमात्मा को प्रगट कर सकें। अनादिकाल से इसने अपने सहजभाव को भूल परभावों में चित्त दिया है। अब अपने पर चित्त दे, सिद्ध-स्वभाव को प्रगट करें। देखो, अपने मन में ही तो समता की जानी है अत: अपने मनरूपी मणि के पात्र में भरे हुए समरस की एक प्रधान सुधारस की धारा के द्वारा सहजसिद्ध निज चैतन्य-भाव तथा अष्टकर्मों के नष्ट होने पर सहज ही हुये सिद्ध जो परमेष्ठी उन्हें पूजता है, सुधारस समग्र जो है वह सर्व आत्मा है

उसकी एक धारा-परिणति द्वारा पूजा की जा रही, द्रव्य सदा अखंड है, पर्याय खंडरूप । समरस सुधारसमय तो आत्मा है और उसकी धारा एक परिणति है। किनको पूजा गया ? ''सकलबोधकलारमणीयकं'' सर्वज्ञान की कलाओं से सुन्दर ऐसा सहजसिद्ध सिद्ध भगवान सर्वज्ञान की सर्वकलाओं से रमणीय है। अनन्त द्रव्य, उनके अनन्त गुण और उनकी अनन्त पर्यायें सबको एक साथ सिद्ध जानते हैं। कितनी ज्ञानकलायें हैं, अनन्तानन्त। उन कर रमणीय सिद्ध प्रभु है, निज चैतन्य भी उन समस्त कलाओं की शक्ति से रमणीय है क्योंकि यही आत्मा कर्मक्षयसिद्ध हो जाता है। ऐसे प्रभु को पूजता हूं। 'परिपूजये' इस शब्द में २ विशेषतायें हैं— एक तो परि उपसर्ग लगा और दूसरे आत्मनेपद में क्रिया का प्रयोग किया। सो आत्मनेपद में अत्यन्त आत्मीय लाभ का प्रयोजन है और परि शब्द से याने भले प्रकार चारों ओर से आत्मप्रदेशों में पूर्णतया अभेदभाव; ये यह अर्थ हुआ। अब सुगन्ध का पद्य कहते हैं।

चन्दन छंद

सहजकर्मकलंकविनाशनैरमलभावसुवासितचन्दनैः।

अनुपमानगुणावलिनायकं, सहजसिद्धमहं परिपूजये ।।

सहजसिद्ध की अभ्यर्चना में परमार्थतः ज्ञानभगवान की उपासना—हे सहजसिद्ध प्रभो ! मैं तुम्हें पूजता हूं। परिपूजये शब्द महत्त्व का है। परि—समन्तात्; मन, वचन, काय को एकाग्र कर समग्र—एकीभाव से पूजये; पूजता हूं। सर्व सिद्ध भगवान जो स्वयंसिद्ध हो गये, जो ध्रुव स्वभाव को प्राप्त हो गये, ऐसे परमात्मा को तथा अपने ही सर्वप्रदेशों में स्वभावसिद्ध परमात्मा को पूजता हूं। मैं अपने को ही अपने आपमें जो अनादि अनंत अहेतुक है, शुद्ध-अशुद्ध पर्यायों से रहित है, चित्स्वभावमय है ऐसे सिद्ध परमात्मा को पूजता हूं, जो स्वरूप से एक है, सहजसिद्ध है, चित्स्वभावरूप परिणमन करने वाला है। काहे से पूजता है ? चन्दन से। अमल-निर्मल भावों से सुवासित सुगंधित या निर्मल भावों में ही जिसका निवास है ऐसे चन्दन से। आप ही पूजक, पूज्य और पूजायोग्य द्रव्य जब बन जावे तब यह सिद्ध पूजा होती है। जैसे कि योगियों का भोजन होता है, स्वयं बनाते हैं, अपने में ही बनाते हें और स्वयं ही खाते हैं; ऐसा उनका स्वाधीन भोजन होता है और जो पराश्रय से होता है वह तो पराधीन भोजन है, उसी तरह स्वाधीन पूजन तो स्वाश्रय से होता है। और पूजा किसकी होती ? स्वयं की, उक्त प्रकार के चंदन से, परन्तु भगवान को पूजते हो सो नहीं, अपने भगवान को ही पूजते हैं, आश्रय तो कर्ममुक्त भगवान को बनाते हैं लेकिन उनका जो विकल्प भाव बनाया, ज्ञानभगवान को हृदय में लाये वस्तुतः उसी की पूजा होती है। हर एक पदार्थ में शब्द, अर्थ और ज्ञान की विशेषता से ३ भेद हो जाते हैं। उसी तरह यहाँ भी ३ तरह के भगवान में ज्ञान-भगवान की पूजा होने का भाव लेना और आश्रय कर्ममुक्तसिद्ध अर्थ-भगवान

को बनाना। वास्तव में अर्थ-भगवान की कल्पना से भी आगे बढ़कर भक्त ज्ञानभगवान की पूजा करता है, पूजने में यही आता। किस-किस उच्च रूप में आया, यह अपनी-अपनी योग्यता ज्ञान की निर्मलता पर निर्भर है।

सहजसिद्ध का सहज सन्निधिकरण—देखो भैया ! अत्र अवतर-अवतर कहते हैं तो क्या सिद्धशिला से भगवान उतर कर यहाँ आते हैं ? अथवा डूबे हैं सो उतरने को कहते ? नहीं, यह हमारा ही आत्मा विकारों में डूबा हुआ है, उससे निकलने को अथवा अपनी वृत्ति जो बाहर है सो बाह्य से हटाकर अपने को अपने पास अपने आपमें लाने की भावना की जाती है। और तिष्ठ-तिष्ठ का ऐसा ही मतलब लेना कि जो आत्मा परभावों में बैठा है उसे वहां से हटाकर निज उपयोग में ही बैठना है। सन्निधिकरण का भी यही भाव है कि हमें अपने भगवान का साथ न छूटे। अनन्तकाल से जो संसार में घूम रहा है और परभावों से, परपदार्थों से साथ बना रखा है वह साथ छूटकर स्व का ही साथ रहे, स्वसमयरूप वृत्ति रहे किन्तु यह सब बात भगवान को बुलाने-बैठाने के भाव से शीघ्र होती है। श्रावक के तो जगत में पैदा होने वाले और बाजारों में बिकने वाले चन्दन से ऐसे भगवान की पूजा नहीं होती, वह तो होती है निर्मल भावापन्न शीतल आत्मद्रव्य से। इसी चन्दन की पूजा से भगवान प्रसन्न होते हैं। कौन भगवान ? निज चैतन्य-भगवान। कर्मसिद्ध भगवान तो प्रसन्न—निर्मल हमेशा के लिये हैं ही, लेकिन हमारे भगवान की वर्तमान प्रसन्नता हो तो भविष्य में भी उस प्रसन्नता का उदय रह सकता है। निर्मल परिणामों के द्वारा तो निज का ही भगवान खुश होता है। अपनी ही गलती से रागी, द्वेषी, मोही बन रहे हैं, कितनी बुरी दशा कर रहे हैं अपने भगवान की ? उस पर दृष्टिपात कर अपने ही भगवान को प्रसन्न करना चाहिये। दूसरा कोई भगवान प्रसन्न नहीं होता। अन्य परमात्मा तो अपने लिये सभी प्रसन्न हैं। व्यवहार में यह देखा जाता है कि किसी की प्रशंसा कर दो तो भूखा रहकर ही काम में लगा रहता है, अनुकूल रहने से। तो जब यह आत्मा अपने ही अनुकूल चलेगा तो यह जरूर प्रसन्न होगा। इसके लिए परिणामों को निर्मल रखना है जो कि चिन्मात्र के ध्यान से होता है।

अन्तस्तत्त्व की भावना में स्वदया—बार-बार इस एकत्वविभक्त ज्ञायकस्वरूप को भाया जावे कि—यह एक आत्मा जो नाना परिणतियों में रहकर भी एक रहता है, जो नित्य है अर्थात् अनादि अनंत और अहेतुक है, जबकि इसकी परिणतियां अनित्य—आदि, सांत और अहेतुक हैं; वह निमित्तत्त्व और कर्तृत्व से रहित है जब कि परिणतियां निमित्त और कर्तृत्व से सहित है । इस तरह इन दोनों तत्त्वों में विपरीतता है, इस प्रकार परिणतियों से परिणतिवान को भिन्न अनुभव कर—चिन्मात्र का ध्यान किया जा सकता है। जो एक पर दृष्टि नहीं देता, परिणतियों पर ध्यान देता है वह जीव रुलता ही रहता है। इस पूजा में उसी पर ध्यान दिलाया है जिससे हमारा रुलना छूट जाये। अभी तक अन्धेरे की (अज्ञान की) बातें कर रोते रहे। कोल्हू के बैल के समान हमारी स्थिति बनी रही। वही संसार का संसार बना रहा। जो एक है, जिसकी अनेक हालतें होती रहती हैं उस एक आत्मा पर दृष्टि नहीं की। अब इस पर ध्यान आना चाहिये। अपने पर दया आना चाहिये। उस पर कभी

दया की ? आकुलता का भेद जहां ठोकर लगाता है उस एक को कभी देखने का प्रयत्न किया क्या ? उत्तर मिलता है कि यह नहीं कर पाया। देखो—स्वभावावलम्बन से जो सर्वविकल्पों से दूर हो लेता है वह इस चिदानन्द परमात्मा की पूजा निर्मल भाव से सुवासित चन्दन से करता है। वह चन्दन कैसा है ? सहजकर्मकलंक विनाशक है—सहज जो कर्मकलंक उसका विनाशक है। वे कर्म सहज हैं—अनादि से, जब से कि यह आत्मा है तब से ये हैं, जब से आपकी सत्ता है तब से ये कर्म भी हैं, ऐसे कर्मों का तो कलंक है द्रव्यकर्म और भावकर्म की परम्परा, उसको नष्ट कर देने वाला निर्मल भाव है।

बहिस्तत्त्व की प्रीति में संकटसंतान लाभ—यह आत्मा जिस किसी भी पर्याय में जाता है वहां अहंकार-ममकार करने लगता है, मोह में पड़ जाता है, स्वभावत: यह विचारवान नहीं है। स्थूलरूप में जैसे हम कह सकते कि मनुष्य का जब बचपन होता है तब वह कामी और तृष्णालु आदि नहीं होता और ज्यों-ज्यों बड़ा होता है त्यों-त्यों उसमें विकार बढ़ते हुए नजर आते हैं तो फिर परतन्त्र भी उतना ही ज्यादा-ज्यादा होता जाता। हम जितनी मोह-माया में फंसते जावेंगे उतने ही परतंत्र होते जावेंगे। वैसे स्वभावत: हम परतंत्र नहीं हैं। कई लोग कहने लगते कि कच्ची गृहस्थी है, अभी इसे छोड़ आत्मकल्याण में लगना नहीं बनता सो यह बात ठीक नहीं है। उनका मोहभाव ही उनके कल्याण में बाधक है। कच्ची गृहस्थी बाधक नहीं है। बुंदेलखंड का प्रतापी राजा छत्रसाल जन्म से ही जंगल के बीच झाड़ी में फेंक दिया गया था। वहाँ ७ दिन तक पड़ा रहा और ऊपर के पेड़ में जो मधुमक्खियों का छत्ता था उसमें से भी बूंद-बूंद टपककर सीधे मुंह में पड़ने वाली शहद के बल जीवित रहा। पीछे उनके मातापिता जब संकट टलने पर पीछे आये और बच्चे को सही-सलामत देखा तो अति प्रसन्न और आश्चर्यान्वित हुए कि सचमुच यह अपने भाग्य से जी रहा है। यही बात हरएक के लिये है। कोई किसी को जीवित या सुखी-दु:खी नहीं करता। मोह से सब अपनी-अपनी कषाय को पुष्ट करते हैं। कौन किस पर दया कर सकता ? सब अपने-अपने परिणमन से परिणम रहे हैं। मोही जीव झूठे ही कर्तृत्व-बुद्धि से परपदार्थों को बनाने-बिगाड़ने का संकल्प-विकल्प किया करता है।

निज सहजतत्त्व की रुचि में सहज आनंद का सहज विकास—निज भगवान को जो पूजने वाला है वह है कषायरहित परिणाम, जिससे अनादि के लगे कर्म नष्ट हो जाते हैं उसे मैं सम्यक् प्रकार से पूजता हूं। अरहंत और सिद्ध भगवान आप ही तो बनेंगे। अभी से वह बनने का प्रोग्राम बनाओ तभी आगे उस रूप बन सकेंगे। उस चित्स्वरूप में प्रवेश कर आनन्द का स्वाद लें तो यह गृहस्थी का आनन्द क्या है ? केवल दु:ख है जिसे भ्रम से आनन्द मान लेता है । और साधुओं के बाहर से परिग्रहहीन भूख-प्यास को सहने वाले, मोही जीवों की नजर में दु:खी मालूम पड़ते, लेकिन उनके अपूर्व आनन्द का स्वाद वह बिचारा क्या जाने ? उस जाति का आनन्द कभी लिया ही नहीं तो उसे ध्यान में कैसे ला सके, उसका महत्त्व कैसे समझ सके ? मोही जीव जिस

तरह धनी-मानी बनने की चाह करते हैं वैसे अच्छे से अच्छा ज्ञानी बनने की नहीं करते। जो ज्ञान की रुचि करने लग जाते हैं उनका मोह मन्द पड़ता जाता है और चिदानन्द प्रगट होने लगता है।

अनुपमगुणमय प्रभु का अलौकिक भाव से परिपूजन—'अनुपमानगुणावलिनायकं'—जिनकी उपमा नहीं ऐसे गुणों से विशिष्ट सच्चिदानन्द भगवान् को छुपी हुई जगह से (स्वभाव से बैठे हुए) उठाकर शुद्धपर्यायरूप में ले जाने वाले भगवान को या अव्यक्त अपने भगवान् को सम्यक् प्रकार से पूजता हूं। आत्मा ज्ञानानन्दमय है। अपने स्वरूप की दृष्टि लगाने पर जो आनन्द आता है सो वैसा क्या बाहर से मिल सकता है ? नहीं। उस आत्मिक आनन्द से ही निर्जरा होती और मोक्ष भी उसी आनन्द का अनुभव करने से होता है। वह आनन्द आत्मिक स्वाभाविक है, विपदाओं से छूटने के लिये इसे ही हासिल करना पड़ेगा और यह पुण्य और पाप, संपत्ति और विपत्ति में जो अच्छा-बुरा मानता, हानि और लाभ विचारता वह ख्याल अच्छा नहीं है, उदारता के विचार नहीं हैं वे। संपत्ति-विपत्ति तो समान ही हैं। नागनाथ कहो या सांपनाथ, एक ही मतलब है। पुण्य और पाप दोनों कर्म के ही भेद हैं। इनके विकल्पों को छोड़ अपने को देखो। एक ब्राह्मणी के कई लड़के थे। एक दिन एक दाता ब्रह्मभोज के लिये एक लड़के का निमंत्रण करने आये। उन्होंने सोचा सबसे छोटे लड़के का निमंत्रण करो यह कम खायेगा, सो ब्राह्मणी से बोला कि आज छोटे लड़के का निमंत्रण मेरे यहाँ है। तब ब्राह्मणी कहती है कि छोटे का करो या बड़े का, यहाँ तो सब सवासेरी हैं अर्थात् सवासेर खाते हैं। तो भाई ! पुण्य और पाप दोनों संसार के ही कारण हैं, मोक्ष के नहीं और पुण्य से मिले वैभव में लुभा जावे और विषयकषायों में उतर जाये तो वह नरक का भी कारण हो सकता है और पाप के उदय में तो दु:खी अपने को मानता ही है।

अलौकिक उपाय से अलौकिक तत्त्व की अलौकिक उपासना—सुख-शांति मिलने का तो उपाय है—चित्स्वभाव की दृष्टि करना, सो उस स्वभाव का कोई सम्प्रदाय नहीं है, उसकी चैतन्य जाति के सिवा कोई जाति नहीं है, वह न मनुष्य है और न स्त्री। तो मैं शुद्ध चैतन्यपुञ्ज हूं । इसमें उपयोग को लगा और ये भावनायें ही उत्थान करने वाली हैं। ऐसी भावनाओं में पुण्य तो होगा ही और ऊंचे दरजे का होगा, लेकिन उसके लालच से यदि कार्य करो तो पाप ही अधिक बंधेगा और पुण्य होगा तो साधारण, वह भी परंपरा संसार का कारण। किन्तु चैतन्य स्वभाव की दृष्टि होने पर जो पुण्य बंधता है वह परम्परया मोक्ष का भी कारण होता है। ऐसा सातिशय पुण्य मांगने से नहीं मिलेगा। मांगने से वह नहीं मिलता। मांगने से कदाचित् शुभभावों के द्वारा पुण्य-सामग्री मिलेगी तो वह विपदा का ही कारण होगा, आकुलता और क्लेश ही पैदा होगा और बिना मांगे जो पुण्य बंधेगा उससे आकुलता बंधी नहीं, विपदा नहीं। तो दृष्टि ध्रुव स्वभाव की रखना चाहिये। उपमारहित गुणों से परिपूर्ण की पूजा से स्वयं को वैसा प्रगटरूप में बनाने का लक्ष्य रहना चाहिये। अप्रगट में स्वभाव में तो वे अनुपम गुण मौजूद ही हैं लेकिन उनको प्रगट करने का लक्ष्य भी पूजक का होना चाहिये और वे शक्तिरूप से स्वभाव से सत्ता में हैं, यह विश्वास होना चाहिये। बिना इस विश्वास के परमात्मा पर विश्वास नहीं आ

सकता, क्योंकि जो अपनी शक्तियों से अपरिचित हो वह परमात्मा से परिचित नहीं हो सकता। सारांश यह है कि ये कर्मकलंक सहज हैं अर्थात् अनादि से लगे हैं, सो कोई जबरदस्ती से नहीं लगे। अत: सहज हैं ऐसे कर्म को नाश करने वाले अथवा कर्मकलंक को सहज ही नाश करने वाले निर्मल भावरूप चन्दनों के द्वारा अनुपम गुणावलि के नायक स्वामी सहजसिद्ध को परिपूजता हूं। इस छन्द में कर्म का लगना, कर्म का झड़ना व उपाय संकेतित है। सहजसिद्ध निज चैतन्य प्रभु भी अनुपम गुण-समूह का नायक है और कर्मक्षयजात सिद्ध प्रभु तो प्रगट विशुद्ध गुण-पर्यायों में उपस्थित है। मन, वचन, काय की परिस्थितियों को अस्थिर पौद्गलिक मानकर अपने से भिन्न मानकर निज स्वभाव को जानने वाला पूजक पूजा में मग्न है। पूजा में अपने आपको व्यक्त कर रहा है। वह आगे कहता है—

अक्षत छंद

सहजभावसुनिर्मलतंदुलै: सकलदोषविशालविशोधनै:।

अनुपरोधसुबोधनिधानकं सहजसिद्धमहं परिपूजये ।।

परमार्थ सहजसिद्ध अन्तस्तत्त्व की उपासना में सहजसिद्धि का अभ्युदय—जो किसी निमित्त या आलंबन के बिना रहता है वह सहजभाव है। पर्यायगत सहजभाव तो सिद्धों के हैं और द्रव्यगत सहजभाव सब आत्माओं में हैं, जो वर्तमान में हमारे इस प्रकार है कि स्वयं का आलंबन लेकर उनके अनुरूप विशेष प्रगट कर सकते हैं । निश्चय से हम अन्तस्थ: सहजसिद्ध भगवान के अवलंबन से अपने सहजभाव की व्यक्ति करेंगे किन्तु निमित्तरूप में तो सिद्ध भगवान के सहजभाव को आलंबन बनाते ही हैं। देखो, यहाँ इन भव्य पुरुषों के संवर तत्त्व और आस्रव तत्त्व एक ही साथ चल रहे हैं। निमित्त के आश्रय से आस्रव तत्त्व, और स्वभाव के आस्रय से संवर तत्त्व हो रहा है। सहजभाव की दृष्टि में संवर होता और पराश्रय की दृष्टि में आस्रव होता है। सो यहाँ जो सहजभाव है वह मूर्ति या गुरु आदि के अवलंबन से लेने वाला सहजभाव नहीं है, किन्तु आत्माश्रित भावों से होने वाला सहजभाव है। तो ऐसे सहजभावरूपी अत्यन्त निर्मल भावों से मैं पूजा करता हूं। भक्त सोचता है कि हे भगवन् ! मैं आपको काहे से पूजूं ? आप तो अपनी ही चीज से पूजे जा सकते हैं। आपकी पूजा का साधन आप ही बन सकते हो। स्वाश्रित भाव सहज होते हैं पराश्रित भाव नहीं क्योंकि पराश्रित भाव निमित्त की दृष्टि में होता है, सो हे भगवन् ! अब मेरे निमित्त की दृष्टि हटकर उपादान की ओर गई है और सहजभाव जागृत हुआ है इससे ही आपके दर्शन कर सका हूं, इसकी दृष्टि रही आवे।

विपरीत आग्रह के अभाव में सम्यक् कार्य की निष्पत्ति—परपदार्थ जो आत्मसत्ता से अत्यन्त जुदे हैं उससे कुछ आशा करना सबसे बड़ी भूल है। दु:ख किस बात का है ? इसका कि हमसे जो न्यारे हैं उनकी वांछा करते हैं, जो अपने नहीं हो सकते उनकी वांछा न करें तो सुख ही सुख है। सुनते हैं कि सहारनपुर में एक जैन रईस के घर हाथी था। पड़ौस में दूसरे का जो घर था उस घर वाले का बच्चा एक दिन रूठ गया कि

हमको हाथी खरीद दो, उसने लालाजी से कह-सुनकर हाथी अपने दरवाजे पर बंधवा दिया और बच्चे से कहा कि लो खरीद दिया हाथी। इस पर उसने हठ किया कि उसे हमारी जो खेलने की लुटिया है उसमें बाँध दो, तो बतलाइये ऐसे हठ का भी कोई उपाय है ? जो सम्भव नहीं, हमारे अधिकार की बात नहीं उसके लिये हम क्या कर सकते हैं ? कुछ नहीं ।सारे द्रव्य अपने-अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से परिणमते रहते हैं, सब द्रव्य ऐसे ही हैं। किसी का किसी पर भी वश नहीं। प्रत्येक आत्मा अपने आपसे परिणमते हैं लेकिन हम चाहते कि ऐसा परिणमें, हमारे अनुकूल परिणमें, सो ऐसी वांछा दु:खदायी है भूल भरी है, इस गलती पर विचार करके ऐसे अभिप्राय को निर्मूल ही कर देना चाहिये। जिसे अपनी गलती का पता नहीं वह अपने मार्ग को कैसे पा सकेगा ? दूसरे पदार्थों को अपना माना यह भारी गलती रही। पूजक को जब बोध होता है, तो उस सहज भाव के प्रति अत्यन्त आदर का भाव रखता हुआ अपनी भावना व्यक्त करता है कि—'अनुपरोध सुबोधनिधानकं'—जिसका कोई उपरोध (बाधा) नहीं कर सकता ऐसे ज्ञान के निधान को मैं पूजता हूं, सहजसिद्ध निज भगवान भी अनुपरोध सुबोध-निधान हैं, अनादि अनन्तज्ञान सामान्य के स्वरूप को कोई भी प्रतिरुद्ध नहीं कर सकता। श्री सिद्ध देव तो प्रत्यक्ष प्रकट सम्पूर्णपने उपरोध रहित केवलज्ञान के निधानक हैं। सिद्ध प्रभु कर्मक्षय के अनंतर ही सहजसिद्ध हुए हैं। उन्हें भक्तिभाव से पूजता हूं।

अनुपरोधसुबोधनिधान सहजसिद्ध की उपासना—वर्तमान में तो हमारे जो ज्ञान प्रकट है वह अनुपरोध (बाधारहित) है। निगोद अवस्था में भी अक्षर के अनंतवें भाग ज्ञान जो रहता है उसका उपरोध करने वाला कोई नहीं है। चैतन्यदेव की अनुपरोध्यता आश्चर्यकारी अपूर्व है। केवलज्ञान तीन प्रकार है—१. शब्द-केवलज्ञान, २. अर्थ-केवलज्ञान, और ३. ज्ञान-केवलज्ञान। सम्यक्त्व की आराधना में जब तक आराधक सर्वज्ञ नहीं हो जाता तब तक उसके ज्ञान—केवलज्ञान रहता है और जब कर्ममुक्त हो जाता तब अर्थ-केवलज्ञान होता, तो ऐसा जो अर्थ केवलज्ञान, वह अनुपरोध है, अथवा केवलज्ञान नामपर्याय से अतीत जो शुद्ध ज्ञान-सामान्य है उसकी मैं पूजा करता हूं। आत्मपक्ष में, ज्ञान के बलवान जो कि सम्यक्त्व से परिपूर्ण है उसका आत्मा निधान है। आत्मा ज्ञानमय है। ज्ञान को छोड़ आत्मा कोई चीज नहीं, और आत्मा को छोड़ ज्ञान कोई चीज नहीं, ऐसे ज्ञानमय निजात्मा की मैं ज्ञानभाव से पूजा करता हूं। प्रत्येक आत्मा ज्ञानस्वरूप है, चाहे कोई तुच्छ संसारी प्राणी भी हो। बाह्य कर्म जिसके उदय में ज्ञानविकास आवृत हो गया, कारण उपचार से है, तो भी वे ज्ञान को पूर्णतया उपधान आवरण नहीं कर सके। निगोदिया में भी नित्योद्घाटित ज्ञान रहता ही है। केवलज्ञान का अनंतवां भाग जो अक्षरज्ञान है वह निगोदिया में भी रहता है। यदि कहा जाये कि केवलज्ञान पर्याय और मतिज्ञान-श्रुतज्ञान पर्याय अलग ? उस पर्यायरूप केवलज्ञान का अंश मति श्रुतज्ञान कैसे हो सकता है ? तो इसका उत्तर यह है कि उस ज्ञान-सामान्य को लक्ष्य में लेना चाहिये जिसकी पर्याय केवलज्ञान है और श्रुतज्ञान भी है। व्यवहार में उस सर्वोच्च

सामान्यज्ञान के परिणमन को केवल के रूप में ही कहा जाता है, अत: कोई विरोध नहीं है। तथा जो पहले अनुपरक्त ज्ञानभाव था वही केवलज्ञान में सामान्यज्ञान है। ऐसे सम्यग्ज्ञान के निधानभूत भगवान मैं आपकी पूजा करता हूं। आपको जाने बिना कितनी विपदाएं सही, कितना भ्रमण किया ? परभावों में कितना भटकता रहा ? अब वह समय आया कि इस भूल को समझ गया।

पराश्रित विकल्पों की अश्रेयस्करता—किसी चुगलखोर ने आपसे यह कह दिया हो कि अमुक व्यक्ति आपके सम्बन्ध में ऐसा कहता था, उससे आपके मन में क्षोभ हो गया, दु:ख हो गया, इसमें वह निन्दक आपको क्षोभ में निमित्त पड़ा। तो जब अपने विकल्प में कोई बात आती तभी दु:ख होता है। एक धनी व्यक्ति के घर अशर्फियों का हंडा गड़ा है और गरीब के यहाँ कई मन पत्थर जमा है। यदि वे ऐसा विचारें कि हमारे यहाँ रूप, रस, गन्ध, स्पर्श वाला पुद्गल पड़ा है और इनके यहाँ भी, तो दोनों में कोई अन्तर नहीं है। इस तथ्य के विचार में दोनों समान हैं, किन्तु एक अपने को लखपति समझता और दूसरा अपने को गरीब मानता है। यह पराश्रित विकल्प ही पाप है। जितने भी पराश्रित भाव हैं उन सबने हमारे परमात्मा का तिरस्कार किया है। भक्त अपनी भावना व्यक्त करता है कि हे भगवन् ! अब प्रगट होओ, बहुत दिनों तक भटका दूसरों के संग में। मैं दूसरे पदार्थों को नाथ मानता रहा किंतु यह न जाना कि मैं स्वयं नाथ हूं। अपने-अपने जीवन में देख लो। कल जो था आज वह न रहा, आज जो है कल वही स्वप्न हो जायेगा। तो ऐसे पदार्थों में आदर रखना हितकर कैसे हो सकता है ?

स्वयं की पारमार्थिक महत्ता की श्रद्धा में महान् कार्य का उद्भावन—एक दम्पति में पति दुराचारी था। एक दिन पत्नी ने कहा—एक बटरिया देकर कि लो आप इसकी रोज पूजा किया करो व सिर्फ २४ घण्टे को पाप छोड़ दिया करो। उसे पत्नी की सीख लग गई और उसने प्रतिज्ञा की कि प्रतिदिन पूजा करने के बाद ही भोजन करूंगा तथा यह भी प्रतिज्ञा ली कि पूजा कर चुकने पर २४ घण्टे के लिये पाप छोड़ दिया करूंगा। इन नियमों को वह दृढ़तापूर्वक चलाने लगा। एक दिन क्या हुआ कि जिस पत्थर को वह देवता मानकर पूजता था उस पर चूहा फिर रहा था। उसने विचार किया कि पत्थर के देवता से तो चूहा-देवता बड़ा है। तब उसने चूहे को पूजना प्रारम्भ किया। जहां कहीं वह दिखता उसे अर्घ्य और फूल चढ़ा पूजन का नियम पूरा करता। एक दिन चूहे पर बिल्ली को झपटते हुए देखा तो चूहे से बड़ा बिल्ली को मानने लगा और उसकी पूजा करनी शुरू कर दी। बिल्ली पर भी एक दिन कुत्ता झपटा और यह देख उसने बिल्ली से बड़ा कुत्ते को समझकर उसको पूजने लगा। एक दिन कुत्ते ने घर में कुछ नुकसान कर दिया जिससे उसकी स्त्री ने उसे २-३ डण्डे जमाये। यह देख उसने कुत्ते से बड़ा अपनी स्त्री को ही समझा और उसे पूजना शुरू किया। किसी समय पति और पत्नी में चखचख हुई और गुस्से में आ उसने स्त्री को दो चार चांटे लगा दिये। तब उसे ख्याल आया कि स्त्री से बड़ा तो मैं स्वयं हूं और उस दिन से अपनी पूजा करने लगा। उसे अपने बड़प्पन का ख्याल आने से अपने

कर्तव्यों को पूरी तरह पालने लगा। तो अपने आपको जो समझता है वही निराकुल हो सकता है। आपको अपने आपसे ही काम पड़ेगा। अपने से ही शांति आयेगी। जो दूसरों को अनुकूल बनाने की चेष्टा करता है वह कभी सुखी नहीं रह सकता। तो ऐसे सर्वविकल्पों से रहित स्वाश्रित भावों से प्रगट सिद्ध भगवान् की वा स्वभावसिद्ध निज भगवान की मैं पूजा करता हूं।

पुष्प छंद

समयसारसुपुष्पसमालया सहजकर्मकरेण विशोधया।

परमयोगबलेन वशीकृतं सहजसिद्धमहं परिपूजये ।।

समयसारपुष्पमाला से सहजसिद्ध का परिपूजन—मैं समयसार के उत्तम पुरुषों की माला से सहजसिद्ध भगवान की पूजा करता हूं। यहाँ पूज्य भगवान भी समयसार और पूजक भी समयसार और पूजा के योग्य द्रव्य (पुष्प) भी समयसार है। समय नाम आत्मा का है। उसमें सार क्या है ? शक्तियां, गुण, ध्रुवतत्त्व। ये ही हुए पुष्प, इन्हीं शक्तियों का पुंज-पिण्ड, किसी एकरूप न रहने वाला ऐसा जो द्रव्य वह कहलायी समयसाररूपी पुष्पमाला । यहाँ जो शक्तियों के पिण्डात्मक सत्यस्वरूप को देखा गया वह पुष्पमाला समयसार हुई। इस तरह पूजा की सामग्री भी समयसार है, और पूजक और पूज्य तो समयसार है क्योंकि अनादि से अनन्तकाल रहने वाला जो चिन्मात्र है वही समयसार है। पूजकरूप भी है और पूज्य भी है। ऐसी जहां एकतानता होती है वहाँ आत्मीयता होती है अथवा जहां आत्मीयता होती है वहां एकरूपता होती ही है। व्यवहार में भी अपन तुपन कहकर आत्मीयता प्रगट करते और ऐसा भी कहते हैं कि हम और आप जुदे थोड़े ही हैं, एक ही हैं, घनिष्ट मित्रता से ऐसा कहते हैं। एक बन जाना प्रेम की सर्वोच्च श्रेणी है तो जहां पूजक और पूज्य एक बन रहे हैं वह भक्ति का अलौकिकरूप है। भेदभाव से जो भक्ति होती है वह अलौकिक नहीं होती। भाव्यभावक भाव और षट्कारक जहां एक हो जाते हैं वह है भगवान की अलौकिक भक्ति। ऐसे समयसार-फूलमाला से भगवान की पूजा करता हूं। वह पुष्पमाला कहां से लायी जायेगी ? अपने आपमें से जो बसी हुई सहज क्रियायें हैं वही हुए कर, उनके द्वारा शुद्ध की गई है समयसार अनादिसिद्ध वस्तु है। वह किसी से उत्पन्न नहीं होती, वह तो यहां सहजवृत्तिरूप अनेक किरणों—ज्योतियों द्वारा विशुद्ध की गई हैं—शोधी गई हैं। ऐसे आपका जो देवता है वहीं से इस पूजा सामग्री का उद्गम है। बाहरी दिखावटी चीजों की तो यहां बात ही नहीं है। भगवान की सहज प्रसन्नता के लिये वे दिखावटी सामान समय नहीं है। सहज परिणतिमय भगवान की पूजा के लिये पूज्य और पूजा की सामग्री भी वैसी ही चाहिये।

परमयोगबलवशीकृत सहजसिद्ध का परिपूजन—जिन सहजसिद्ध को यहाँ पूजा जा रहा है वे देव कैसे हैं ? 'परमयोगबलेन वशीकृतं'—परम योग के बल से जो वशीकृत हैं । वे भगवान किसके वश में होते हैं ? किसी के भी नहीं, क्योंकि वे तो भगवान ही हैं। पुद्गल का एक अणु भी किसी के वश में नहीं होता। सब परमाणु व

सब द्रव्य स्वतन्त्र हैं। जीव को उपचार से संसारी अवस्थाओं में कर्म के वश कहा जाता है, लेकिन निश्चय से कर्मवर्गणाओं का और आत्मप्रदेशों का चतुष्टय अपना-अपना पूर्ण स्वतन्त्र है और फिर कर्ममुक्त सिद्ध भगवान तो उस औपचारिक परतंत्रता से भी रहित हैं। वे भगवान तो उस औपचारिक परतंत्रता से भी रहित हैं। तो वे भगवान हमारी दृष्टि में बने रहें। यही हमारे वश में होने का मतलब है और भगवान को अपनी दृष्टि में करने का मतलब है। परमयोगरूप अद्वैतदृष्टि व स्थिति क्योंकि परमयोग में द्वैतदृष्टि नहीं रहा करती तो अद्वैत परम समाधिरूप हमारे उपयोग में जो बैठे, अनुभव में आवे उसकी मैं पूजा करता हूं। मेरा कुटुम्ब, नगर और स्थान मैं ही हूं। यह नगर कितना सुन्दर है ? विवेक, ज्ञान आदि जहां अनेक मन्त्री हैं, संयमादिक रक्षपाल हैं जो कि अपनी शक्तियों को लुटाने नहीं देते। ज्ञान की पर्यायें यही प्रजाजन हैं। ऐसे मुझ राजा की नगरी मुझसे बाहर नहीं है। मेरी कोई भी चीज मुझसे बाहर नहीं है। ऐसी शुद्ध परिणति से मैं भगवान की पूजा करता हूं।

उपास्य समयसार—समयसार वस्तु क्या है ? इसके उत्तर में श्रीयुत कुंद-कुंद आचार्य कहते है कि—

णवि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणओ दु जो भावो ।
एवं भणंति सुद्ध णाओ जो सोउ सो चेव ।।

यह आत्मा, यह चेतन जो कि न प्रमत्त है और न अप्रमत्त, जो सर्वपर्यायों में रहता हुआ भी किसी भी पर्यायरूप नहीं रहता, तो बंध-मोक्ष की कल्पना से रहित है ऐसी चैतन्य शक्ति से युक्त जो शुद्धात्मा है नवतत्त्वों में रहता हुआ भी विशेष से, कल्पनाओं से रहित है; ऐसा भाव समयसार है। जो एक ब्रह्म सारी अवस्थाओं में चला जाता है लेकिन किसी एकरूप नहीं रहता, ऐसा स्वभाववान आत्मा समयसार है। जैसे अग्नि का (शुद्ध) स्वरूप क्या है ? लकड़ी की, कण्डा की या उस किसी आकार में उस लाल-पीले रंग की जो दिखती है, क्या वह अग्नि का स्वरूप है ? नहीं। उसका शुद्ध रूप तो पर की उपाधि से रहित होना चाहिये तो ऐसी विशुद्ध अग्नि लकड़ी, कोयला आदि का प्रमुख आकार और लाल-पीला आदि रंग से रहित उष्णता युक्त जो है वह है। उसी तरह अमुक का ज्ञाता, अमुक का ज्ञाता— इस प्रकार आत्मा ज्ञाता हो सो नहीं । इन पर्यायों के भेद से जो रहित है, मूल सत् रूप है वह आत्मा ज्ञाता है, तत्त्व या रहस्य यही है। विभिन्न दार्शनिकों के जैसा समझ में आया वैसा उसका वर्णन कर दिया। जिसके सम्बन्ध में वर्णन किया ऐसे समयसार की मैं पूजा करता हूं।

बाह्य से बाह्य की उपासना में सार का अभाव—बाह्य से बाह्य की पूजा ही क्या ? वह पूजा तो अन्त:तत्त्व की अन्त:करण की निर्मलता से ही होती है। ऐसे समयसाररूपी फूलों की माला से सहजसिद्ध की दृष्टि से सहजसिद्ध को पूजता हूं। सामान्य से आये सहजसिद्ध भाव के द्वारा उसी की उसी में वही मैं पूजा करता हूं। उस एक का ही अनेक रूप से विस्तार है। ढोंग तो दूर रहा, किन्तु अन्तरङ्ग परिणामों से भी व्रत संयम आदि जो वृत्तियां चलती हैं उससे भी सिद्ध पूजा नहीं। धर्म तो छुपा हुआ है, दुनियाँ को देखने में धर्म नहीं आता । जिसको देखकर लोग कहते हैं कि यह बड़ा धर्मात्मा है सो यह बात ठीक नहीं है क्योंकि वह तो दिखने में

आता ही नहीं। तब जो देखा गया वह धर्म नहीं हुआ, जो मन की शुभ कल्पनायें, वचन की शुभ प्रवृत्तियां और ईर्यापथ आदि शारीरिक क्रियाएं हैं वे सब धर्म नहीं हैं। धर्म तो मोह-क्षोभरहित भाव है। धर्म मन-वचन-काय की वृत्तियों से पैदा नहीं होता। वह तो सहज सिद्धरूप है। तभी वह दिखता नहीं बाहर से। जो अनुमान करते हैं वह झूठा भी पड़ जाता है। आखिर अन्दाज तो अन्दाज ही है और ऊपर से धर्म की परीक्षा करने पर खतरा भी हो सकता है। वह भेष आदि बनाने से भी नहीं होता। मैं त्यागी हूं, ब्रह्मचारी हूं, क्षुल्लक हूं आदि विश्वास होना मिथ्यातत्त्व है क्योंकि आत्मा का यह अन्यथा श्रद्धान है। बाह्य जड़ शरीर आदि के संयोग की अपेक्षा से उत्पन्न हुआ ख्याल है। आत्मा न त्यागी है, न वेषधारी ब्रह्मचारी और न क्षुल्लक आदि है। वह तो चैतन्यमात्र अमूर्तिक जैसा ज्ञानी आत्मा के अनुभव में आता वैसा है। बाह्य रूप से जो धर्म और धर्मात्मा का व्यवहार किया जाता है वह तो व्यवहार के लिये ही है।

पर्यायबुद्धता से निवृत्त होकर स्वभावबुद्धता में निष्पन्न परमयोगबल से सहजसिद्ध की वशीकृतता—जितनी हम तरक्की कर पाये हैं उतने में हमारा नाम त्यागी या ब्रह्मचारी आदि की कल्पना है, किंतु उस लंबी पर्याययात्रा में जो एक रहा वह मैं हूं। मैं व्रती हूं, मुझे यों चलना चाहिये; मैं साधु हूं, मुझे ऐसे भाव रखना चाहिये। ऐसे भाव धर्म नहीं हैं। आप कहेंगे कैसे? इसलिये कि ये सब भाव आत्मा के स्वभाव नहीं हैं। उसका स्वभाव ज्ञातादृष्टा है। ज्ञानी पुरुष को उस स्वभावरूप अनुभव से च्युत होने की दशा में ये विकल्प आते हैं। मैं शुद्ध हूं, चिन्मात्र हूं, कृत्कृत्य हूं आदि। ऐसी प्रतीति रहते हुए भी वह प्रवृत्ति में रहता है अथवा रहना पड़ता है। फिर अशुभ में तो वह जाना ही नहीं चाहता। तब उसके मन-वचन की क्रियाएं अधिकतर शुभरूप हुआ करती हैं। विषय और कषायों से मन हटा हुआ रहता है। इस हटे हुए परिणामों से उस प्रवृत्ति में रहता हुआ भी वह संवर और निर्जरा करता रहता है। स्वभाव में नहीं रह पाता तो बड़ा अधर्म न हो इस ख्याल से वह पाप से बचता है। अथवा उसके परिणामों में निर्मलता का मूल स्रोत आने से पापरूप वृत्ति स्वयमेव नहीं होती और स्वभाव में स्थिर होने के बीच में जो शुभ वृत्ति हुआ करती है वह स्वयमेव होती रहती है। तो समयसाररूप भगवान के वश होने का मतलब है, मात्र उसकी दृष्टि वा स्थिति अपने से बाहर न होना, सो आत्मभावरूप ऐसे समयसार से मैं पूजता हूं। सर्व प्रदेशों में आनन्दित उपयोग की एकाग्रतापूर्वक पूजता हूं।

नैवेद्य छंद

अकृतबोधसुदिव्यनैवेद्यकैर्विहतजातिजरामरणान्तकैः।

निरवधिप्रचुरात्मगुणालयं, सहजसिद्धमहं परिपूजये ।।

अकृतबोधसुदिव्यनैवेद्य द्वारा सहजसिद्ध का परिपूजन—अकृत्रिमबोध, जो ज्ञान बनावटी नहीं, सहजज्ञान है वही हुआ नैवेद्य, उससे मैं सहजसिद्ध भगवान को पूजता हूं। वे सहजसिद्ध भगवान विकल्परूप ज्ञान से अथवा लाडू घेवर वाबर आदि बाह्य जड़ पदार्थों से प्रसन्न नहीं होते। वे तो उस सहजबोध से जो पराश्रय से प्रगट नहीं

होता; जो भगवान के शरीर, समवशरण और दिव्यध्वनि-श्रवण के विकल्पों से रहित है उससे प्रसन्न होते हैं। जो कर्ममुक्त सिद्ध हैं वे प्रसन्न अर्थात् निर्मल हैं ही। लेकिन यहाँ सहजसिद्ध अपने भगवान को निर्मल करने का भाव विशेष लेना। ऐसी पूजा की परिणति के समय आस्रव, बन्ध और संवर, निर्जरा; ये चारों तत्त्व एक साथ चलते हैं। लोक में गंगा और यमुना के संगमस्थान की बड़ी मान्यता है। अरे ! अपना तीर्थ तो यहीं ही है। शुद्ध और शुभ दोनों उपयोगांशों का जहां संगम हो रहा है, सो ऐसा संगमरूप तीर्थ भी व्यवहारियों के लिये ही है। ज्ञानियों के लिये तो वही तीर्थ प्रधान है जहां से इन उपयोगों की धारा बहती है, इन उपयोगांशों का उद्गम होता है। वह उद्गमस्थान है— एकद्रव्यरूप आत्मा। जैसे गंगा के उद्गम स्थान को उसके संगमस्थान से भी अधिक महत्त्वपूर्ण तीर्थ मानते हैं ऐसे ही उपयोग को उद्गमस्थान के उपयोग-वृत्तियों से भी अधिक लक्ष्य की चीज मानते हैं। इतना अंश शुद्ध और इतना अंश अशुद्ध— यह व्यवहार व्यवहारियों के लिये है। हमारे और आप सबके सहजज्ञान का प्रवाह चल रहा है। उसका जो स्रोतस्थान है उस अकृत अर्थात् प्राकृतिक सहज शुद्धज्ञानरूप नैवेद्य से मैं स्वभावशुद्ध भगवान की पूजा करता हूं।

विहतजातिजरामरणान्तक नैवेद्यक द्वारा सहज सिद्ध का परिपूजन—वह नैवेद्य कैसी विशेषता वाला है ? तो कहते हैं कि 'विहतजातिजरामरणांतकै:' वह दिव्य नैवेद्य शुद्ध ज्ञान व आत्मा— जन्म-जरा-मरण और रोग आदि दशाओं से रहित है, ऐसी विशेषता वाला है। नित्य, ध्रुव, अचल और अविकारी है अथवा जिनकी दृष्टि अकृत बोध पर खचित हो जाती है । जिनकी दृष्टि शरीर पर जाती है उनका ख्याल जाता कि मैं इस रूप हूं उस रूप हूं, मेरा जन्म हुआ, मरण होगा। किन्तु शरीर में आत्मबुद्धि न हो तो इसका क्या जन्म और क्या मरण ? यह तो सर्वदा से है और सर्वदा रहेगा। बुढ़ापा आना, रोग-वियोग होना सो सब शरीराश्रित पर्याय हैं। आत्मा में न रोग आता और न बुढ़ापा। बाह्य संग और प्रसंगों का भय भी शरीरबुद्धि से होता है। परन्तु सम्यग्दृष्टि विचारता है कि मैं इन संग और प्रसंगों वाला नहीं हूं। मैं असङ्ग हूं तो किसका छूटना और किसका भय ? यदि बाह्य संगम का ख्याल करो तो अमुक परिवार धन आदि का संयोग तो फिर भी मिलेगा। इस शरीर के छूटने से कोई हानि नहीं है। लेकिन जिनकी दृष्टि बाह्य संयोग-वियोगों पर है उनके लिये तो जन्म-मरण-बुढ़ापा और रोग-वियोग सभी हैं। जो केवल चैतन्य पर दृष्टि रखता है, स्त्री-पुरुष आदि पर्यायों में नहीं, उसको जन्म मरण और बुढ़ापा आदि नहीं है। जीव अपने को जैसा मानता है वह उसका ही कर्ता होता है और उसका वैसा ही कर्म होता है। तो यहाँ सहज बोध की दृष्टि वाला भक्त अकृतबोध नैवेद्य के द्वारा जो कि अशुद्ध पर्यायों से रहित है उससे पूजा कर रहा है सहजसिद्ध भगवान की।

निरवधिप्रचुरात्मगुणालय सहजसिद्ध परमदेव का परिपूजन—वे सहजसिद्ध भगवान कैसे हैं ? 'निरवधिप्रचुरात्मगुणालयं' मर्यादा से बाहर, सीमा से अतीत, विपुल आत्मगुणों के भण्डार हैं। आत्मा के वे अनन्त गुण पृथक्-पृथक् नहीं हैं। वे गुण आत्मरूपी घर में बसते हों, सो नहीं। वे तो तन्मय होकर एकाकाररूप से हैं।

गुणों से भिन्न गुणी कोई चीज नहीं और गुणी से भिन्न गुण कोई चीज नहीं। बोलने में वैसा आना समझाने के लिये है। परन्तु आत्मा ऐसा अलग-अलग गुण वाला नहीं है। जब तक इन परिणामों की पहिचान नहीं, अलग-अलग मति नहीं कराई जाती तब तक इनका ज्ञान नहीं होता। अत: भेदरूप कथन करके आत्मा की प्रतीति कराते हैं—जैसे म्लेच्छ को स्वस्ति कहा गया तो वह कहने वाले मुंह की तरफ मेंढक की तरह देखने लगा। लेकिन जब उसे समझाया गया कि स्वस्ति माने है— तुम्हारा भला हो, तुम सुखी रहो। जब यह अर्थ समझा तो पुलकित वदन हो गया। इसी तरह अभेद स्वभावरूप चिन्मात्र आत्मतत्त्व को जगत के प्राणियों के लिये समझाने को यह भेद-रूप कथन किया जाता है। आत्मा ब्रह्म—इतना ही कहते चले जायें तो वे निश्चय उपदेष्टा उसे समझा नहीं सकते किंतु जब भेद और अभेद, निश्चय और व्यवहार; दोनों को कहने वाला ज्ञानी आचार्य जो पर्याय और द्रव्य को भले प्रकार समझते हैं वे जब संसारी प्राणी को समझाते हैं कि अमुक-अमुक पर्यायें हैं, उन पर्यायों में रहने वाला एक ज्ञाता-दृष्टा आत्मा है तो उसकी समझ में बैठ जाता। तो अनन्त गुणों से अभिन्न सहज सिद्ध भगवान को मैं भले प्रकार पूजता हूं। यहाँ यह अन्तरात्मा जो कि तुलना के विषयरूप दोनों पर दृष्टि पहुंचाता है, कभी व्यक्तरूप सहजसिद्ध कर्ममुक्त परमात्मा पर और कभी शक्तिरूप परमात्मा पर दृष्टि देता है। आत्मस्वभाव की कसौटी पर व्यक्तरूप परमात्मा और शक्तिरूप परमात्मा, दोनों को कसता है, तब अपने अनाकुलस्वभाव में लीन हो जाता है। यही भगवान की पूजा है। ऐसी पूजा महान आनन्दरूप है। जब तक वह अपूर्व आनन्द न आ पावे तब तक उसकी पूजा नहीं हो पाती।

परमार्थपरिपूजन का महत्त्व—मन, वचन और काय की जो शुभ क्रिया होती है वह अशुभ परिणामों के नहीं आने से है अथवा जो शुभ क्रिया की जाती है वह अशुभ से बचने के लिये की जाती है। इस प्रकार मैं उस अशुभरूप निम्नमार्ग से निवृत्त होकर मध्यममार्ग से, शुभोपयोग से उस सहजसिद्ध की पूजा करता हूं। किन्तु यह ध्यान में रखने की बात है कि वास्तव में जब तक शुभ विकल्प भी रहेंगे तब तक सहज सिद्ध की पूजा न होगी। उन विकल्पों से अतीत उन विकल्पों द्वारा कहा जाने वाला चैतन्यतत्त्व ही जब किसी क्षण अनुभव में आता है तब स्वभावसिद्ध चैतन्य देवता की पूजा होती है। जब बच्चा रूठ जाता है तब उसे खिलौने आदि से बहलाकर बड़ा अपने काम में लग जाता है। बच्चों की तरह ये मन-वचन-काय के व्यापार भी हमें परेशान कर रहे हैं, सो उन्हें शुभोपयोग के कार्यरूपी खेलों में—भगवान की मूर्ति के अवलम्बन से पूजा की द्रव्य और स्तोत्र, भजन, नमस्कार आदि में फंसा, वहाँ क्या आशय है ? उनके बहाने हम भी कोई सुन्दर निज क्षण पाते ही अपने (चैतन्य अनुभव के) कार्य में लग सकें; यह पूजक का अभिप्राय होता है। पूजा पुण्यबन्ध ही कराती है यह एकान्त बात नहीं है। पूजा करने वाला जब पूजा का आधार सहजसिद्ध परमात्मा को बनाता है तब वहाँ शुद्धोपयोग के स्पर्श होते ही वह संवर और निर्जरा का कारण भी होता है। जैसे व्रत तपादि को बन्ध का कारण कहा। सो वहाँ भी जब बाह्य विरति होकर स्व में रति होती है तब संवर और निर्जरा होती है। मोक्षमार्ग में इस सहज अध्यात्मप्रयोग के बिना संवर और निर्जरा नहीं होती और फिर बिना संवर और निर्जरा के मोक्ष भी कैसे

हो ? अत: बीच में ये पूजादि व्यवहार से हमारे कल्याण-साधक होते हैं। ठीक इसी तरह सहजसिद्ध भगवान की पूजा भी संवर और निर्जरा का कारण बनती है। ऐसा इसका महात्म्य है । ऐसी पूजा कोई बिरला मुमुक्षु ही कर सकता है।

दीप छंद

सहजरत्नरुचिप्रतिदीपकै: रुचिविभूतितम: प्रविनाशनै:।

निरवधिस्वविकाशविकाशनै: सहजसिद्धमहं परिपूजये ।।

सहजरत्नरुचिप्रदीप सहजसिद्ध का परिपूजन—मैं ऐसे दीपक के द्वारा सहजसिद्ध को पूजता हूं जो कि सहजरुचि को दीप्त करने वाला है, वह दीपक कौनसा है ? सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूपी रत्न । यह रत्नत्रयरूपी दीपक अनादि अनन्त और सहज सिद्ध है। जगत के प्राणियों की रुचि जड़ रत्नों में रही। रत्न; सार चीज को कहते हैं। सो मोही जीवों ने जड़ को रत्न समझा, किन्तु सिद्ध भगवान की पूजा हम उन जड़रत्नों से नहीं कर सकते। वह तो सहज उपयोग को ही प्राप्त करने वाले रत्नों से होती है। ऐसे ये रत्न तब से है जब से यह आत्मा है। जब अभेददृष्टि से कहते तो शक्तिमान और जब भेददृष्टि से कहते तब शक्तियों को कहा जाता है। सबसे बड़ी शक्ति भगवान की वह है जो उनके स्वरूप में और उनके बताये हुए तत्त्वों के आचरण में होती है। मोही जीव सहजभावों में तो रुचि नहीं करता। सम्पूर्ण बाह्यद्रव्यों का परिणमन मेरे में नहीं और मेरा परिणमन उनमें नहीं, ऐसा अनुभव नहीं करता। सो बाह्य पदार्थों में तो कोई रति-अरति नहीं कर सकता, अपने चारित्रगुण के विकार को ही करता है। यदि कोई किसी का परिणमन करता होता तो संसार में किसी पदार्थ का अस्तित्त्व ही न रह जाता। अपने अनुभव और पौराणिक कथाओं से देख लो, कौन किसका क्या करता है ? सब अपने आपमें रुचि कर रहे हैं।

स्वार्थसाधना का एक चित्रण—राम और सीता का प्रेम प्रशंसनीय समझा जाता था लेकिन अपने यश की, राज्य की मर्यादा के मोह में मन्दिरों की वन्दना के बहाने सीता को बीहड़ जङ्गल में छुड़वा दिया जब कि वह गर्भ के दिनों को पूरा कर रही थी। यदि कोई साधारण पुरुष ऐसा दंभ करे तो करे लेकिन लोकोत्तर महापुरुष ऐसा करे तो उसे क्या कहा जाये ? उस समय के उनके कषाय की (उस जाति की) ही बात इसमें कारण समझना चाहिये। पीछे अविनाश रहा सो प्रशंसा हो रही कि मर्यादा पाली थी। कहां रहा वह प्रेम ? जब जंगल में सीता को रथ से उतारकर रथवाहक कृतांतवक्र उनको राम के परित्याग की बात कहता है तब सीता राम के प्रति प्रेम के बारे में क्या भावनाएं करती होंगी ? उसका मन कैसे भावभ्रमर में डूब और उभर रहा होगा ? जब कृतांतवक्र सीता को उनके परित्याग का कारण बताता है कि लोगों के कहने से स्वामी ने यह कठोरता अपनाई

है तो सीता राम को संदेशा देती है कि राम से कह देना 'जैसा लोगों के कहने से आपने मुझे छोड़ दिया है उसी तरह लोगों के कहने से धर्म नहीं छोड़ देना।' बहुत समय बाद, सीता के गर्भ से पैदा हुए लव और अंकुश राम से युद्ध ठानते हैं, तब राम के उन पुत्रों के भावों पर विचार कीजिये, आखिर राम पिता ही तो थे लेकिन सीता मां के पक्ष की कषाय ने राम से युद्ध कराया। इसके पश्चात् राम के कहने पर ही सीता जब राजसभा में आई तब राम भर्त्सना कर कहते हैं—सीते ! तुम्हें यहाँ आते लज्जा नहीं आती ? तुम्हें जङ्गल में छुड़वा दिया गया था। अब इस घर में आने का अधिकार तभी मिल सकता है तब अपने शील की परीक्षा दे लो।

परमार्थस्वार्थसाधना का एक चित्रण—अनुमान लगाया जा सकता है कि राम का सीता के शील-परीक्षण की आज्ञा का उस भरी सभा में सीता के लिये कितना आघातकर हुआ होगा ? कहां गया वह राम का प्रेम ? संसार के चरित्र को विचारिये। सीता उत्तर देती है कि पहले मैंने समझा था कि आपका हृदय तो कोमल ही है लेकिन प्रजा की मर्यादा का ख्याल करके आपने मुझे वनवास दिया था, हृदय को कठोर बरबस बनाया था लेकिन आज मैं देख रही हूं कि आपका हृदय सचमुच में कठोर हो गया है और आप जिस तरह से भी मेरे शील की परीक्षा लेना चाहें, मैं परीक्षा देने के लिये तैयार हूं। विष खाकर, अग्नि में कूदकर जैसी भी आपकी आज्ञा हो। राम ने अग्नि-परीक्षा देने का निर्णय किया। अग्निकुण्ड तैयार कराया गया। सीता पंचपरमेष्ठी का स्मरण करके यह कहती हुई कि यदि मैंने मन, वचन या काय से परपुरुष से प्रेम किया हो तो हे अग्नि ! मुझे भस्म कर देना। सीता की श्रद्धा और धैर्य को देखिये। इस प्रसंग पर उसके मन में कितना वैराग्य बढ़ा होगा ? केवली की पूजा के लिये जाते हुए देव ने ऊपर से यह अग्नि परीक्षण का दृश्य देखा और उसके भाव हुए कि सीता निर्दोष है। धर्म को कलंक न लगे, इसलिये इसकी रक्षा करना कर्तव्य है और अग्निकुण्ड को सरोवर कर दिया। देव ने क्या किया ? सीता के पुण्य ने यह माहात्म्य प्रगट किया। परीक्षा हो चुकने पर राम सीता से विनयपूर्वक घर में प्रवेश करने का निवेदन करते हैं, लेकिन सीता को इस पर ध्यान ही न गया और वैराग्य में सनी पंचमुष्टि लोचकर आर्या बन गई। राम मूर्छित हो जाते हैं, फिर भी सीता उनकी तरफ दृष्टिपात नहीं करती। सीता का प्रेम और पति-भक्ति गई ? वास्तव में सांसारिक भावना भ्रमपूर्ण ही है कि अमुक के लिये प्रेम करता ,पालता वा दु:ख देता है। सब अपने परिणमन में चल रहे हैं। आत्मा जब अपने कर्तव्य में स्थिर हो तब वहाँ कौन पति और कौन पत्नी ?

रुचिविभूतितमःप्रविनाशक दीपों से सहजसिद्ध की उपासना—बड़े-बड़े पुराणों में और अपने अनुभव में देख लो कि कौन किसको दु:खी-सुखी करता है, फिर भी मोही जीव की रुचि पर में रहती है। भगवान की पूजा इन परभावों से नहीं होती। वे पूजे जाते हैं सहजसिद्ध रुचि वाले दीपक से। 'रुचिविभूतितम:प्रविनाशनै:' सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूपी रत्नों की किरणों की विभूतियां जो मोहरूपी अंधकार को नष्ट कर देती हैं ऐसे आत्मविभूति वाले दीपक से पूजा की जाती है। मोह को नष्ट कर देने का बल तो वह है ज्ञान

की किरणों में; विपदाओं को दूर कर देने का बल ज्ञान में है। उसी से सुख-शांति मिलती है। यह जीव कहां-कहां भटका, फिर भी उन्हीं में उलझा हुआ है। जैसे कोई शराबी ठोकरें खा करके भी शराब पीने की आदत को नहीं छोड़ता उसी तरह मोही प्राणी भी ठोकरें खाता रहता है, अनेक तरह के दु:ख भोगता रहता है, इष्टवियोग और अनिष्टसंयोग के प्रसङ्गों को पार करता रहता है। इस मोहअंधकार को दूर करने वाला जो ज्ञानदीपक है उसमें मैं आपकी पूजा करता हूं।

निरवधिस्वविकासविकासक दीप से सहजसिद्ध का परिपूजन—'निरवधिस्वविकाशनै:'—पर्याय स्वयं के द्रव्य से व्यक्त हुआ करती है, सो यदि उपयोग ने, दर्शन ज्ञान और चारित्र ने पर का अवलम्बन लिया तो मलिन पर्याय प्रगट होती है और जहां उपयोग ने स्व का अवलम्बन लिया वहाँ निर्मल पर्याय प्रगट होती है। लोग कहते हैं कि चित्त की स्थिरता कैसे हो ? तो उत्तर है— ज्ञान से। अपने आपका बोध बहुतसी अस्थिरताओं को खतम कर देता है, बाह्य में चित्त नहीं जाता तो अपने आपमें स्थिर हो जाता है। जहाज पर एक पक्षी बैठा था। जहाज के चलने पर वह उसी पर बैठा हुआ बहुत दूर तक निकल गया। जब वहाँ से स्थल पर आने को मन करता है और २-४ मील इस उस दिशा में उड़ता है और स्थल या वृक्ष आदि का अवलम्बन नहीं पाता तो पीछे उसी जहाज पर आ जाता है। इसी तरह जिन्होंने आत्मस्वभाव को जाना है, मेरे द्वारा अन्य में परिणमन होता ही नहीं, मुझसे बाहर मेरा कुछ होता ही नहीं, ऐसी जिनकी अचल श्रद्धा हो वे उस पक्षी की तरह पर के अवलम्बन बिना घूम फिरकर बाह्य उपयोग में चला जाकर भी अपने आपमें आ जाता है, ज्ञान-परिणति में रम जाता है। सम्यग्ज्ञान बिना न कोई स्थिर हो सकता है और न कोई सुखी, तो वह सम्यक्ज्ञान की पर्याय जिस द्रव्य से निकलती है उसे न जाने तो स्थिरता कैसे आवेगी ? तो द्रव्य में पर्यायें व्यक्त होती हैं उस द्रव्य को पहचानना सम्यग्ज्ञान है। यह बड़ी भारी खोज है, यही एक आध्यात्मिकता है। मैं जिस सहजसिद्ध को पूजता हूं वह सम्यग्ज्ञान से परिपूर्ण है। क्षायिकभाव आत्मा का पूर्ण विकास है, यह विकास कर्म के कारण से नहीं होता, अपनी शक्ति के विकास से ही होता है; अविकास होने में वे निमित्त थे, इसलिये अब क्षय के रूप में निमित्त कहे जाते हैं। बस अपने सहजस्वभाव को देखते रहने से ही अपने आप ही शक्तियों का विकास हो जाता है।

ज्ञानपुञ्ज परमात्मत्व की अभ्यर्चना—सभी परमात्मा के अंश हैं, यह जो कहा जाता है सो तिर्यग्रूप नहीं, किन्तु प्रत्येक आत्मा ज्ञान-दर्शन-गुणमय है। उस आंशिक विकास के कारण अथवा उपचारेण जाति से परमात्मा का अंश अथवा परमात्मा की जाति का कहा जाता है । परमात्मा ज्ञानमय है और हमारे भी ज्ञान के अंश प्रगट होते हैं इसलिये परमात्मा के अंश कहलाते हैं और जब पूर्णज्ञान प्रगट हो जाता है तब परमात्मा कहलाने लगते हैं। परमात्मा में मुक्त हुआ आत्मा मिल जाता है, ऐसा जो कहा जाता है सो इस तरह जैसा कि किसी को अमुक गोष्ठी में पहुंचने पर उसमें मिल जाना कहा जाता है । यह आत्मा अपने विकारों को दूर कर शुद्ध रूप जब प्रगट कर लेता है तो पूर्व में हुए जो सिद्ध हैं उनके ही समकक्ष हो जाता हैं कोई भी गुण न्यूनाधिक नहीं

होता, अतः एक रूप, एक जाति और एक सिद्ध शिला का स्थान सब सिद्धों का लेने से मिल जाता है। मुक्तात्मा अन्य मुक्तात्मा के स्थान में मिल जाता है ऐसा समझना चाहिये । सो ऐसे प्रगट परमात्मा को वा स्वभावसिद्ध निज आत्मा को शुद्धज्ञानरूप दीपक से पूजता हूं। पूजा का यही महत्त्व है, आत्मनिर्मलता का भाव उसमें प्रधान है, भक्ति का लक्ष्य केवल यही है। अन्यथा न तो भगवान खुश होकर हमको कुछ दे देते और न हमारा कोई प्रयोजन भी रह जाता जो कि उचित और श्लाघनीय कहा जा सके ।

धूप छंद

निजगुणाक्षयरूपसुधूपनैः, स्वगुणघातिमलप्रविनाशनैः।

विशदबोधसुदीर्घसुखात्मकं, सहजसिद्धमहं परिपूजये ।।

परमार्थतः स्वपूजा की शक्यता—मैं अपने अक्षय गुणरूप सुधूप से पूजा करता हूं। भगवान बाह्यदृष्टि से वा बाह्यपदार्थ से नहीं पूजे जाते। अपना सहजसिद्ध-भगवान अपनी ही दृष्टि से पूजा जा रहा है। भगवान को पूजना औपचारिक कथन है, क्योंकि अपने से भिन्न पदार्थ का काम कोई नहीं कर पाता, अभिन्न ही करता है। जैसे—दूसरे से प्रेम करने की जो बात कही जाती वह ठीक नहीं, वह अपने से ही प्रेम करता है, निमित्त (आश्रय) पर का होता है। प्रेम चारित्रगुण की विकारी पर्याय है, वह आत्मा की आत्मा में ही रहेगी, आत्मा के प्रदेशों में ही रहेगी, दूसरे द्रव्यों के प्रदेशों में नहीं। किन्तु वह पर्याय जिस ख्याल से बनी है उसमें जोड़ते हैं कि अमुक को प्रेम किया आदि। जैसे—किसी ने पुत्र को प्रेम किया, यह कहा जाये तो समझना चाहिये कि उसने पुत्र को आश्रय कर अपनी रागपर्याय की। उसकी वह रागपर्याय अपने में ही बनी, पुत्र में नहीं किन्तु पुत्र के आश्रय से बनी इसलिये उसका कह देते हैं। शुद्ध वाक्यप्रयोग इसके लिये क्या है ? कि पुत्र को निमित्त पाकर अमुक पुरुष ने प्रेम परिणमन किया। मैंने अमुक से बैर किया— यह वाक्यप्रयोग अशुद्ध है। शुद्ध प्रयोग यह होगा कि अमुक को निमित्त पाकर मैंने अपने में बैर किया। अमुक स्त्री पति में मोह करती है, इसका तथ्यदर्शक प्रयोग होगा कि अमुक स्त्री पति को निमित्त करके मोही बन रही है। यदि इस तरह शुद्ध वाक्यों का प्रयोग जीवन में होने लगे तो बहुतसी बुराइयां दूर होती चली जायें। किन्तु व्यवहार में ऐसा बोलने में अटपटासा लगता है, इसलिये निमित्त के प्रति कर्तृत्त्व के रूप में बोलते हैं। ऐसा बोलने पर भी यदि प्रतीति में यथार्थता हो तो भी विशेष हानि नहीं है किन्तु अधिकतर प्राणियों की प्रतीति यथार्थ नहीं होती, परकर्तृत्व की होती है। तो व्यवहार में जो भाषा चलती है उसी को यदि ठीक मान लें तो वस्तु की स्थिति ओझल हो जाये।

स्वयं में स्वयं का कर्तृत्व व भोक्तृत्व—व्यक्ति अपने आपको प्रेम और द्वेष करता है किसी को अच्छा या बुरा क्या करेगा ? तो जो विकार करेगा तो उसका फल किसे मिलेगा ? उसी को मिलेगा। उसके मन में भी उस दरजे की आकुलता होगी, दु:ख होगा, परेशानियां होंगी, आगे के लिये दु:ख की परम्परा बना लेगा। मैं तो इसका ऐसा करूंगा ही। इसका अच्छा करूंगा, इसे हानि पहुंचाऊंगा आदि हठरूप कषाय की। उससे उस

व्यक्ति ने अपना कितना बड़ा अहित किया ? दूसरे का तो वह कर ही क्या सकता है ? उसका परिणमन तो उसके द्वारा ही होगा, लेकिन हमने उसके प्रति जो रागद्वेष के परिणमन किये उनका फल तो हमको ही भोगना पड़ेगा, दूसरा न भोगेगा। दूसरे ने मेरे साथ ऐसा बर्ताव किया इसलिये मुझे भी उसके साथ ऐसा ही व्यवहार करना चाहिये आदि सोचना ठीक नहीं है। किसी साधर्मी ने मेरी निंदा कर दी तो निंदा उसने अपने आपमें की, उसका बुरा फल उसे मिलेगा, उसमें नये विकार पैदा होने के संस्कार बनेंगे, उन भावों के निमित्त से उसके कर्मबन्धन भी उस तरह का होगा। और मेरी जो निंदा की सो उसकी परिणति से मैं निमित्तभूत रहा, मेरा तो इसमें कुछ बिगाड़-सुधार नहीं। लेकिन मेरे उपादान को उस निमित्तभूत निंदावचन का प्रसंग मेरे ही पूर्व कषायभाव के निमित्त से बन्धे हुए कर्मों के उदय से हुआ, अब हमें यदि उनमें विकार लगने लगें तो वे निंदावचन हमारे लिये निमित्त होंगे और हमारे विकारों का जो परिणमन होगा वह अपने उपादान से होगा। तो निंदा सुनकर हम कषायभाव न लायें तो हानि किसकी है ? निंदा करने वाले की। और यदि हम भी कषाय लायें तो हमारी भी हानि है। तो पर की दृष्टि को दूर करना चाहिये। दूसरा यदि हमें मारने को भी तैयार हो जाये तो भी उसके परिणमन में ध्यान न दें, अपनी परिणति पर ध्यान रखना चाहिये कि इसकी परिणति का कर्ता यह है और मेरी परिणति का कर्ता मैं होऊंगा।

पर के प्रति प्रशमभाव रखकर स्वयं प्रसन्न रहने की शिक्षा—सम्यग्दृष्टि जीव आक्रान्ता की प्रतिक्रिया करता हुआ भी अपना अभिप्राय इस तरह यथार्थ रखता है। जैसे बालक खेलते-खेलते कोई बात बिगड़ जाने पर आपस में कह देते हैं कि हमने तुमसे दोस्ती कट्ट कर ली, लेकिन थोड़ी देर में फिर मित्र बन जाते और प्रेमपूर्वक साथ-साथ खेलने लगते। बालकों से बड़ी शिक्षा मिलती है, उनके हृदय में स्थायी कषाय नहीं होती। यह तो ज्यों-ज्यों बड़े होते हैं त्यों-त्यों बढ़ती है। हम लोग भी कभी बालक थे, जिसमें कि कई कषायें मंद वा क्षणिक थी। हम दूसरों की समझ में अच्छा या बड़ा बनने के लिये जो कई तरह की असत्प्रवृत्तियां करते रहते हैं, अपने वा दूसरों के प्रति अन्याय करते हैं, यह हमारे लिये बड़ी खतरनाक बात है। हम अपना बुरा करते हैं, इस तरह दूसरों की प्रसन्नता के लिये। लेकिन हमारी उन असत्प्रवृत्तियों का फल हमको ही भोगना पड़ेगा, वे अच्छा करने वाले और बड़ा मानने वाले हिस्सेदार न होंगे। दूसरे हमसे अप्रसन्न रहें या प्रसन्न, हमको तो उपादेय तत्त्वों पर ही दृष्टि दृढ़ रखना चाहिये और तदनुकूल चलने की चेष्टा करना चाहिये। दूसरे के फेर में अपना अहित कदापि न करना चाहिये। अहंबुद्धि और ममबुद्धि को मजबूत न करना चाहिये। पाप में पैर देते भय खाना चाहिये। कर्मबंध की व्यवस्था प्रतिसमय सुव्यवस्थित चलती रहती है। जिस क्षण में हम जैसा परिणमन करते हैं, उस क्षण उस तरह का बंध पड़ता रहता है और आगामी काल में हमारे परिणमन में वे निमित्तरूप से उदयरूप में तैयार खड़े रहते हैं।

सत्प्रवृत्ति करके निरपराध रहकर स्वपर दया करने का अनुरोध—हम चाहे छुपकर भी पाप क्यों न करें, लेकिन उसका दण्ड उस अपराध के अनुरूप मिले बिना न रहेगा। पीछे हम अपनी विशेष निर्मलता से उपशम, क्षय या संक्रमण आदि कर लेवें, यह आगे अपनी ही परिणति की निर्मलता की बात है। तो अपनी दृष्टि ऐसी बनानी चाहिये कि दुनियाँ में चाहे मैं कैसा भी कहलाऊं किन्तु हमें तो अपना कर्तव्य ही करना चाहिये, दिखावटीपन में न जाना चाहिये। अपना सदुद्देश्य न भूलना चाहिये। आत्मा का अपराधी न बनना चाहिये। ऐसी स्वदया पालने पर हमारे गुण अक्षय रहते हैं अथवा हमारे अक्षय गुणों से ऐसी स्वदया प्रगट होती है। आत्मा में अनादि काल से ऐसे अनन्त अक्षय गुण रह रहे हैं उन अक्षयगुणरूप धूप से पूजा करता हूं। किसकी ? सहजसिद्ध भगवान की। ऐसी पूजा से हम उस जगह पहुंच जावेंगे जहां दुनियाँ का कोई विकल्प नहीं। हमें अपने उपयोग को ऐसा बनाना चाहिये जहां सब द्वंद्वभाव मिट जावें, एक में ही लौ लग जाये। मैं अपनी अंगुलियों को टेढ़ी-मेढ़ी आदि करता हूं यह उपचार का कथन है। अंगुली मेरी इच्छा का निमित्त पाकर स्वयं अनेक दशाओं में हो रही है। इन सब दशाओं में अंगुली तो एक है, न कि अनेक। तो उस अंगुली को बताओ वह कहां है ? कोईसी भी दशा को लेकर उत्तर दोगे तो वह उत्तर गलत होगा। वस्तुत: वह एक, जिसकी अनेक हालतें होती रहती हैं वह बाह्यरूप से बताने में नहीं आ सकता। हमारी आत्मा की भी अनेक दशाएं हो रही हैं। उन सब अनेक दशाओं में रहने वाले एक चेतन पर ध्यान लगाना चाहिये जिससे कि सारी पर्यायों को भूल जाऊं। और उसी एक का ही अनुभव हो। आगे उस एक के विकल्प को भी भूलकर निर्विकल्प स्थिति में पहुंच जावें। देखो, हममें ताकत है कि इस चौकी को उठा लें, सो उठाना तो आप देख सकते हैं लेकिन उस ताकत को दिखाओ। नहीं बता सकेंगे। इसी तरह पर्याय तो बतायी जा सकती परन्तु शक्ति व द्रव्य नहीं। तो वस्तु की यथार्थता पर पहुंचने के समय मन अन्य वस्तुओं से हटकर एकाग्र हो जाता। जैसे बेहोशी में अन्य का कुछ पता नहीं रहता, इसी तरह शक्तियों को वा द्रव्य को विचारने से शक्तियों की तरफ से भी चित्त हटकर द्रव्य पर आ जावेगा।

ध्रुव तत्त्व के ध्यान में कल्याणलाभ—देखो, एकाग्रता में यदि यथार्थता हुई तो वह मोक्षमार्ग का साधक ध्यान कहलावेगा। ध्यान में कभी ध्येयभूत पदार्थ में भी एकाग्रता होती है किन्तु वहाँ भी उस ध्येय के अतिरिक्त और सब भूल जावेंगे, ध्यान में न आवेंगे। सुखी बनने का एक यही उपाय है। कहा भी है—

मा चिट्ठह मा जंपह मा चिंतह किंवि जेण होइ थिरो।

अप्पा आप्यम्मि रओ इणमेव परं हवे ज्झाणं द्रव्यसंग्रहा।। (द्रव्यसंग्रह ५६)

अर्थात्—न कुछ विचारो, न कुछ बोलो, और न कुछ चेष्टा करो। स्थिर होकर स्वयं अपने में ही लीन हो जाना, यही ध्यान कहलाता है। दुनिया÷ को क्षणिक चीज का तो बहुत ख्याल है लेकिन उस एक ध्रुव की खबर ही नहीं। जिस आत्मा की मनुष्य, तिर्यञ्च और उसमें भी विभिन्न तरह की दशाओं पर दुनियाँ का ध्यान जाता

है उनका आधार जो एक आत्मा है उस पर भी तो ध्यान जाना चाहिये। उस एक का ध्यान अक्षय गुणों का साधक है। ऐसे उन अपने अक्षयगुणरूप धूप से हे सहजसिद्ध भगवन् ! मैं आपकी पूजा करता हूं।

स्वगुणघातिमलप्रविनाशक धूप से सहजसिद्धि का परिपूजन—'स्वगुणघातिमलप्रविनाशनै:' यद्यपि कर्म आत्मा में राग-द्वेष मल आदि पैदा नहीं करते, फिर भी उनका निमित्त पाकर वह वैसा बन जाता है। जैसे—मोहनी धूल से व्यक्ति मोहित हो जाता है। धूल अच्छा है लेकिन उसका निमित्त पाकर वह स्वयं बेहोश हो जाता है। बेहोशी की परिणति उसकी स्वयं की स्वयं से हुई, लेकिन निमित्त मोहनी धूल हुई। अथवा जैसे:—एक लड़का दूर खड़ा हुआ अपनी अंगुली को हिला-डुला करके दूसरे लड़कों को चिड़ा रहा है । वह लड़का चिड़ा रहा है ऐसा जो कहा जाता है वह औपचारिक है। वास्तव में बात ऐसी है कि लड़के की अंगुली की क्रिया अंगुली में है उसके प्रदेशों से बाहर नहीं। प्रत्येक वस्तु अपने प्रदेशों में ही कुछ भी हरकत कर सकती है, अनेक प्रदेशों से बाहर नहीं । तब दूसरे लड़के को उसने कैसे चिढ़ाया ? ऐसा उपचार क्यों किया जाता ? इसलिये कि लड़के में उसी समय क्रोध और अहंकाररूप भाव हुए, उसके लिये निमित्त हुई सामने वाले लड़के की अंगुली। यदि वह अपनी आत्मा में चिड़ने के भाव न बनावे तो सामने वाला लड़का या उसकी अंगुली उसे चिड़ाने में असमर्थ होगी। तब चिड़ने की क्रिया में वह स्वयं कारण कहलाया। उसी का भाव, उसकी क्रिया में अन्वयव्यतिरेक हुआ लड़का वा उसकी अंगुली। ठीक इसी तरह संसार के सब पदार्थों की व्यवस्था बन रही है। कर्म-पुद्गल अपने में परिणमते, किन्तु जब वे हृदय में आते हैं तो उसी समय आत्मा उस तरह का विकल्प करता है, दोनों का एक ही समय निमित्तनैमित्तिकरूप से होता। यदि यह बात समझ में आ जावे कि कोई द्रव्य किसी की परिणति नहीं करता, मेरा असर मुझमें ही है—ऐसा विचार आ जावे तो स्वाश्रित दृष्टि की सहजसिद्ध भगवान की पूजा हो सकती है, अन्यथा नहीं। अनन्त काल से ऐसी पूजा नहीं कर पाया इसीलिये भवभ्रमण चल रहा है। तो अपने अक्षयगुणों को घातने वाले जो मल (व्यवहार से द्रव्य-कर्मरूप और अशुद्ध निश्चयनय से भावकर्मरूप) हैं उनको नष्ट कर देने वाले भावरूप धूप से मैं—'विशदबोधसुदीर्घसुखात्मकं'—निर्मल और विशाल तथा अनन्तसुखस्वरूप सहजसिद्ध भगवान की पूजा करता हूं।

ज्ञानानन्दात्मक सहजसिद्ध की उपासना—आत्मा में यद्यपि अनन्त गुण हैं तो भी यहाँ ज्ञान और आनन्द—इन दो गुणों को कहा है । वह इसलिये कि आत्मा के आकार-प्रकार आदि से उसका कुछ बनता बिगड़ता नहीं है। बिगड़ता है सुख में विकार आने से और ज्ञान में विकार या मन्दता आने से। आत्मा के अनन्त गुणों में सुख और ज्ञान—ये दो गुण मुख्य हैं। भगवान को अधिकतर वीतराग और विज्ञानी (सर्वज्ञ) के नाम से ही कहते हैं और उन दो में भी वीतरागता को प्रधानता देते क्योंकि आनन्द तो वीतरागता में ही रहता, इसीलिये लोगों की दृष्टि उस पर विशेष जाती और वीतरागता आने पर सर्वज्ञता तो आती ही है। इच्छा का अभाव होने पर ज्ञान और दूसरे गुणों में परिपूर्णता आ ही जाती है। चाह करने से आत्मवैभव ओझल रहता जबकि चाह घटने पर

वह प्रगट होता है, इसकी यही पद्धति है। इस तरह अनन्त गुण वा उनमें प्रधान पूर्णवीतरागता और सर्वज्ञता से भरपूर सहजसिद्ध भगवान की मैं पूजा करता हूं। सिद्धालय में विराजमान भगवान को नाम आदि निक्षेप से पूज लिया और अपने आपको मार्ग नहीं मिला, मोह नहीं गया, कषाय नहीं घटी तो स्वयं को क्या लाभ हुआ ? तो उनका ख्याल करके अपने आपकी पूजा होती है। वस्तुत: आत्मा का सम्बन्ध प्रत्येक पदार्थ से ज्ञेय-ज्ञायक का ही है। भगवान से भी भक्त का यही सम्बन्ध है। जाप लेना मात्र चेतना का व्यापार होना चाहिये, उससे आगे बढ़कर उनमें अन्य कल्पनाएं करना भूल है। लोकव्यवहार में भी यह दृष्टि रखें कि बस पदार्थों को जानना भर रहे। जान लिया कि यह दुष्ट है तो उसके साथ केवल इतना ही सम्बन्ध रखे, उससे और राग-द्वेष के सम्बन्ध स्थापित न करे, तो वह सुखी रहेगा। सुखार्थी को प्रतिदिन निज चैतन्यप्रभु के दर्शन करना चाहिये। नियम संयम निज का अति लाभकारी है।

ज्ञाता-द्रष्टा रहने में सहज लाभ—एक साधु ने एक सेठ को भगवान के दर्शन करके भोजन करने की प्रतिज्ञा लेने को कहा । सेठ इसे स्वीकार न कर सका । तब सुबह सरलता से जिसके दर्शन हो सकते हैं उसके दर्शन करके रोटी खाने को कहा गया । सेठ ने यह प्रतिज्ञा ले ली और सेठ सामने कुम्हार के चन्दुआ भैंसे के दर्शन करके ही भोजन करने लगा । एक दिन कुम्हार उस चन्दुआ भैंसे को प्रभात में जल्दी ही खदान पर मिट्टी लाने के लिये ले गया। सेठ ने जब उसके यहां दर्शन न पाये तो खदान पर भागता गया। वहां कुम्हार को जमीन खोदते-खोदते सोने से भरा हंडा मिला। मौके की बात, उसने इधर-उधर देखा की कोई देख तो नहीं रहा है कि इतने में ही सेठ की नजर चंदुआ भैंसे पर पड़ी । बस उसका दिखना था कि वह पीछे वापिस हो लिया । कुम्हार को शक हुआ कि सेठ जी ने यह सुर्वण देखा लिया है। उसने बुलाया— सेठ जी ! आइये तो सही । सेठजी ने कहा— हमने तो देख लिया। उसका मतलब था कि हमने भैंसे के दर्शन कर लिये और वह समझा कि धन देखने की बात कर रहे हैं। उसके बहुत बुलाने पर भी जब सेठजी नहीं लौटे तो मौका पाकर स्वर्ण का वह हंडा सेठ जी के घर ले गया और उसने हिस्सा बांटकर दिया और कहा कि किसी को इसकी खबर न पड़े, नहीं तो राजा यह धन आपके पास न रहने देगा। यह तो एक भौतिक नियम का फल था। यह तो उसे शल्य करने वाला है परन्तु निज चैतन्य के दर्शन अपूर्व लाभकारी हैं। इस कहानी से केवल इतना सारांश लेना कि ज्ञातादृष्टा रहना ही उत्तम है। संसार की और बातों में उलझना ठीक नहीं। हम किसी का कुछ नहीं कर सकते । कमाई करना, कुटुम्ब पालना आदि व्यवहार से कहे जाते हैं । वास्तव में पुद्गल के अणु-अणु और प्रत्येक आत्माएं अपनी-अपनी परिणति में हैं । अपने-अपने पुण्य-पाप से सुखी-दुःखी हैं। तो केवल ज्ञेय-ज्ञायक का सम्बन्ध रखने वाला पूजक अनन्त सुख और ज्ञान से परिपूर्ण और सहजसिद्ध भगवान की सहजसिद्ध धूप के द्वारा पूजा करता है।

फल छंद

परमभावफलावलिसंपदा सहजभाव कुभावविशोधया।

निजगुणास्फुरणात्मनिरंजनं, सहजसिद्धमहं परिपूजये ।।

मैं परम भाव की फल-पंक्ति से सहजसिद्ध भगवान की पूजा करता हूं। देखिये, सहजसिद्धता के तथ्यपरिचय के लिये आप इन नयों के विषयों को अच्छी तरह समझ जाएं और हरएक बातों में लगाएं। नय ४ हैं—१ परम शुद्ध निश्चयनय, २ शुद्ध निश्चयनय, ३ अशुद्ध निश्चयनय, ४ व्यवहारनय। (१) जहां द्वैत आवे वहां व्यवहारनय होता है। जैसे—जीव कर्म के उदय से रागी होता है, यहाँ दो का मेल बैठाया गया, दो का संग कहा गया। अत: वह व्यवहारनय का विषय हुआ। (२) अशुद्धनिश्चयनय—एक को ही कहना, लेकिन अशुद्ध पर्याय को कहना, जैसे—जीव के रागद्वेषादि भाव। यहाँ पर राग-द्वेष को, कर्म के निमित्त को न देखकर, नहीं कहकर आत्मा के कहे गये, इस एक के वे विकारीभाव हैं। अत: अशुद्धनिश्चयनय का विषय हुआ। (३) शुद्धनिश्चयनय—शुद्ध पर्याय को प्रधान करके कहता है। जैसे—भगवान शुद्ध हैं, केवलीज्ञानी हैं आदि। (४) परमशुद्ध निश्चयनय—द्रव्य को या एक स्वभाव को विषय करता है। अनादि से अनन्त काल तक एक स्वभाव से निश्चल एक को कहने वाला जो नय है वह परमशुद्ध निश्चयनय है। तो सहजसिद्ध दो प्रकार के हैं—(१) परमशुद्ध निश्चय के विषयभूत और (२) शुद्धनिश्चयनय के विषयभूत। (१) सम्पूर्ण आत्माएं जो सारी हालतों में स्वभाव से सिद्ध-स्वरूप हैं, वे परमशुद्ध निश्चयनय के विषयभूत सहजसिद्ध हैं। (२) और जो कर्ममुक्त सिद्ध हैं वे शुद्धनिश्चयनय के विषयभूत सहजसिद्ध हैं।

निर्मलभावफलावली से सहजसिद्ध की उपासना—यहाँ सहजसिद्ध की पूजा में निर्मलभावोंरूप फल की पंक्तियों से, पूजा करने का जो भाव व्यक्त किया है वह शुद्ध निश्चयनय से है, परमशुद्ध निश्चयनय में ऐसा भेद नहीं होता। निर्मल भावरूप जो पर्याय है वह शुद्ध निश्चयनय की चीज है और हमारे जो भाव हैं वे अशुद्ध निश्चयनय की चीज हैं। तो मैं निर्मल भावरूप फलों के द्वारा हे सहजसिद्ध भगवन् ! आपकी पूजा करता हूं। वह निर्मलभाव बनता कैसे है ? सहजसिद्ध की दृष्टि से निर्मलभाव बनता है। अर्थात् हे सहजसिद्ध ! तेरी ही दृष्टि से मिली दृष्टि से आपकी पूजा करता हूं। ग्रन्थरचना आदि में भी यह पद्धति देखी जाती है कि लेखक अपने गुरु को जिसके द्वारा उसे ज्ञान प्राप्त हुआ है, वह रचना उसे समर्पित करके कहता है कि आपके द्वारा दिये गये ज्ञान के प्रतिफलरूप इसे आप ही ग्रहण करें। इसी तरह भक्त भगवान के प्रति कहता है कि आपके प्रसाद से प्राप्त हुए निर्मल भाव आपके लिये अर्पित करता हूं। यहाँ कथन भेदरूप है किन्तु दृष्टि अभेद की है। आप पूजक, स्वयं पूज्य और पूजारूप अभिन्नता की भावना दर्शा रहा है। भेददृष्टि में कर्ममुक्त सहजशुद्ध (शुद्धनिश्चयनय के विषयभूत) भगवान को कहा जाता है। भगवान की प्रसन्नता हो तो वह चीज हो कि जिससे हम भगवान को पूज सकें। फल अन्तिम दशा को कहते हैं, तो ये जो परमभाव हैं ये भी द्रव्य में से द्रव्य के

भाव की दृष्टि से फलते हैं (निर्मलदशा में आते हैं)। ये परिणाम एक समय में अनेक नहीं होते। अत: यहाँ पर जो भावफलों की आवलि कहा है उससे मतलब है— अनेक समयों में क्रमवर्ती होने वाले जो भाव हैं उनसे पूजा करता हूं।

परमभाव की झांकी—परम माने सर्वोत्कृष्ट। परा-उत्कृष्ट, मा-लक्ष्मी जहां हो वह परम कहलाता। लक्ष्मी किसे कहते हैं ? लक्ष्मी चिह्न को कहते हैं। जिस परिणति (चिह्न) से आत्मा समझ में आवे उसे लक्ष्मी कहते हैं। तो वह लक्ष्मी आत्मा के शुद्ध भावरूप कहलायी, वही परम उत्कृष्ट भी है। व्यवहारी लोग ऐसा भी कहा करते हैं कि 'यह भोजन परम सुखदायी है' आदि। सो यह उनका कहना उचित नहीं, क्योंकि उनकी दृष्टि तो बाह्य में होने से बाह्यपदार्थ ही परमसुखकारी मालूम पड़ रहे है। वस्तुत: बाह्यपदार्थों में वा उनके भोग-उपभोग में सुख और फिर परम सुख है कहां ? ऐसा मानना तो केवल भ्रम ही है। सर्वोत्कृष्ट चीज तो निर्मल भाव हैं जो सम्यग्ज्ञान से बनते हैं। मोह से उत्पन्न होने वाला भाव निर्मल नहीं होता और न इसीलिये उसे सर्वोत्कृष्ट कह सकते। अपने आपको कष्ट में डालकर मोह के कारण दूसरे को सुखी करने वाले परिणाम को भी परम नहीं कह सकते और न उस आश्रय से सुख लेने को परम कह सकते क्योंकि वहाँ निर्मलता नहीं, ज्ञान की अनुभूति नहीं। वहाँ तो मोह के कारण समता भाव हैं। तो जहां सम्यग्ज्ञान आ गया वहां परमतत्त्व आ गया, निर्मलता आ गयी और उसी से परमात्मा की पूजा होती है। कई लोग परमहंस शब्द से विशेष व्यक्ति का बोध करते हैं लेकिन उससे सब प्रकार की आत्माओं का बोध होता है। उसके तीन खंड— परम, अहं, स करने पर क्रम से परमात्मा, अन्तरात्मा और बहिरात्मा का बोध होता है, जिससे मुक्त और संसारी सभी प्रकार की आत्माओं का ग्रहण हो जाता है। इस अर्थ में परमहंस शब्द से प्रत्येक जीव आ गये।

प्रत्येक आत्मा में परमात्मत्वज्योति—प्रत्येक जीव शक्तिरूप से परमात्मा है। यदि ऐसा न माना जाये तो ६ के बदले ७ द्रव्य मानने पड़ेंगे और संख्या बढ़ने से ही कोई दोष नहीं किन्तु मुक्ति और मुक्ति का मार्ग नहीं बन सकेगा। यदि सब आत्माओं में परमात्मा की शक्ति विद्यमान न हो तो कितनी भी साधना तपस्या करने से वह नवीन कहां से प्रगट हो जायेगी ? शक्तिरूप में वह विद्यमान है तभी तो योग्य प्रयोगविधि से व्यक्त होती है। केवलज्ञानावरणकर्म जो माना गया है उसका अर्थ ही यह है कि जो केवलज्ञान को प्रगट न होने दे, ऐसा कर्म केवलज्ञानावरण कहलाता है। तो केवलज्ञान का अस्तित्त्व शक्तिरूप है तभी तो उसका आवरण होना बन सकेगा। अत: अभव्य में भी केवलज्ञान की शक्ति है, अभव्य तो इसीलिये कहलाता है कि उस आत्मा में परमात्मीय शिक्तयों के व्यक्त होने की योग्यता नहीं है।

कुभावविशोधक फल से सहजसिद्ध की उपासना—तो ज्ञानानुभूति से सम्पन्न वे परमभाव कैसे हैं और कैसे प्राप्त होते हैं ? सो कहते हैं कि 'सहजभाव कुभाव विशोधया' सहजभावों के बल से कुभावों को नष्ट करने वाले हैं, निर्मलभाव स्वाश्रित भाव हैं, अत: सहज भाव हैं। वे कुभावों को दूर कर शुद्ध होने वाले जो सहजभाव

हैं वे परमभाव हैं। कुभावों को दूर करना या विशुद्ध करना; इन दोनों का एक ही मतलब है। जैसे चौके को शुद्ध करना, इसका दूसरा मतलब यह भी है कि उसके मैलेपन को, अशुद्धि को दूर कर देना। किसी अशुद्ध पदार्थ से कोई भिड़ गया और नहाकर शुद्ध हो गया। ऐसा जो कहा जाता उसका यह भी मतलब है कि अशुद्ध पदार्थ भिड़ने से जो अणु स्थूल या सूक्ष्मरूप में लग गया था वह दूर हो गया। किसी चीज को शुद्ध करने का मतलब है कि उसमें जो मल आ गया जो कि स्वभाव में नहीं है, पर का निमित्त पाकर आया है या निमित्तरूप आया है उसे दूर कर देना। सारांश—यह है कि शुद्ध का तात्पर्य है; वस्तु को केवल स्वभावरूप बनाना। क्षमा क्या है? क्रोधमल को हटा देना। क्षमा तो स्वभाविकी शक्ति है। जब क्रोधरूप विभाव न होगा तो वह प्रगट ही है। इसी तरह मानरूप विभाव के अभाव में स्वभावरूप मार्दव गुण प्रगट होता है। जो अपनी शान के लिये मान करते हैं वे इस बात को समझें कि जब नरक और तिर्यंच गति की अवस्था प्राप्त होगी तब वहाँ शान कैसे रह सकेगी ? ऐसा विवेक करने से निर्मलता आती है और मानमल का अभाव होकर मार्दवगुण प्रगट होता है। इसी तरह आर्जव धर्म भी कपट के दूर होने से प्रगट होता है। मन, वचन, काय की कुटिलता करने से जहां आत्मा में मलिनता आती है वहाँ इनकी सरलता रखने से निर्मलता आती है। कुटिलता तो कृत्रिम है उस कृत्रिमता को हटाया कि स्वाभाविक गुण प्रगट हो गया और लोभ कषाय को छोड़ा कि शौचधर्म आ गया। सहजभाव होने पर कुभाव दूर होते और उसके दूर होने पर सहजभाव होते। जैसे—घड़े का विनाश और खपरियों का पैदा होना एक ही समय में होता है इसी तरह मलिनपर्यायों का दूर होना और शुद्धपर्यायों का प्रगट होना एक ही समय में होता है। ऐसे कुभावों को दूर कर सहजभावरूप परमभावों से सहजसिद्ध की पूजा करता हूं। कैसे सहजसिद्ध ? सो कहते हैं:—

निजगुणस्फुरणात्मनिरञ्जन सहजसिद्ध का अभिवन्दन—'निजगुणस्फुरणात्मनिरंजनं'—अपने ही गुणों से स्फुरायमान निर्मल जो आत्मा वही सहज भगवान है। स्वभाव से दोनों एक ही हैं, स्वभावरूप हैं लेकिन कहने में ऐसा ही आता है और समझने में भी ऐसा आता हैं । एक सत् को समझाने के लिये उसको भेद करके, टुकड़े करके कहना पड़ता है। सब शक्तियां एक ही द्रव्य में रहने वाली होती हैं। तो अपने ही गुणों से स्फुरायमान मलरहित आत्मा सहजसिद्ध भगवान है। आत्मा के साथ जो कर्ममल का लगाव कहा जाता है वह तो स्थूल उपचार से है। दूसरा द्रव्य दूसरे में क्या मल और शुद्धि करे ? आत्मा में जो मोह-क्षोभ के भाव हैं—मैं मनुष्य हूं, पंडित हूं, मूर्ख हूं आदि मोह के भाव तथा कामी, क्रोधी जो भाव हैं यही मल हैं। इन भावों से हटकर जब आत्मा अपने में परिणमन करती है तो निर्मल कहलाती है। अथवा ये भावमल भी औपचारिक हैं। वस्तुत: आत्मा के स्वभाव में ये नहीं हैं, अत: स्वभावदृष्टि से वर्तमान में भी राग, द्वेषादि भाव मलों से रहित जो निरंजन आत्मा है वह अपने गुणों से भरपूर है, ऐसे सहजसिद्ध भगवान को अथवा परमशुद्धनिश्चयनय के विषयभूत भगवान को पूजता हूं। यहाँ पर 'एक ने एक की एक से पूजा की' का भाव है। पुजारी, पूज्य, पूजा की सामग्री और पूजा भी वही एक है। तब पुजारी ने क्या किया ? कुछ नहीं। बाह्य परिणति में जिसे अनेक कामों के करने के

विकल्प हैं उसे झंझट है और जिसकी दृष्टि एक पर है उसे क्या झंझट ? यहाँ ऐसा न समझना कि हम अपने को ही पूजते हैं और वही पूज्य है तो प्रत्येक की नाम स्थापना आदि निक्षेप से पूजा क्यों करना ? नय और निक्षेपों को ग्रहण करके और उनसे उपादेय तत्त्व जो भी सम्भव है प्राप्त करके आगे उनका त्याग होता है। उनका आश्रय सर्वथा लिये बिना उनका त्याग होकर एक सत् की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती। अत: नाम, स्थापना आदि से भी पूजा की सार्थकता है।

अर्घ्य

नेत्रोन्मीलिविकाशभावनिवहैरत्यन्तबोधाय वै।

वार्गंधाक्षत पुष्पदामचरुकै:, सद्दीपधूपै: फलै: ।

यश्चिंतामणिशुद्धभावपरमज्ञानात्मकैरर्चयेत्।

सिद्धं स्वादुमगाधबोधमचलं संप्राचर्ययामो वयम् ।।

ज्ञानोद्घाटक विकासभावरूप अर्घ्य से सहजसिद्धि का परिपूजन—ज्ञाननेत्रों को उघाड़ने वाले जो विकासभाव हैं उनके समूहों से मैं पूजता हूं। अपना भगवान अपने से ही पूजा जाता है। अपना आत्मा अपने भावों से प्रसन्न होता है। खुद प्रसन्न होना खुद का एक वैभव है। व्यवहारी लोग भी जो चेष्टा करते हैं वे भी अपनी प्रसन्नता के लिये करते, किसी की प्रसन्नता के लिये कोई कुछ नहीं करता। सामाजिक व्यवस्था पड़े तो, और गृहस्थी के चक्कर में पड़े तो अपनी ही प्रसन्नता के लिये सब कोई कुछ करता। दूसरों को न कोई प्रसन्न करता, न कोई कर सकता। प्रसन्नता का यथार्थ मतलब है— निर्मलता । ग्रन्थ बनाने के आदि में परमेष्ठियों का स्मरण करते, तो क्या वे हमें प्रसन्न करने के लिये यहां आते हैं ? नहीं, वे अपने स्वरूप से कभी विचलित नहीं होते। तो उनकी प्रसन्नता हम पर क्या होगी ? तो फिर उसका प्रयोजन क्या ? प्रसन्नता माने निर्मल परिणाम। परमेष्ठी के ध्यानरूप परिणामों में निर्मलता आती है। सो प्रसन्नता का अर्थ तो है निर्मलता परन्तु रूढ़िवश इन्द्रियजन्य मनोजन्य हर्ष में यह रूढ़ हो गया। यही कारण है कि किसी से प्रसन्नता की बात पूछी तो कहता— हाँ, बच्चे सब अच्छे हैं, धन्धा ठीक चलता है, तबीयत ठीक है आदि मलीनता की बात कहता। पर की बात कहने से तो मलीनता हुई, निर्मलता कैसे हुई ? किंतु उन सांसारिक सुखों वा उनके कारणों में प्रसन्नता का जो व्यवहार चल पड़ा कि निर्मलता से आनन्द प्राप्त है और सांसारिक सुख भी विकृत आनन्द है। अत: उसको भी प्रसन्नता के अर्थ में लेने लगे। तो जिन परमेष्ठी की निर्मलता से हमें मार्ग मिला, निर्मलता प्राप्त हुई, यद्यपि निर्मलता निज की निज से ही होती है, किन्तु वह निर्मल भगवान को जानने से होती, इसलिये उपचार करके उनसे निर्मलता हुई ऐसा कह देते, वस्तुत: निर्मलता अपने से ही हुई। सो भगवान को जो मैं पूजता सो अपने

से अपने को ही पूजता और जलादि बाह्य द्रव्य जो हैं वे केवल अवलम्बन के लिये हैं, और द्रव्य को अर्पित करके हमारे त्यागरूप भाव होते, बहुमान के भाव पुष्ट होते, यह भी बाह्यद्रव्य के चढ़ाने की सार्थकता है।

पूजा में द्रव्य चढ़ाने की उपयोगिता—जो आत्मस्वभाव का ख्याल नहीं कर रहे, विषयकषाय में मचल रहे हैं उनको बाह्य कुछ अवलम्बन लक्ष्य पर पहुंचने के बीच में आवश्यक होता है। अत: उनका आलम्बन लेकर पूजते। इस बाह्य आलम्बन में लगने के बाद कभी-कभी ज्ञानानन्द का ख्याल आता रहे इसलिये तदनुरूप द्रव्य का सहारा लिया जाता है। यही कारण है कि प्रत्येक द्रव्य को चढ़ाने का प्रयोजक मन्त्र लक्ष्य का बोध कराने वाले होते हैं। जैसे, जल चढ़ाने का प्रयोजन कहा— जन्म, जरा और मृत्युरूप कर्मोदय-मैल को दूर करना। क्योंकि जल का काम मल को दूर करना है। चन्दन शीतलता करने वाला होता है, इसलिये उसमें संसार के ताप को दूर कर देने का रूपक घटाया। अक्षत कहते हैं अविनाशी को, सो चावलों का नाम भी अक्षत है अत: उनको चढ़ाने का प्रयोजन दिखाया अक्षयपद की प्राप्ति। काम को नष्ट करने का प्रयोजन पुष्प में दिखाया क्योंकि पुष्प कामवाण है, सो पुष्प-त्याग से कामनाश का प्रयोजन लिया अथवा उक्त सभी चीजें हमारे शोध के सहयोगी नहीं, सो सबका त्याग बताया । क्षुधा को दूर करने के लिये नैवेद्य तैयार होता है। सो वह न खाना पड़े क्षुधारोग दूर हो जाये, इसके प्रयोजन से नैवेद्य चढ़ाते हैं, त्यागते हैं। मोहरूपी अंधकार दूर करने के लिये और ज्ञान का प्रकाश करने के प्रयोजन से दीपक चढ़ाते क्योंकि वह प्रकाश करने वाला होता है। धूप जलाने के काम में आती है सो उसे चढ़ाकर कर्म को जलाने की भावना करते और मोक्षरूपी फल को पाने के लिये फल चढ़ाते हैं। तथा इन आठों द्रव्यों को मिलाकर बनाये हुए अर्घ्य से अनर्घपद (मोक्ष) की कामना करते हैं। यदि इन द्रव्यों के चढ़ाने का कुछ उपादेय मेल का भाव न बैठाओ तो दुनियाँ के जैसे और काम होते हैं ऐसा यह भी एक काम हो जाये। निश्चय से तो भक्त अपने को पूजने में जो समर्थ है ऐसा विकासभाव उससे पूजने का भाव प्रगट करता है। जैसे—कोई धनी को धन के लिये प्रसन्न किया जाता, ज्ञान को प्राप्त करने के लिये विद्वान को प्रसन्न किया जाता है, भगवान बनने के लिये और शुद्ध निश्चय के विषयभूत भगवान को पूजने का भी उपचार ही है। वस्तुत: भक्त अपनी ही भक्ति करता। भक्त भगवान को पूजकर चाहता क्या है ? अपने भगवान को प्रगट करना चाहता है। निज में उपयोग लगाकर अपना ही उपयोग किया। उपयोग का तो उपचार है।

तत्त्वज्ञ उपासक की उपासना पद्धति—सच्चे भक्त का यही एक प्रयोजन और कार्य है कि वह संसार से अलिप्त रहता हुआ संसार के उच्छेद का कार्य करे । पूजा केवल मन्दिर में ही होती हो यह बात न समझना। मन्दिर में जिसने स्वरूप की भावना भायी, उधर दृष्टि पहुंचायी और कदाचित् भगवान के स्वरूप का अनुभव भी किया, कर्ममुक्त भगवान के बहाने अपने को पूजा, अपनी महानता की तरफ दृष्टि दौड़ायी और उसका अनुभव किया, क्या वह मन्दिर से निकलते ही अपने को भूल जाने की भावना रखेगा ? क्या उसको यह विश्वास है

कि मन्दिर में ही हमारी आत्मा भगवानरूप से मानी जानी चाहिये, अनुभव की जानी चाहिये ? नहीं। वह त्रैकालिक स्वभाव-शुद्ध भगवान की, त्रैकालिक स्वभावगत भावों के लक्ष्य से पूजा करता है। वास्तविक पूजा तो क्षणिक पर्यायों में एक अविरल निश्चल रहने वाले सत्चिद् आनन्दमय एक ज्ञाता-दृष्टा परमात्मा की की जाती है। तब फिर मन्दिर के अतिरिक्त और समयों में वह अपने को अन्य रूप मानने की मूढ़ता कैसे कर सकता है ? कदापि नहीं। यदि ऐसी बात नहीं आती तो पूजा भी नहीं हो पाती। वह तो सांसारिक कार्यों के समान वह भी लोकेषणा का एक कार्य होगा, उसे करके भी वही लोक का वैभव या दूषित इच्छा की पूर्ति चाही जायेगी। अनादि से कुछ ऐसा ही ढंग चला आ रहा है जिससे जहां के तहां बैठे हैं संसार और संसार के दु:खों का अंत नहीं हो पाया। वास्तविक पूजा एक बार भी हो गई होती तो संसार का गोरखधन्धा दूर हो गया होता। आत्मा में जब तक रुचि न हो तब तक पूजा नहीं होती। आत्मा से प्रेम करने वाले बहुत कम होते हैं, अपनी-अपनी कषायों का प्रेम अधिकतर करते हैं अथवा उपचरित व्यवहार से कहो तो मल-मूत्र से अपवित्र शरीर से प्रेम करते।

मुमुक्षु द्वारा संसारोच्छेद का प्रतिक्षण चिन्तन—मुमुक्षु की भावना यह रहना चाहिये कि संसार का उच्छेद करके आत्मा धर्ममय कब और कैसे हो ? कोई जब अपने ही लिये अन्धेरे में हो तो पिता, पुत्र और भाई के लिये हित की बात कौन सोचे ? हित की बात तो मुमुक्षु प्राणी ही सोचते हैं अपने लिये व दूसरों के लिये। मोही कुटुम्बी ऐसा नहीं सोच सकते। कदाचित् ऊपरी तौर पर कोई सोचे भी तो कब तक ? जब तक कि उनकी अनुकूलता है। प्रतिकूल होने पर वे मोक्षहित की तो क्या, स्थूल सांसारिक आराम की बात भी नहीं सोच सकते। गृहस्थी का जंजाल ही ऐसा है कि कोई किसी का हित नहीं चाहता। वह हित जिससे आत्मतुष्टि प्राप्त होती है वे तो अपने लिये, जैसी दूसरों के लिये सांसारिक बन्धन की ही बात सोचते है। यदि ऐसी प्रतिकूलता न होती तो बड़े-बड़े पुरुष गृहवास का त्याग क्यों करते ? और बड़े-छोटे की बात ही क्या ? हर कोई घर में रहता हुआ ही मोक्षमार्ग की साधना करके मुक्त हो जाता। यों तो आंशिक साधन गृहवास में भी बन सकते हैं, लेकिन यहाँ तो मुक्ति प्राप्ति की बात कर रहे हैं कि अन्ततोगत्वा गृहवास छोड़ने पर ही मुक्ति मिलती है। गृहवास का मतलब ही है विषयों में फंसे रहना। यदि यह न हो तो वह गृहवास भी न कहलायेगा। घर बसाया ही जाता है इन्द्रियों की तृप्ति के लिये। लेकिन मोक्ष का इससे विरोध है । कहते हैं—'एक पन्थ दोई चले न पन्था, एक सुई दो सिये न कंथा। एक साथ नहिं होत समाने, विषयभोग अरु मोक्षहि जाने।।' अर्थात्—एक रास्तागीर एक बार में एक ही रास्ता चल सकेगा, एक सुई एक समय में एक ही कपड़ा सी सकेगी, इसी तरह हे बुद्धिमान मानव ! तेरे और भी काम एक समय में एक-एक ही हो सकेंगे। यह कभी नहीं हो सकता कि विषयभोगों में भी फंसे रहें और मोक्ष भी चले जाएं। दो में से कोई एक ही हो सकेगा क्योंकि विषयभोग संसार का मार्ग है, उससे

मोक्ष कैसे मिलेगा ? वह तो मिलेगा मोक्षमार्ग पर चलने से; सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को अपनाने से।

ज्ञाननेत्रोद्घाटक चिन्तामणिज्ञानात्मक अर्घ्य से सहजसिद्ध की उपासना—पूजक के भाव अज्ञान-नेत्र को खोल देने वाले आत्मा के विकासरूप स्वच्छ होते हैं, ऐसे स्वच्छभाव वाला ही पूजा का पात्र है, अधिकारी है। ऐसा ही व्यक्ति पूजा करने में समर्थ होता है। भगवान की पूजा के लिये जगत का कोई और साधन नहीं बन सकता। तो किससे पूजते ? समीचीन जल, चंदन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप और फलों के द्वारा । श्लोक में दीप के साथ जो सत् शब्द दिया है वह मध्य दीपक है, अर्थात् उसका अन्वय आगे और पीछे सब द्रव्यों में लगाना, जिससे अर्थ निकलेगा समीचीन जल, समीचीन गंध, समीचीन अक्षत, समीचीन पुष्प, समीचीन नैवेद्य, समीचीन दीप, समीचीन धूप और समीचीन फलों के द्वारा 'शिरसा प्रणम्य' नतमस्तक होकर पूजता हूं। समीचीन जल आदि का विवेचन प्रत्येक द्रव्य के पद में स्पष्ट किया गया है जो कि सब द्रव्यों में सम्यक्रूप आत्मा का शुद्ध भाव पड़ता है उस एक शुद्ध भाव को ही नाना तरह से नाना द्रव्य से रूप दिये हैं तथा प्रकृत श्लोक में भी उनकी समीचीनता को प्रदर्शित करने वाला पद आगे दिया है, वह है 'यश्चिंतामणिशुद्धभाव-परमज्ञानात्मकैः' अर्थात् वे अष्ट द्रव्यें कैसी हैं ? चिंतामणि की तरह यह जो विशुद्ध, भाव, जो कि उत्कृष्ट ज्ञानस्वरूप—शुद्ध चेतनारूप है, तद्रूप आठ द्रव्यों से पूजता हूं।

सर्वार्थसिद्धिकर वास्तविक चिंतामणि—लोगों का कहना है कि चिंतामणि के द्वारा मनोवांछित वस्तु मिलती है, लेकिन ऐसा वह पत्थर का टुकड़ा चिंतामणि कोई रत्न नहीं। तो फिर शास्त्रों में ऐसा उल्लेख क्यों मिलता कि—जाचै सुरतरु देय सुख, चिंतत चिंता रैन। बिन जाचै बिन चिंतये, धर्म सकल सुख दैन।। ? इस धर्मभावना में बतलाया कि चिंतामणि रत्न, चिंता (इच्छा) करने से सुख देता है, फिर आगे जो कहा कि धर्म से तो बिना इच्छा किये ही सम्पूर्ण सुख मिलते हैं तो धर्म से जब चिंतामणि रत्न का नाम अलग रखा तो वह आत्मभावों में पृथक् कोई जड़ वस्तु ही होना चाहिये ? परन्तु ऐसा जड़ रत्न सब कुछ देने के लिये असमर्थ है, मुमुक्षु की मनोकामना को पूरी करने में वह असमर्थ है। ऐसा चिंतामणि तो आत्मा का शुद्धभाव ही हो सकता है। चैतन्य का विकास ही वह है जो कि सर्वोत्तम वस्तुएं प्रदान कर सकता है और तुच्छ सांसारिक लाभ तो स्वयंमेव होते ही हैं, उनका तो प्रश्न ही क्या रह जाता है ? चैतन्यरूप चिंतामणि की दृष्टि आने पर उसकी चाह भी मर जाती है, या कहो तो केवल आत्मरुचि रह जाती है। सो उसे वह मिलता ही है। पर को विचारने का वहाँ भाव नहीं है। यदि पर के विचार का भाव उठे तो वहाँ शुद्ध चैतन्यरूप चिंतामणि का अभाव कहलाया। तो यह भाव चैतन्यभाव के लिये ठीक बैठ गया कि जो विचारो, चिंतामणि से वह मिल जायेगा, पत्थर के चिंतामणि से यह नहीं हो सकता, वह तो जड़ वस्तु को ही दे सकता है, चैतन्य में उसका प्रवेश नहीं।

विशुद्ध ज्ञानात्मक परमभाव की साक्षात् चिंतामणिरूपता—पत्थर के चिंतामणि से जो मिलना बताया वह उपचार से है, प्रत्येक चीज अपने-अपने रूप से अपनी जगह पर रहती है, उसका क्या मिलना और क्या बिछुड़ना ? पुद्गल की संयोगाधीन दृष्टि में ही ऐसा मालूम पड़ता है, आत्मा के लिये उससे क्या मिल सकता है ? कुछ भी नहीं, फिर भी जो चाह की जाती है, वह मोह से की जाती है और उस चाह के अनुसार जो जड़ पदार्थों का संयोग जड़ चिंतामणि से हो जाता वह उसके शुभकर्मोदय के निमित्त से होता है। इस जाति का शुभकर्म-बंध भी आत्मभावों से सर्वथा निरपेक्षपने से नहीं होता। व्यक्ति का ध्यान मोक्ष की तरफ काफी खिंचता है, उसमें जो ऊंचे दरजे की शुभ क्रियाएं होती हैं उनसे उस जाति का कर्म बंधता है, लेकिन सम्यक्त्व-शून्य भावों से उत्कृष्ट सुख-फलदायी विपाक उसका कुछ नहीं होता है। अथवा किसी सम्यग्दृष्टि को पत्थर का चिंतामणि मिलता है तो उसे वह जैसे वर्तमान में नगण्य है उसी तरह अतीत में था, जबकि सम्यक्त्व के साथ सातिशय पुण्य द्वारा इस जाति का शुभबंध किया था, वह रत्न उसे चाह से नहीं मिला किन्तु निरीहवृत्ति के ऊंचे भावों का प्रतिफल है। वहाँ तात्पर्य यह है कि यहाँ सहजसिद्ध भगवान की पूजा उन चिंतामणि रत्नों से की जा रही है, जो कि शुद्धस्वरूप हैं, उत्कृष्ट ज्ञानरूप हैं, शुद्ध चैतन्यरूप हैं। चैतन्यरूप चिंतामणि दृष्टिरूप हस्त में प्राप्त होने पर कोई वाञ्छा ही नहीं रहती, इसलिये इस चिंतामणि से सभी मिल गया। वस्तु मिलने का फल इच्छा का अभाव है, वह चैतन्य की उपलब्धि वाले के पहले ही हो गया।

स्वादु अगाधबोध अचलसहजसिद्ध का संचर्चन—ऐसे उत्कृष्ट द्रव्य से कैसे सहजसिद्ध की पूजा की जाती है ? सो कहते हैं— 'सिद्ध स्वादुमगाधबोधमचलम्।' जो स्वयंसिद्ध भगवान आत्मिक रस में सने हुए हैं, जो स्वयं तथा कर्मवर्गणा आदि पर द्रव्यों से कभी चलायमान नहीं होते, सदा अपने ही रूप में अपने ही प्रदेशों में सदा स्थिर रहते। संसारी पर्याय में भी जो मन वचन काय के परिस्पंद से आत्मप्रदेशों का हलन-चलन बतलाया वह उपचार से है। निश्चय से आत्मा के प्रदेश पौद्गलिक परमाणुओं वा स्कंधों से सदा अस्पृष्ट ही हैं, तो उनकी चंचलता से उसमें चंचलता आना नहीं बनता। और चंचलता का लक्षण भी वहां क्या घटित किया जा सकता है ? स्वक्षेत्र की चंचलता तो आत्मा में त्रिकाल कभी होती ही नहीं। अत: परम शुद्ध निश्चयनय के विषयभूत आत्मा (जिसमें संसारी आत्मा का भी ग्रहण है) को भी उक्त सब विशेषण पहले जैसा कहते आये लागू हैं। क्योंकि इस पूजा में सिद्ध परमेष्ठी को अवलंबन करके स्वयं के सिद्धपरमात्मा को पूजा जाने की चेष्टा है, जो कि मुमुक्षुओं के लिये दृष्टि द्वारा परम उपादेय अमृतरूप है। यहाँ जब निज सहजसिद्ध भगवान का वर्णन आवे तब परम पारिणामिक भाव की अपेक्षा से देखना। पर्याय परिणमन से तो हम आप सब संसारी मलिन हैं, सिद्ध भगवान से हममें बड़ा अन्तर है परन्तु स्वभावदृष्टि में यह सब कुछ भी अन्तर लक्ष्य में नहीं है। सिद्ध भगवान के वह अगाध ज्ञान कितने पदार्थों को जानता ? तो कहते हैं कि लोक-अलोक में जो कुछ भी है उन सबको जानता, इतना ही नहीं उनके जो अनंतगुण हैं उन्हें भी जानता है, इतना ही नहीं उन गुणों की जो अनन्तानन्त पर्यायें हैं उन्हें भी जानता है, इतना ही नहीं उन पर्यायरूप एक-एक गुण में जो अनंत अविभागप्रतिच्छेद हैं (गुणांश है)

उन्हें भी जानता। इतना ही नहीं ऐसे अनंत लोक-अलोक हों तो उन्हें भी वह ज्ञान जान सकता है ऐसी शक्ति है उसमें। ऐसा ज्ञान जिनको हो गया ऐसे केवलज्ञानी को भी वह जानता और ऐसे अनंत केवलज्ञानियों को भी वह जानता। ऐसा अनन्तज्ञानमय जो सिद्ध परमात्मा है उसकी मैं पूजा करता हूं। ऐसा ज्ञानस्वभाव शक्तिरूप से सब संसारी जीवों के हैं किन्तु उसको प्रगट करने के लिये उस निज ध्रुव-स्वभावी आत्मा की दृष्टि आना चाहिये, तब वह प्रगट होता है। इस अर्घ्य के पद में पूजने के लिये शब्द दिया है—संचर्चयामो—हम सम्यक् प्रकार से उस सिद्धभगवान की चर्चना/अर्चना करते हैं यह जिसका अर्थ है। चर्चना शब्द यहाँ तन्मयता का द्योतक है अर्थात् मैं उन सिद्ध भगवान को आत्मसात् होकर पूजता हूं। बाह्य स्तवन— प्रणाम, द्रव्यार्पण द्वारा ही मैं पूजा नहीं करता बल्कि उनमें तन्मय होकर उन्हें पूज रहा हूं; यह भाव हुआ उसका। अपने उपयोग में उनको मिलाया जाये ऐसे भावों से सिद्ध भगवान की पूजा होती है।

प्रभुपूजा में आशीर्लाभ का प्रकरण—इस अर्घ्य के बाद में आशीर्वादात्मक छंद है—भगवान को आशीर्वाद देने से अपने को ही स्वयं आशीर्वाद प्राप्त करने का मतलब है। तब प्रश्न होता है कि उनको न कहकर सीधा अपने से ही अपने को कह लें कि मैं अपने को आशीर्वाद देता हूं। तो ऐसा कहा नहीं जाता लेकिन अर्थ होता ऐसा ही है। जैसे—झाई वाले स्थान में आवाज इसलिये करते कि वह प्रतिध्वनित होकर हमको ही सुनाई दे। भगवान की आशीर्वादात्मक स्तुति करने से कोई दोष नहीं आता। भिखारी; लखपति, धनी को, अल्पज्ञ और निम्नगुणस्थानी; परमेष्ठी को आशीर्वादरूप भावना प्रगट करके उनके प्रति आदर या बहुआदर के भाव व्यक्त कर लें। अत: बड़े ही छोटों को आशीर्वाद दें, यह एकान्त नहीं छोटे भी बड़ों को प्रकारान्तर आशीर्वादरूप आदर व्यक्त करते हैं।

अर्घ्य

त्रैलोक्येश्वरवन्दनीयचरणा:, प्रापु: श्रियं शाश्वतीं।

यानाराध्यनिरुद्धचण्डमनस:, संतोऽपि तीर्थंकरा: ।।

सत्सम्यक्त्वविबोधवीर्यविशदाव्याबाधताद्यैर्गुणै-

र्युक्तांस्तानिहतोष्टवींमि सततं सिद्धान् विशुद्धोदयान् ।।

सहजसिद्ध पूजा में आशीर्लाभ का विधान—जिनकी आराधना करके भव्य आत्मा अविनाशी सुख को प्राप्त हुए ऐसे सिद्ध को मैं प्रणाम करता हूं। तीन लोक के ईश्वरों के द्वारा वन्दनीय हैं चरण जिनके, ऐसे होकर शाश्वत सुख को प्राप्त हुए, भीख मांगकर भव्य जीव शाश्वत सुख को प्रगट नहीं होते, वे तीन लोक के ईश्वरों द्वारा पूज्य हो करके होते। वास्तव में तो सहजसिद्ध भगवान जिनकी आराधना से अविनाशी सुख को प्राप्त होते हैं सर्वदा महान् हैं ही, लेकिन जहां भाव्यभावक भाव दूर हो गया, ऐसे निर्विकल्प आराधन से निज सहजसिद्ध

महान धीर भगवान के दर्शन होते हैं। इसके लिये मुक्त भगवान का स्वरूप देखा जाता है। सिद्धदेव जो इस आत्मा से भिन्न हैं भक्त उनकी पूजा नहीं कर सकता। वे तो व्यवहार से पूजे जाते हैं, ऐसी बात है। जितने भी आज तक सिद्ध हुए हैं और केवलज्ञान परिणमे हैं उनकी आज भी वही स्थिति है, कि ज्ञानस्वभाव को उपादानरूप से करके अपने उपदानरूप से परिणम रहे हैं। और अरहंत अवस्था से पहली अवस्था में पृथक्त्ववितर्क और एकत्व-वितर्क शुक्लध्यान में हैं, वहाँ भी निज को उपादान करके परिणम रहे हैं ऐसे योगी जैसे आजकल विदेहक्षेत्र में पाये जाते हैं तथा जो श्रुतज्ञान से स्वत: परिणम रहे हैं तथा उनसे भी नीचे गुणस्थानों में, अप्रमत्त, देशविरत और अविरत अवस्था में हैं वे भी (अपने ज्ञान स्वभाव से परिणम रहे हैं) यही काम कर रहे हैं। दूसरे के ज्ञानस्वभाव को कोई नहीं परिणमता। हम दूसरे से सिद्ध बनकर नहीं परिणम सकते। कोई आत्मा किसी आत्मा की स्तुति वंदना नहीं कर सकता। जो अपने आपके ही आदर में हो वे सिद्ध होते हैं। किन्तु कारण में कार्य का उपचार करके कहा जाता कि सिद्ध की आराधना से सिद्ध होते हैं। लोक में बड़े पुरुष का जो सेवक होता वह है भी अनेक व्यक्तियों द्वारा आदर पाता है। फिर भी स्वामी के समान आदर नहीं पाता। किन्तु सिद्ध भगवान की सेवा पूजा में यह बात नहीं है, सिद्ध का पूजक सिद्धपद को प्राप्त हुए सिद्धों के समान इन्द्रों द्वारा पूजित होकर शाश्वत लक्ष्मी को प्राप्त होता है। विशुद्धज्ञान की परिणति में आ जाना ही, शाश्वत लक्ष्मी का प्राप्त होना है। इस विशुद्ध ज्ञान की आराधना करके सिद्ध होते हैं। तो सिद्ध होने में पहले तो त्रैलोक्य के ईश्वरों द्वारा वंदनीय हुए और शाश्वत श्री को प्राप्त किया और पीछू निरुद्धचण्डमन हुए। जिस स्वामी की कृपा से यह मन प्राप्त कर पाया उसे ही नष्ट करने में जो लगा है उसे कहते हैं चण्ड। लोकव्यवहार में कहा जाता कि तुम बड़े चन्ट हो, तो मन ऐसा ही चंट है। जिस सिद्ध की आराधना करके यह मन स्थिरता को प्राप्त हुआ, क्योंकि चंचल वस्तु का आश्रय लेकर तो मन रुक नहीं पाता, निश्चल का आश्रय लेकर कहीं निश्चल होता। तो निश्चलता के लिये निश्चल-स्वरूप उस सिद्ध भगवान की ही आराधना की जाती। उनके आश्रय से उपयोग में स्थिरता आती है, निश्चलता होती है। लौकिक पदार्थों में भी मन रुकता है लेकिन ऐसा ऊपरी तौर पर देखने से मालूम पड़ता है किन्तु वहाँ रुकता नहीं, निश्चल नहीं होता, चंचलता बनी रहती है। यदि रुक जाये तो निर्विकल्पता आ जानी चाहिये सो होती नहीं।

अनंतगुणसम्पन्न सहजसिद्ध का संचर्चन—तो यह सहजसिद्ध आत्मा निर्विकल्प दशा को प्राप्त कर इन्द्रों द्वारा वंदनीय होकर मोक्षलक्ष्मी को प्राप्त करता है ऐसी सिद्धात्माओं को तीर्थंकर भी आराधना करके सिद्ध हो जाते हैं। विरक्त होने पर पहले सिद्धों को नमस्कार करते हैं और परिग्रहत्याग केशलोंच कर योग धारण करते हैं। ऐसे जिनकी आराधना करके मुक्ति प्राप्त होती है उन्हें पूजते है। किसके द्वारा? ''सत्सम्यक्त्वविबोधवीर्य विशदाव्याबाधताद्यैर्गुणै:।'' प्रशस्तसम्यक्त्व, ज्ञान, वीर्य और सुखादि गुणों के द्वारा अथवा अभिन्नता से चूंकि गुणों से भिन्न गुणी नहीं, अत: इन गुणों से परिपूर्ण सहजसिद्ध आत्मा के द्वारा पूजता हूं। जब बहुत बड़ा लाभ हाथ आता तो उसके लिये कार्य भी तदनुरूप किया जाता। जब महान आत्मा हाथ आता तो उपहार भी उसके लिये

उतना बड़ा होना चाहिये तो उनकी पूजन उनके अनुरूप चैतन्यभावों से ही की जा रही है। और हमारे पास कौनसी सामग्री है जिससे उनकी पूजा हो सके ? विपरीत भावों का निकल जाना सो सम्यक्त्व है, जो पदार्थ जिस रूप से है उसका उस रूप से ज्ञान होना सो सम्यक्ज्ञान है। सिद्ध भगवान सम्पूर्ण द्रव्यों को, गुणों को और उनकी पर्यायों को जानते हैं। लेकिन जो न द्रव्य है, न गुण है और न पर्याय है उसे नहीं जानते, क्योंकि ऐसे का अस्तित्त्व नहीं। यदि अस्तित्त्व किसी रूप से कहा भी जाता है तो वह उपचार से काल्पनिक अपेक्षा से होगा। जैसे हमारे हाथ से चौके का अन्तर—१ बीता है तो यह दूरी न गुण है और न पर्याय और न कोई द्रव्य भी। इसी तरह यह छोटा है, यह बड़ा है ऐसा भी नहीं जानते। उस-उस पदार्थ को उस-उस माप में अवश्य जानेंगे लेकिन उससे यह छोटा है, यह बड़ा है ऐसी विकल्परूप से नहीं जानते लेकिन कोई जीव दूरी का बड़े छोटे आदि के विकल्प करता हो तो उसे जानेंगे क्योंकि वह विकल्प उस जीव द्रव्य की पर्याय है लेकिन भगवान के दूरी लंबी, बड़ी आदि रूप विकल्प नहीं होते। वे विकल्प तो आपेक्षिकरूप से श्रुतज्ञानियों के होते हैं। सिद्ध भगवान का ज्ञान सर्वद्रव्यों के द्रव्य, गुण और पर्याय विषयक होता है। हमारे मन में विचार आया ईसरी जाना है, तो इस विकल्प सहित मुझे वे जान रहे हैं। प्रयोजन यह कि नैगमनय का विषयभूत ज्ञान विकल्प विशुद्ध ज्ञान में नहीं है। आप कहो कि भगवान के उतने ज्ञान की कमी आ गई सो बात नहीं है। उस ज्ञान कल्पना में रहने वाले जीव को भगवान जान रहे हैं। यह इस तरह का विकल्प कर रहा है ऐसा भगवान जानते हैं। विकल्प करने वाले सब श्रुतज्ञानी उनके ज्ञान में आ रहे हैं। सो उसका ज्ञान तो हो गया, लेकिन वहाँ कल्पना नहीं।

(जयमाला)

गाथा ४५

विराग सनातन शान्तनिरंश, निरामय निर्भय निर्मलहंस।

सुधामविबोधनिधान विमोह, प्रसीद विशुद्ध सुसिद्ध समूह।।४५।।

सहजसिद्ध तत्त्व का व सहजसिद्ध भगवान का अभिनन्दन—यह पूरी पूजा संस्कृत भाषा में है। जयमाला में सरल संस्कृत और सम्बोधन के शब्द होने से जयमाला हिन्दी की मालूम पड़ती है, लेकिन ऐसा नहीं। यहाँ सहजसिद्धों से आशीर्वाद लेने के रूप में सहजसिद्ध का आशीर्वादात्मक अभिनन्दन किया है। हे विशुद्ध सिद्धों के समूह ! प्रसन्न होओ। सहजसिद्ध भगवान जो कि अपने ही स्वभाव से पूर्ण निष्पन्न हुए हैं और वे सहजसिद्ध भगवान जो कि प्रत्येक आत्मा में अनादि, अनंत, अहेतुक, चित्स्वभाव में अभिन्न हैं, स्वत: सिद्ध हैं, भावों की निर्मलता प्रगट करने के लिये जैसे व्यवहार में अरिहंत और सिद्ध की आराधना करते हैं उसी तरह व्यवहार में

अपने सहजसिद्ध की भी आराधना करते हैं। निश्चय से पूज्य और पूजक में भेद नहीं। सहजसिद्ध की पूजा करते हुए कभी आत्मस्वभाव पर और कभी सिद्ध पर ध्यान रखता है, दोनों में मेल बैठाता है। स्वभावसिद्ध और सिद्ध भगवान पर सदृशता होने से पुजारी का ध्यान घूमता रहता हैं । हम आपकी शरण हैं तो यह एक भगवद्भक्ति है। भगवद्भक्त भगवान का ध्यान रखता हुआ अपने स्वभाव के उन्मुख होता है और कहता है कि आप प्रसन्न हो। शंका होती कि भगवान सिद्ध लोक में विराजमान हैं, और अपने चतुष्टय में हैं, फिर प्रसन्न होने का क्या मतलब ?

सहजसिद्ध के प्रसाद का चित्रण—यद्यपि पुजारी यह अच्छी तरह जानता है कि कोई किसी पर खुश नहीं होता, अरहंत सिद्ध तो विरागी ही हैं और यहाँ पर भी कोई किसी पर कुछ नहीं करता। अपनी-अपनी योग्यता से अपनी क्रियायें वा सब क्रियायें होती हैं। उस पदार्थ की क्रिया उसी में होती है। आत्मा की पर्याय रागरूप हो या ज्ञानरूप, होगी आत्मप्रदेशों में ही, उसके बाहर नहीं। जिसकी जो क्रिया होती है वह उसी में होती है। राग आत्मा के चारित्रगुण का विकार है, वह आत्मप्रदेशों में ही रहेगा, उसके बाहर वह नहीं जायेगा। तब रागद्वेष पर क्या किया ? अपने चारित्रगुण में विकार किया। तब कहने में ऐसा क्यों आता कि इससे राग किया ? कारण यह है कि राग आत्मा का विभावपरिणमन है और विभाव परिणमन निमित्त के आश्रय बिना नहीं होते। जैसे किसी से कहा जाये कि राग तो करो, लेकिन पर का आश्रय मत लो तो ऐसा नहीं हो सकता। राग औपाधिक भाव है, वह आत्मा की उस जाति की योग्यता और बाह्य में उस तरह के आश्रय से होता है। हाँ, प्रयत्न करने पर भी आत्मा से ज्ञान नहीं हटता, क्योंकि वह उसका स्वभाव है, उसी तरह रागद्वेष आदि भी नहीं हट सकेगा यदि उसे निमित्त के आश्रय से न माने तो। निमित्त का आश्रय न मानने से वह आत्मा का स्वभाव बन बैठेगा। ऐसा होकर भी कारण में कार्य का उपचार करके कह लो परन्तु कोई किसी से प्रेम नहीं करता, प्रत्येक अपने में ही परिणमता लेकिन निमित्त से ऐसा कहा जाता। व्यवहार किया जाता कि अमुक अमुक से प्रेम करता। परन्तु प्रत्येक अपने-अपने में ही परिणमते। तो हम यहाँ पर भी आपस में जब यह नहीं कह सकते तो भगवान से प्रसन्न होने को कहने का क्या मतलब ? जिनको निमित्तमात्र करके अपने आपमें पहुंचने की तैयारी की वहाँ जिनके लक्ष्य से वीतराग भाव में पहुंचने की तैयारी हो रही है उनको निमित्त करके कह देते (वीतरागता, निर्मलता और प्रसन्नता एक ही बात है)। वास्तव में तो अपनी ही प्रसन्नता होती है । सच्ची भगवद्भक्ति अपने को प्रसन्न करने में ही है। ऐसा जब करते नहीं बनता तब बाह्य साधनों का अवलंबन लेते हैं। यही कारण है कि साधु के लिये श्रावक के समान द्रव्यपूजन का प्रतिबन्ध नहीं होता। जिनबिम्बदर्शन की आवश्यकता जैसे श्रावक को बतायी गई है, वैसी मुनियों के लिये नहीं। मुनि जंगल में भी रहते हैं और बिना किसी अवलंबन के भगवद्भक्ति कर लेते, उनके चित्त की ऐसी ही निर्मलता होती है कि अवलंबन के बिना भी अपना उपयोग जोड़ सकते। तो जिनको आश्रय बनाकर स्वभाव का स्वाद लिया, प्रसन्नता प्राप्त की उनको कह दिया जाता कि प्रसन्न होओ, निर्मल होओ। और वे तो निर्मल ही हैं, हमें निर्मल होना है। किसी से जब यह

कहते हैं कि आप मुझ पर प्रसन्न होओ तो उसका मतलब यही होता है कि हम जो चाहते हैं वह हमें मिल जाये। भगवान से प्रसन्न होने को कहने का यही मतलब है।

नयदृष्टि से प्रसाद की छाया—'प्रसीद विशुद्ध सुसिद्धसमूह' विशुद्ध के दो अर्थ है—१-पूर्ण निर्मल और २-विविध शुद्ध—प्रत्येक शुभोपयोग की अवस्थायें। यहाँ पर स्वभावसिद्ध अपनी आत्मा में दोनों अर्थों से घटित कर सकते हैं और कर्ममुक्त सिद्ध भगवान में पूर्ण निर्मल का अर्थ ही घटित करना चाहिये। यदि इस विशेष आध्यात्मिक शैली से प्रवेश करें तो यह आत्मा स्वत: सिद्ध है, और भेद-विवक्षा से देखते हैं तो वे भगवान भी स्वत: सिद्ध हैं। अभेद को जब हम भेददृष्टि से देखते हैं तो उसमें अनंत शक्तियां मालूम होती हैं। पर की सहायता की अपेक्षा बिना जो सिद्ध हैं, निष्पन्न हैं उन्हें सुसिद्ध कहते हैं। आत्मा के सारे गुण ऐसे ही हैं। तो सुसिद्ध गुणों का पुञ्ज जो आत्मा विशुद्ध है, सामान्य दृष्टि में एकस्वभावी है, ऐसे आत्मा के लिये पूजक कहता है कि प्रसन्न होओ अर्थात् तुम्हारे ही अनुरूप ज्ञानोपयोग बनो। समयसार में किस बात का वर्णन है ? समयसार का। उसमें कहा है—

गाथा ४६

ण वि होदि अप्पमत्तो, ण पमत्तो जाणगो दु जो भावो।

एवं भणंति सुद्धं णादा, जो सो उ सो चेव।। ४६ ।। समयसार ।

जो न अप्रमत्त है और न प्रमत्त, जो न बद्ध है और न मुक्त। जो इन परिणतियों से नहीं जाना जाता है— ऐसा जो ज्ञायकभाव उसमें हम पंहुचे, वही है तो हमारा लक्ष्य है। तो सिद्ध भगवान की पर्याय स्वभाव के अनुरूप है अत: उसकी भक्ति करके अपने में उस पर्याय को प्रगट करने का उत्साह बढ़ाया जाता। ऐसा भी कहा जा सकता कि किसी भी पर्याय में वह आत्मा हो, पर्याय को छोड़कर उस ध्रुवस्वभावी आत्मा को जाना जा सकता है, लेकिन एकाएक ऐसा होना बहुत कठिन है। पहले रागपर्याय को छोड़कर शुद्ध पर्याय को लें तब साध्य; सरल मान्य होता। अरहंत, सिद्ध भगवान की भक्ति के कारण समयसार की अनादि अनंत स्वभावसिद्ध की दृष्टिरूप पर्याय में पहुंचते हैं।

विरागसहजसिद्ध प्रभु का अभिनन्दन—कर्म को क्षय करके होने वाले वे सिद्ध कैसे हैं ? 'विराग सनातन शांत निरंश, निरामय निर्भय, निर्मल हंस । सुधाम विबोधनिधान विमोह'। हे भगवन् ! आप विराग हैं, राग पर्याय से रहित हैं, केवल विशुद्ध ज्ञान के उपभोक्ता हैं, जहां एक जाननपन का साम्राज्य है और कोई विकल्प नहीं है। भक्त हरएक बात में तत्त्व की बात को दुहराता रहता है और अपने पर घटाता रहता है। वह सोचता है कि तुम्हारी (भगवान आपकी) पर्याय में राग नहीं और मेरे स्वभाव में राग नहीं, जो आपकी जाति है स्वभाव की वही मेरी है। पहचान में आया कि स्वभाव जब एकसा है तभी जाति एक होती। इससे पुजारी में दृढ़ता आयी

कि मेरा स्वभाव विराग है, पर्याय में विरागता नहीं है। जिस क्षण में विराग पर ध्यान रखता, उस समय में भी वह विराग नहीं होता तथापि उपयोग तो विराग का बनाया है। तो भगवान की वीतरागता को देखकर भक्त कहता कि मैं भी विराग हूं। किसी नय को किसी अन्य नय के विषय में लगाने से आपत्ति होती है, यहाँ प्रभु से कहा जा रहा है कि आप विराग हैं, सनातन हैं आदि।

हे प्रभो ! आप सनातन हैं। सिद्ध आत्मा का स्वचतुष्टय कभी नवीन नहीं बनता, वह तो हमेशा से चला आ रहा है। स्वभावसिद्ध आत्मा भी सनातन है। सिद्ध शांत हैं, उनका चतुष्टय उनमें है। जहां सब कषायें दूर होती वहाँ शांति रहती। भक्त भगवान की पर्याय को देखता हुआ अपने पर दृष्टिपात करता है, पर्याय में कषाय रहती हुई भी निजस्वभाव में सिद्धत्व का अनुभव करता। यद्यपि देर तक उस शांति का उपभोग नहीं कर पाता, देर तक वहाँ नहीं ठहर पाता फिर भी उतने समय तक सिद्ध जैसे जिन हैं वैसे वह द्रव्यदृष्टि में आता। जहां अंतर्मुख चित्प्रतिभासरूप दर्शन होता वहाँ द्रव्य में केवल चित्प्रतिभास रह जाता। भगवान का ज्ञान अखंड है, हमारा जैसा खंड रूप नहीं, जैसा कि हमारी पर्याय में है। लेकिन यह कभी नहीं हुआ कि कोई शक्ति कभी कम और कभी ज्यादा हुई हो। पर्यायों में भेद होता है, परन्तु पुजारी जब स्वभाव पर दृष्टि देता है तो अनुभव करता है कि मैं भी स्वभाव में यही हूं जो भगवान हैं, अपूर्ण कोई नहीं। सत् अधूरा नहीं होता। वह अनंत गुणों का पुंज है परन्तु पर्यायदृष्टि रखकर इसे खंड-खंडरूप बनाया। अमुक को जाना, फिर अमुक को जाना आदि—ज्ञानांशरूप हुआ। परंतु प्रभु का ज्ञान निरंश है। आत्मा भी निरंश है। जितने भी सत् हैं वे भी निरंश हैं। द्रव्य हमेशा निरंश रहा करता, अत: पुजारी की दृष्टि अपने आप पर भी लक्ष्य रखती।

निरामय निर्भय निर्मल हंस सहजसिद्ध का अभिनन्दन—भगवान अशरीरी हैं, अतः उनमें रोग नहीं हैं, रोग कल्पना में हैं। आत्मा चेतन है, अमूर्त है, शरीर से भिन्न है। इस संसारी आत्मा में भी रोग नहीं। आत्मा में रोग, राग द्वेष, मोह का होता, सो स्वभाव में भी वह नहीं है और वातज पित्तिज और कफज रोग तो शरीर में ही होता है, आत्मा में नहीं। शरीर मूर्तिक व वात, पित्त, कफ भी मूर्तिक हैं। संसारी आत्मा में पीड़ा तो है लेकिन वात, पित्त, कफ नहीं हैं। तो जो वात, पित्त और कफ के आश्रय से बना उससे कह देते हैं कि अमुक को वातज रोग हो गया आदि। तो पर्याय में रागद्वेषादि रोग हैं, पर स्वभाव में नहीं। भक्त ऐसी भावना करता है कि ऐसे स्वभाव में ही भाव ही प्रगट रहें। और भगवान तो पर्याय में भी निरामय है। भगवान निर्भय है। कोई विकल्प ही नहीं तो भय किसका ? स्वभाव की दृष्टि में इस संसारी आत्मा में भी भय नहीं है। सिद्ध आत्मा रागद्वेषादि मल से रहित है। जब तक हम किसी के निकट नहीं पहुंचते तब तक हम उसके सच्चे भक्त नहीं कहला सकते। हम शरीर आदि के द्वारा उसके नजदीक नहीं पहुंच सकते। स्वभाव का मिलान करके पहुंच सकते हैं। क्षीर नीर

का भेद करने वाला हंस पक्षी होता है। उस रूपक से आत्मा (सिद्ध आत्मा) पुद्गल से पृथक् है और स्वभाव से यह संसारी आत्मा भी, अत: वह हंस है।

सुधाम विबोधनिधान सहजसिद्ध का अभिनन्दन—हे भगवन् ! आप उत्तम धाम को प्राप्त हैं। आपकी आत्मा मुक्त (स्व) क्षेत्र में विराजमान है। आप विशेष ज्ञान—केवलज्ञान के निधान-भंडार हैं और मोहरहित हैं, ऐसे हे सिद्ध भगवन् ! प्रसन्न होओ। भक्त की ऐसी निर्मल भावना से जो पूजा होती है,उससे वीतरागता की जागृति होती है। सिद्ध पूजा में जीवनमुक्त अरहंत की पूजा भी गर्भित है, जब कि संसारी आत्मा में भी स्वभाव की दृष्टि से पूज्यपना माना है, तब वे तो जीवनमुक्त ही हैं। अनुजीवी गुण तो उनमें सभी पूर्ण प्रकट हैं फिर भी सम्पूर्ण द्रव्यों की गुण-पर्यायों को वे जानते हैं और अपने में लीन रहते हैं। जैसे कहा है—'सकलज्ञेयज्ञायक तदपि निजानंद रसलीन'। लोग सोचते होंगे कि भगवान अपने आप में लीन रहते, सो अपन आप को जानते, पर को क्या जानते ? सो भैया ! ज्ञेय के आकार के प्रतिभास से परिणमता सो पर का जानना तो हो ही गया। ज्ञान का काम जानना है, उसकी सीमा नहीं है, सो ज्ञान सबका ही तो होगा।

ज्ञानभक्ति में ज्ञानपुञ्ज का अभिनन्दन—इन दिखने वाले पदार्थों में से कुछ को तो हम जानते ही हैं। सो ऐसे कुछ को जानने से ज्ञानपना या ज्ञान का महत्त्व नहीं है। यह ज्ञान तो निमित्ताधीन ज्ञान है। सहज विकास की बात यहां नहीं आई। ज्ञान का स्वभाव ही जानना है। 'हम इतने पदार्थों को जानते हैं' ऐसा कहकर दर्प मत बढ़ाओ। इसको ऐसा न कहना चाहिये कि हम इतने से अतिरिक्त पदार्थों को नहीं जान पा रहे, हमारा काम तो विशाल है ज्ञान का स्वभाव जाननपना है, फिर भी उसमें सीमा नहीं है। तो स्वभाव में जब वह सीमा-बद्ध ज्ञान नहीं तो कर्ममुक्त अवस्था में भी सीमा कहां से आयेगी ? तो भगवान पदार्थों को निज ज्ञेयाकाररूप से जानते, सम्पूर्ण द्रव्य गुण पर्यायों को जानते, किंतु निमित्तों की दृष्टि से नहीं। ऐसा विकल्पातीत निर्मल जिनका ज्ञान है, तथा ऐसी अनंत जिनमें शक्ति है कि अपने आप में निमग्न रहते। अपने आप में वही रहता जो अनंत शक्ति वाला होता । कमजोर व्यक्ति के नाक अधिक बहती, अधिक बार पेशाब जाता, वह इसलिये कि शरीर में उन मलों को यथासमय तक रोकने की ताकत नहीं है । शरीर सबल रहने पर उसके धातु, उपधातु आदि यथोचित समय तक स्थिर रहते, लेकिन निर्बलता आने पर ऐसा नहीं रहता। इसी तरह आत्मा को अपने अनंत गुणों को डांटने के लिये भारी ताकत की जरूरत है, वह शक्ति भगवान में होती है तथा वे अव्याबाधगुण से पूरित हैं। वे अनंत सुख से परिपूर्ण हैं। जितने दुःखों के अभाव में वह गुण प्रगट हुआ वे उतने ही सुख के धनी हैं। अनंत दुःखों के अभाव में अनंत सुख होता अथवा सुख आत्मा का स्वरूप ही है। उससे जो अनंत तरह के विकार आकर वह अनंत दुःखरूप या इन्द्रिय-सुखरूप परिणमता उन विकारों के दूर हो जाने पर स्वाभाविक अनंतसुख से परिणमन करने लगता है। ऐसे महान सम्यक्त्व, ज्ञान, वीर्य और सुख आदि गुणों से पूरित भगवान को मैं पूजता हूं। सो हे भगवन् ! मैं इन गुणों का लोभी होकर नहीं पूजता और कोई चाहे तो उसे मिलते भी नहीं।

हमको ये दर्शन ज्ञान आदि नहीं चाहियें। तो क्या चाहिये ? इसका उत्तर भी हम नहीं दे सकते । तो ध्यान क्यों करते ? हो जाता है, जब मोह और विषयकषाय नहीं होते तो आपका ध्यान हो जाता है। प्रोग्राम बनाने पर भगवान नहीं पूजते। अगर कोई पूछने पर ही उतारू हो जाये तो हम क्या चाहते हैं सो सुनो-—

सहजसिद्धसंचर्चन में संचर्चक के स्वयं के स्वयं में बोधन, दर्शन, निराकुलन व समाने की अभिलाषा— अनंत ज्ञान मिलो चाहे न मिलो, उसकी मुझे चाह नहीं है, मैं इतना ही चाहता हूं कि अपने स्वयं को जान लूं। अगर कोई यह कह दे कि आपने ऐसी चीज मांगी कि जिससे तीन लोक का ज्ञान आ ही जाता है तो इसके लिये मैं क्या करूं ? मैं उस बहाने से थोड़े ही निज ज्ञान चाहता हूं। अनंतदर्शन मिलो चाहे न मिलो, उसे मैं नहीं चाहता, मैं स्वयं अपने को ही देखता रहूँ इतना ही चाहता हूँ । मैं अनंत सुख भी नहीं चाहता, आकुलता मिट जाये केवल यही चाहता हूं। चंचलता दूर हो जाये। अनंत शक्ति मिलो या न मिलो उसकी मुझे चाह नहीं है किंतु मैं अपने मैं ही ज्ञनरूप से बैठ जाऊं यही चाहता हूं। इनके होने से और कुछ हो तो हो, हमारी कुछ वांछा नहीं। ऐसा आपका यह भक्त हे भगवान ! अनंत गुण आपकी पूजा करता हूं। सो मैं एक नहीं अनंत सिद्धों को पूजता हूं। प्रश्न—एक सिद्ध का ही स्तवन कर लिया जाये सबको पूजने का क्या प्रयोजन ? उत्तर—मुझे निजानुभूति या मुक्तिरूपी कन्या से पाणिग्रहण करने के लिये उसके अनुरूप बरात सजाना है, मैं उसके लिये प्रयत्नशील हूं। तो इतने बड़े कार्य के लिये बरात भी बड़ी बनाना हैं सो ऐसे बड़े बराती ये सब सिद्ध भगवान हैं। दूसरी बात यह कि यह इतना बड़ा काम है कि एक सिद्ध से काम नहीं चलता, अतः अनंत सिद्धों को आह्वान करते हैं। उन अनंत सिद्धों को फिर अभेद भाव से निर्मल अभेद एकानेक विकल्परहित चैतन्य स्वभाव में ले जाऊं और अभेद ध्यानी बनूं। निश्चयतः बहुत सिद्धों को पूजने की सार्थकता यह है कि जब शुद्ध निश्चयनय के विषयभूत कर्ममुक्त सिद्धात्माओं को अपना आराध्य बनाते हैं, तो सिद्ध एक नहीं है, वे अनंत हैं। उन सब में कोई ऐसा भेद भी नहीं है कि जिसमें हम किसी को निम्नकोटि में छोड़कर उच्चकोटि के सिद्धों को ही आराध्य बनावें। तीर्थंकरसिद्ध आदि की विशेषता व्यवहार से है, निश्चय से नहीं, अतः एक सिद्ध को पूजें, तो किसको पूजें ? किसी एक तीर्थंकर सिद्ध को ही पूजें तो उसमें हमारे स्वभाव का अज्ञान या अनादर होता है। स्वरूप की रुचि वाले पूजक की तो स्वभावसिद्ध सभी आत्माएं आराध्य हैं। उन सब आत्माओं का एक साथ से जो ध्यान है वह अनेक संख्या को छोड़ देता है ओर एक स्वभावरूप रह जाता है तथा तिर्यक् सामान्यरूप से एक सामान्य हो जाता है। उस सामान्यरूप की आराधना निज की पर्याय है और यह निज सामान्यस्वरूप को अनुभवता प्रगट होता है। इस तरह उन सर्व अनंतसिद्ध महाराजों का ध्यान अन्त में निज अभेदस्वरूप चैतन्यभाव का स्पर्श कराने को पूर्ण कारण होता है । इस प्रकार सहजसिद्ध देव की विविध अर्चना करके अब जयमाला में कहते हैं—

गाथा ४७

विदुरितसंसृतिभाव निरंग, समामृतपूरित देव विसंग।

अबन्धकषायविहीन विमोह, प्रसीद विशुद्ध सुसिद्धसमूह।।४७।।

विदुरितसंसृतिभाव निरङ्ग सहजसिद्ध की उपासना—अत्यन्त दूर हो गया है संसृतभाव जिनके, इसी को मुक्त अवस्था कहते हैं, जहां सांसारिक परिणाम दूर हो जाते हैं। धर्म के लिये भाव बनाने को गन्दे भाव दूर करना चाहिये, इसके लिये सहजभाव पर दृष्टि जानी चाहिये। भगवान की पूजा वन्दना आदि भाव बनाये जाते हैं, ये भाव सहज नहीं होते, अतः निश्चयतः धर्म भी नहीं हैं, लेकिन उपयोगी जरूर हैं मात्र विषयकषाय का परिणाम न आने देने के लिये। यह समझ आने पर कोई यह समझे कि भगवान के प्रति भक्ति के भाव मंद पड़ जावेंगे या भक्तिभाव में न्यूनता आवेगी सो बात नहीं। जैसे-जैसे सहजभाव प्रगट होगा त्यों-त्यों यदि विकल्प हों सिद्ध भगवान में आदर की विशेषता होगी। पूजा करने वाले यदि पूजा को वास्तव में तेज बढ़ावें तो पूजा नहीं रहती, अद्वैतभक्ति हो जावेगी तथा साधारण लोग पूजा के यथार्थ मार्ग पर नहीं चलते तो पूजा की झंझट बनी रहती है। पूजा की यही विशेषता है कि पूज्य तत्त्व का परमात्मस्वरूप का ध्यान रहने पर आत्मास्वरूप में स्थिरता प्राप्त कर लेता । निरंग—आप निरंग हैं, अंगरहित हैं। निरंग के दो अर्थ हैं १-अंशरहित २-शरीररहित। दोनों अर्थों में सिद्ध का स्वरूप प्रगट होता है। भगवान स्वरूप से परिपूर्ण हैं, उनमें सांशपना नहीं है और देहरहित भी है। परमशुद्ध निश्चयनय से हमारी आत्मा भी सर्वभावरूप—स्वरूप से परिपूर्ण है, और आत्मा तथा कर्म का कभी तादात्मय नहीं होने से वह देहरहित भी है। निःशेष अंग अंश या गुणों से परिपूर्ण है। सिद्ध भगवान की पर्याय भी छद्मस्थ अवस्था की सांश परिणति से व देह से मुक्त हो चुकी हैं, शरीर जड़ वस्तु है उसके संग मे आत्मा पिटती है, वैभाविक परिणमन में जाती है, दुःख को अनुभव करती हैं, जैसे-लोहे के संसर्ग से अग्नि पिटती है। लुहार अग्नि को नहीं पीटना चाहता लेकिन लोहे को पीटने से वह भी पिट जाती है। आत्मा यदि कर्म का संयोग न करे तो उसे दुःख का कभी भी अनुभव न करना पड़े, लेकिन कर्म के संयोग की अवस्था बनाता है अतः दुःख में पड़ना पड़ता है।

समामृतपूरित सहजसिद्ध प्रभु का अभिनन्दन—समामृतपूरित—आप समतारूपी अमृत से पूरित हो। समता जीवन का स्वभाव है। जीव के भाव और अजीव के भाव की वह मेंड़ है। जैसे—दो किसानों के पास-पास में खेतों को अलग करने वाली मेंड होती है इसी तरह जीवभाव और पौद्गलिकभाव के अलग-अलग करने की तरकीब है समता । समता ही जीव का भाव है, जबकि विषय विकारीभाव पुद्गल के संयोग से जन्य पौद्गलिक भाव हैं। समता से जीव के स्वभाव की पहिचान होती है समता जीव का स्वभाव है, वह पर्याय में धर्म आने

पर प्रगट होता है। स्वभाव में हमारी आत्मा समतारूपी अमृत से परिपूर्ण है। लोकव्यवहार में भी जो जितना गम खाता है वह उतना ही शांत रहता है। जो समताभाव रखेगा वह पुष्ट रहेगा, शरीर व मन से । गम खाने से कलह और विसंवाद नहीं होते, घर में जो सहनशील होता वही बड़ा कहलाता, यही नहीं किसी भी क्षेत्र में जो जितना सहनशील होगा वह उतना ही बड़ा कहलायेगा। जरा-जरा सी बात में झगड़ा करने वाले बड़े कैसे बन सकते हैं ? कभी नहीं। महात्मा की पहिचान समता है। एक त्यागी जी के पास एक साधर्मी भाई गये, और त्यागीजी से उनका नाम पूछा, उन्होंने अपना नाम शीतलप्रसाद बताया। कुछ देर बाद फिर पूछा, उन्होंने फिर बता दिया। कुछ देर बाद फिर पूछा, अबकी बार वे गुस्सा हो पड़े और बोले— तुझे कितनी बार बतलाऊं, तब वे यह कहते हुए चले गये कि आपका नाम ज्वालाप्रसाद है मैं समझ गया । उन महाशय को त्यागी जी के त्याग—समता की परीक्षा करनी थी, सो हो गयी। उड़द का एक पकवान बड़ा बनाया जाता है, समता में उसका रूपक यों कहते हैं—खेत में जब उड़द पक जाता है तब कूटकर छिलके से उसे अलग करते हैं। पीछे चक्की के ऊपर-नीचे दोनों पाटों के बीच उसको दला जाता है, ओखली में मूसलों की चोटें सहना पड़ती हैं। पीछे पिसकर टुकड़े-टुकड़े हो जाता है,और जल मिलाकर गूंथा जाता है। फिर उबलते हुए घी में अपने को अर्पण करने पर बड़ा बनता है। इतना सब कुछ सहते हुए वह स्वाद में बड़ा बनता है। यही हाल प्रत्येक प्राणी का है। वह समता में जितने उपद्रवों को सहता है, दुःख भोग लेता है उतना ही बड़ा बनता है। जो चीज सही होती है वह सुगमता से समझी जाती । कई लोग ब्रह्म का अनेक प्रकार से वर्णन करते, लेकिन उनसे पूछा जाये कि सच कहो क्या आपको ब्रह्म का अनुभव हुआ ? तो यदि वे सचाई से कहेंगे तो नकारात्मक उत्तर होगा। लेकिन सत्यता की कसौटी पर कसे गये अहिंसाधर्म पर जो अमल करता है वह अधिक से अधिक ६ माह में ब्रह्म का अवलोकन करने लगता, तो ब्रह्म जो आत्मा उसके सचे स्वरूप को जानकर निर्विकल्परूप में रहकर इसे देखेगा उसके समता आयेगी। भगवान अपने आप में रमने वाले ज्योतिरूप हैं।

विसङ्ग सहजसिद्ध प्रभु की उपासना—सहजसिद्ध प्रभु निःसंग है। जितना दुःख है वह परिग्रह का ही है। जगत के बीच परिग्रह के भार से इतने बोझीले बन गये हैं कि उनके दुःख का कोई ठिकाना नहीं है। जीव के खुद की विपरीत मान्यतारूप परिग्रह सबसे बुरा और घातक है, उसी के रहते हुए बाह्य चेतन-अचेतन परिग्रह उसके दुःख का निमित्त कारण बन जाता है। मूल में परभावों का संग छोड़ना सबसे बड़ा महत्त्व का काम है। अनादि से जीव जो नहीं कर पाया वह यही कि इसने अपनी भूल को भूल नहीं समझा और भूल को भूल न समझने का कारण है अपना वास्तविक स्वरूप न समझना। अपने सचे शुद्धरूप को पहिचान लें तो अनादि की चली आई मिथ्या अहंकार और ममकार की भूल तुरन्त समझ में आ जावे। लेकिन जीव परके संयोग में जब इतना तन्मय हो गया कि वह अपने को भूल, पर को ही अपना मानने लगा तो उस पर-पुद्गल ने भी उस पर निमित्तरूप से असर डाला । वस्तुतः प्रत्येक द्रव्य का असर अपना अपनों में ही है, दूसरे पर कुछ भी नहीं, लेकिन उन निमित्तों के कारण वे जीव या पुद्गल अपने उपादान से उस रूप परिणमते हैं। निश्चय की दृष्टि से

देखा जाये तो सम्पूर्ण आत्माएं हमेशा से स्वतंत्र ही हैं, निसंग ही है। पुद्गल परमाणु भी जीव का संगी नहीं बन सका और न जीव परमाणु का, फिर भी एक क्षेत्रावगाही होकर आप में जो आश्रयापेक्षया या कहिये अशुद्ध निश्चयनय से एक दूसरे के विकर्म विकारक बनते हैं, तो उसी दृष्टि से उनमें संगपना भी कहलाने लगता है। और आचार्य कहते हैं कि वस्तु को जो जिस रूप में देखता है उस भाव का कर्ता होता है । ज्ञानी अपने शुद्ध स्वरूप को देखता है तो वह उसका कर्ता है और अज्ञानी अशुद्ध पर्याय को देखता तो वह अशुद्ध भावों का कर्ता होता है। तो वास्तव में संगपना विकल्प में ही है, पदार्थ तो अलग-अलग ही हैं, त्रिकाल में भी जीव पुद्गल न होगा और पुद्गल जीव न होगा। यही नहीं आकाश के एक क्षेत्रावगाही होकर भी एक के प्रदेश दूसरे में प्रवेश नहीं करते। अतः सिद्ध भगवान उन संयोग के विकल्पभावों से रहित हैं और उन संयोगों से भी रहित हैं।

आत्मोद्धार के लिये विसङ्गता की प्रथम आवश्यकता—संसारी जीवों के भीतरी संग—मूर्च्छाभाव को पुष्ट करने वाले चेतन-अचेतन परिग्रह हैं। निमित्तापेक्षया स्त्री, पुत्र, पितादि चेतन परिग्रह हैं, और धन, गृह आदि अचेतन परिग्रह हैं। अचेतन परिग्रह से चेतन परिग्रह मूर्च्छा को पुष्ट करने में अधिक बलवान है। अज्ञानी तो अधिक पुत्र पौत्रादि होने से अपने को बड़ा और सौभाग्यशाली मानते हैं, लेकिन यह उनका जबरदस्त भ्रम है। यह चेतन परिग्रह का परिकर जितना अधिक होगा वह आत्मा के लिये उतना ही दुःखदायी है। जो अधिक परिवार की चिन्ता में नहीं हैं, निःसंतान है उन्हें निराकुल होने का आत्मकल्याण में लगाने का सुन्दर अवसर है। वे इसे सुवर्ण अवसर के रूप में परिवर्तित कर सकते हैं। इसी तरह धन आदि अचेतन परिग्रह से हीन होने पर भी अपने स्वरूप की प्राप्ति में अपना सौभाग्य मान सकते हैं। असंग भावना और असंग वृत्ति की महिमा का वर्णन करना कठिन है। यह वह अवस्था है जिससे आत्मा परमात्मा बनता है। इन्द्र, धरणेन्द्र और चक्रवर्ती निसंग साधु के चरणों की रज मस्तक पर बड़ी श्रद्धा के साथ में लगाते हैं। उनके चरणों पर मस्तक टेककर अपने को धन्य मानते हैं। आज तक जितने भी सिद्धपद को प्राप्त हुए हैं और आगे अनंत काल तक होते रहेंगे वे सब निसंग होकर ही हुए हैं, निर्ग्रन्थ होकर ही मुक्त हुए हैं । सातिशय पुण्य के धारी तीर्थंकर भी जब तक निर्ग्रन्थ नहीं होते तब तक अपने स्वरूप में स्थिर नहीं रह सकते, कर्मों को नहीं काट सकते। हम अपनी आंखों के सामने देखते हैं कि बड़े कहलाने वाले राजा-महाराजा साधु के चरणों में अपना मस्तक टेकते हैं, साधु कभी भी उन्हें ऐसा नहीं करता। जो साधु, साधु कहला करके भी धनी, मानी और लौकिक प्रतिष्ठा से प्रतिष्ठित व्यक्तियों की खुशामद करते हैं, उन्हें खुश रखने की फिकर में रहते हैं वे साधु ही नहीं है, ढोंगी और संसारी हैं। वे आत्मरस से सर्वथा अनभिज्ञ हैं, मिथ्या वासना से ग्रसित हैं और अपने सिवा दूसरों को भी कल्याण के मार्ग से दूर ले जाने वाले हैं। अतः दुःख से छूटने वाले मुमुक्षु की वृत्ति निःसंगपने की होती है और वृत्ति में पूरा नहीं तो भावना अवश्य ही निःसंगपने की होती है । जो अपने को भव्य समझता हो, या उस कोटि में अपने को रखना चाहता हो, दुःखों से छूटना चाहता हो, संसार जिसे क्षणिक और दुःखमयी मालूम होने लगा हो, वह अपनी भावना और वृत्ति को निःसंगपने की बनावे, सर्वविविक्त निज को देखे।

आजकल सरकार की तरफ से धन संपत्ति के बारे में बड़ी कड़ी निगाह है, उसको देखते हुए परिग्रह परिमाण व्रत की यथार्थता पर अवलंबन करना अति आवश्यक हो गया है।

अबन्ध सहजसिद्ध का अभिनन्दन—हे सिद्ध भगवन् ! आप अबंध-बंध रहित हैं। स्वरूप से सनातन से आप अबंध ही हैं तथा मिथ्यात्व और कषायों से पुद्गलों को अपने आश्रय से कर्मरूप किया था और वे कर्म आपके पास बैठकर आप में राग-द्वेष पैदा होने के कारण बन रहे थे, नवीन कार्मणशरीर, निविड़ बंधन और औदारिक वैक्रियिक आदि नो कर्मबंधन के जो कारण बन रहे थे वे भी क्षीण हो गये, सिद्ध प्रभु केवल हो गये। स्वरूप से विचारा जाये तो आत्मा स्वतंत्र ही है, किसी के बंधन में नहीं है और न कभी हो सकेंगे। लेकिन भ्रम से अपने शरीर के बन्धनरूप अथवा शरीर अनुभव करता है। जब उसकी नजर परतन्त्रता पर ही रहती है और अपने स्वतंत्र परमात्मीय गुणों से परिपूर्ण मानने में हिचकता ही नहीं, देवत्व के प्रति अपराध समझता है तब उसका मानसिक स्तर सुदीर्घ काल के लिये इतना गिरा हो जाता है कि वह परतंत्र ही रहता है। स्वभाव में स्वतंत्रता होते हुए भी अवस्था उसकी परतंत्र ही रहती है तब तक जब तक कि वह अपने स्वतन्त्र स्वरूप को स्वीकार नहीं करता। तो स्वभावसिद्ध भगवान स्वरूप से और कर्ममुक्त भगवान पर्याय से भी अबन्ध हैं।

कषायविहीन विमोह सहजसिद्धदेव की उपासना—कषायविहीन हे भगवन् ! आप कषायों से रहित हैं । कषायभाव परभाव हैं, परके संयोग से होने वाले भाव हैं, अतः शुद्ध स्वभाव की दृष्टि में कषायभाव आत्मा के नहीं हैं, यद्यपि कषायरूप पर्याय नियम से आत्मा की ही होती है, लेकिन वह क्षणिक है, एक समयमात्र की स्थिति वाली है। यदि अगले समय में हम अपने स्वभाव-भावरूप परिणमन करें तो वह हठात् हमको कषाय की पर्याय में रखने में असमर्थ है। पर्याय का कार्य वर्तमान को सत् करने का है। स्थूलरूप से पूर्व समयवर्ती पर्याय को उत्तरसमयवर्ती होने वाली पर्याय का कारण मानते, लेकिन जिस पूर्ववर्ती समय में पर्याय हैं उस पर्याय के अस्तित्व में उत्तरक्षणवर्ती पर्याय नहीं क्योंकि दो पर्यायों का एक साथ होना असंभव है। अतः जब पूर्वक्षणवर्ती पर्याय नष्ट हो लेती है तब (आगे की) उत्तर पर्याय बनती है, जब इस उत्तरसमयवर्ती पर्याय की सत्ता हुई तब पूर्वसमयवर्ती पर्याय की सत्ता नहीं हैं और जब उनकी सत्ता थी तब इसकी नहीं थी,तब कारणकार्य भाव कैसे बने ? दोनों का अस्तित्व ही नहीं है उस क्षण में तो कारणकार्यपना कैसा ? लेकिन पूर्ववर्ती पर्याय को जो कारण कहते हैं वह इसलिये कि इसके होने के पहिले वह होती ही है और इसके होने के बाद यह होती ही है। अतः निश्चयनय में भी जब अशुद्ध अवस्था का विचार किया जाता है जो कि वास्तव में वस्तु की नहीं है, परसंयोग के आश्रय से बनती है तब कषायभाव आत्मा का कहलाता तो इस अशुद्ध निश्चयनय से माने गये कषायभावों से भी आप रहित हैं। और स्वरूप-सिद्ध भगवान तो स्वभावतः सनातन निःकषाय ही हैं। हे विमोह ! हे सिद्ध भगवन ! आप विमोह हैं, मोहरहित हैं। मोह का अस्तित्व भी अशुद्ध निश्चयनय से है, उसका अस्तित्व स्वरूप सिद्धि के लिये बड़ा खतरनाक है अतः कर्मों में मोह को मोहराजा कहा गया है। उसका अस्तित्व खत्म कर

देना बड़े भारी महत्त्व का काम है। सो प्रगट सिद्ध परमात्मा ने उसे क्षीण कर दिया सो ऐसे हे सिद्ध भगवन् ! तथा स्वरूप-सिद्ध आत्मा जो कि विशुद्ध और सुसिद्ध है, प्रसन्न होओ और ऊर्ध्वतासामान्यरूप निजतत्त्व को देखो तो वह भी मोह ही क्या, सर्वपर्याय से रहित है, ऐसे हे सहजसिद्ध भगवान् ! प्रसन्न होओ।

गाथा ४८

निवारितदुष्कृत कर्मविपाश, सदामल-केवलकेलिनिवास।

भवोदधिपारग शांत विमोह, प्रसीद विशुद्ध सुसिद्ध समूह।।४८।।

निवारितदुष्कृत कर्मविपाश सहजसिद्ध प्रभु का अभिनन्दन—हे विशुद्ध सुसिद्धसमूह—सिद्ध भगवान ! आप प्रसन्न होओ। आप कैसे हैं ? दुष्कृतकर्मजाल का जिन्होंने निवारण कर दिया है। विपाश जाल को कहते हैं। जैसे—जाल में उलझा हुआ प्राणी कठिनता से निकल पाता और यदि मूल मिल गया तो सरलता से सुलझ जाता है, उसी तरह कर्म का जाल है। कोई ऊपरी जप, तप, शारीरिक क्रियाकांड आदि द्वारा कर्म से छूटना चाहें तो कठिन ही नहीं, असंभव है। और जैसे- जाल के मूल स्रोत का पता पड़ जाये तो उससे सरलता से सुलझा जा सकता है, उसी तरह कर्म के मूल स्रोत को जान लिया जाये तो उससे निर्वृत्त हो जाना सरल है। मोह और रागद्वेष कर्म के ओर-छोर हैं, कर्मों के आस्रव के द्वार यही तो हैं। दो को मिलाने वाले यही हैं, अत्यन्त जुदे विभाव-स्वभाव जीव अजीव आदि दो की सन्धि करने वाला जो मिथ्याभाव है यदि इसकी गांठ को खोलकर भ्रम भागे तो कर्मों का निकलना कठिन नहीं है। यदि इनकी गांठ न खुले तो कर्मजाल से निकलना कठिन ही नहीं असंभव है। जैसे जाल में पड़े हुए प्राणी की दुर्दशा होती है वह बात कर्म के जाल में पड़े हुए प्राणी की ही है। किन्तु हे जिनेन्द्र ! आपने ऐसे कर्म के जाल का निवारण कर दिया है। एक-एक बात पर ध्यान दो। पाश जाल को कहते हैं, उसमें वि उपसर्ग, विशेषता के लिये है अर्थात् कर्म का जाल ऐसा है कि उससे छूटना सरल होकर भी महान् कठिन हो रहा है। ऊपरी क्रियाकांड से तो इसकी गांठ खुलती नहीं किंतु संयम और तप आदि सम्यक्त्वहीन अंतरंग की पुण्य प्रवृत्ति भी इसे खोलने में समर्थहीन है। जाल का और छोर न मालूम हो तो छूटना कठिन है।

कर्म की विपाशरूपता—कर्म एक जबरदस्त जाल है, जाल में कोई फंसना नहीं चाहता, लेकिन मोही जीव कूद-कूदकर हंस-हंसकर इसमें फंसता है। द्रव्यकर्म औपचारिक पाश है, लेकिन विभावकर्म ऐसा पाश है कि इससे निकलना कठिन हो रहा है। ऐसी जो वर्गणाएं हैं, जिनका स्वयं कोई नाम नहीं किंतु विभाव का निमित्त पाकर उनमें ऐसी प्रकृति आती कि फिर उनका निमित्त पाकर उस तरह के विभावकर्म भी होने लगते हैं

। जैसे—कोई बिलाव शेर के रंग-ढ़ंग का हो उसे भी सिंह कहते हैं। लेकिन वह असली सिंह नहीं है। असली कर्म तो भावकर्म हैं। क्यों ? कर्म का अर्थ क्या है, कर्म कारक का अर्थ क्या है ? कर्ता के द्वारा जो किया जाये या क्रिया का जिस पर फल पड़े उसे कर्म कहते है। तो यह आत्मा किसे कर सकता है ? आत्मा अपने गुणों के प्रकाश को कर सकता है। वह प्रकाश सम्यक् हो या विपरीत। रागद्वेष आदि चारित्र गुण के विकार हैं। अतत्त्व श्रद्धान, श्रद्धागुण का विकार है। तो रागद्वेष आदि रूप आत्मा की क्रिया का फल कहां हुआ ? आत्मा में ही हुआ । उस विभाव कर्म का निमित्त पाकर जिस चीज का बंधन हो जाये, संयोग हो जाये उसे भी कर्म कहा जाने लगा । जैसे—केला बेचने वाले को केला कहते हैं उसके नाम का पता नहीं होने से । तो जिन्हें केला की जरूरत है वे उसे 'केला' कहकर पुकारते हैं, इसी तरह कर्म तो विभाव रागद्वेष आदि हैं, और उनसे जो वर्गणाएं बन्धती है वे भी कर्म कहलायें । कोई प्रश्न करें कि सिद्धान्त में तो 'कार्मण वर्गणाएं' नाम की वर्गणाएं लिखी हुई मिलती हैं ? सो ठीक है। हम तो नाम निक्षेप की अपेक्षा न कहकर भाव की अपेक्षा कह रहे हैं। 'कर्म' में जो अर्थ भरा है उसकी अपेक्षा से बात कही जा रही है, और उसका निमित्त पाकर जिन वर्गणाओं में ऐसा निमित्तत्व भरा है कि जिनका निमित्त पाकर रागद्वेष आदि होते हैं वे भी कर्म नाम से संज्ञित हैं। तो जिन्होंने कर्म-विपाक को दूर कर दिया ऐसे सिद्ध भगवान की पूजा की जा रही है। कर्म; आत्मा की लीनता में बाधक हैं, इस अपेक्षा से सारे कर्म पाप ही हैं। तीर्थंकर, यशःकीर्ति आदि कर्म भी इस दृष्टि से पाप हैं, लेकिन लोक में जिनका फल पुण्यरूप है उन्हें पुण्य कहते और जिनका फल पापरूप है उन्हें पाप कह देते। लौकिक व्यवहार की अपेक्षा इनका फल न्यारा-न्यारा इष्ट-अनिष्टरूप है इसलिये इन्हें पुण्यकर्म और पापकर्म कह देते हैं। अशुभकर्म कुशील और शुभकर्म सुशील कहलाते हैं लेकिन वस्तुतः है नहीं। जो स्वभाव में प्रवेश करावे सो सुशील कहलाता, सो कर्ममात्र स्वरूप में प्रवेश नहीं कराते, अतः सुशील नहीं ।

सहजसिद्ध की निवारित दुष्कृतकर्मविपाशता—देखो, भैया ! जो कठिनता से दूर किये जायें ऐसे कर्मों को करने में संसारी सुभट लगे रहते हैं। कर्म करने में भी सरलता नहीं, कठिनता ही है। इसके विपरीत स्वभाव का काम सरल है। पर संसारी आत्मा प्रबल योद्धा है कि कर्म को सरलता से कर लेता, उनके करने में पर का आश्रय लेना पड़ता, परकी आकुलता करनी पड़ती,योग बनाना पड़ता तब कर्म होते हैं। संसार का वैभव क्लेश से होता और क्लेशरूप होता किंतु मोक्ष का वैभव सम्पूर्ण क्लेशों से रहित है और क्लेशरहित निराकुलता से किया जाता। स्वभाव को करना सरल क्यों है ? इसलिये कि उसमें करना-धरना कुछ नहीं है, उसमें शारीरिक-वाचिक कोई ताकत की आवश्यकता नहीं। जो परिश्रम करेंगे उन्हें कर्म मिलेंगे। परिश्रम नहीं करेंगे तो कर्म नहीं मिलेंगे। खूद देख लो, कर्म कठिन है या स्वभाव। शायद संसारी प्राणी इन्हें इसलिये नहीं छोड़ता कि ये कठिनाई से उपार्जित किये गये हैं। निवारित वही होता है जो स्वभावरूप नहीं होता, मलरूप होता। द्रव्यकर्म अत्यन्ताभाव वाले हैं । इनकी सत्ता आत्मा में नहीं, अपने ही में है । इसलिये ये कर्म तो पहिले से ही निवारित हैं, इनकी सत्ता हममें नहीं है। जो हममें घुसा हो, हमारे स्वरूप का बिगाड़ कर रहा हो वह औपाधिक वैभाविक कर्म भी

हमारा नहीं, उपाधिजन्य है। जैसे—अतिवृद्ध पुरुष अपने नाती-पोते को अपने ऊपर उछलते-कूदते देख अपने लिये आपत्ति माने तो आपत्ति ही है, और माने कि खेल-कूद रहे हैं तो मन में क्लेशरूप भाव नहीं आते। इसी तरह स्वभावरूपी बच्चा रागद्वेष आदि को देखता है तो चीख मारता, और स्वभाव में जब दृष्टि गई तो लोटते-लोटते अपने आप ठण्डे हो जाते। इसी तरह स्वभाव की दृष्टि बनी रहे तो रागद्वेष निकल ही जावेंगे । ये अलग हैं इसलिये इनका निवारण किया जाता । तो हे भगवन् ! आप कैसे हैं ? निः—निःशेषेण—पूर्णतया हमेशा के लिये कर्म से रहित हैं।

सहजसिद्ध के सदाशिवरूप में सहज निवारित दुष्कृत कर्मविपाशता—जब स्वरूप पर दृष्टि दी तो अपने आप को यह ज्ञाता भगवान जानता है । हे सहजसिद्ध निज चैतन्यदेव ! तुम अनादि, अनंत, अहेतुक हो, तुममें कर्म हैं ही नहीं, वे तो अनादि से निवारण किये हुए हैं। द्रव्यकर्म और भावकर्म, दोनों ध्रुव आत्मा में अनादि से नहीं हैं। आपको कहा जा रहा है कि आप सदाशिव हैं, बंधरहित स्वतंत्र हैं। सांख्य जैसा कुछ कहते और अनादि सृष्टिवादी कहते, उस मान्यता के अनुसार कोई अस्तित्व ईश्वर का नहीं है। हम जो स्वभावतः ईश्वर हैं उनका अस्तित्व है। पूर्णसत्; द्रव्यपर्यायात्मक गुणपर्यायात्मक होता है। उस ही सत् को द्रव्य-सामान्य देखने पर सदाशिव मालूम पड़ता । जैसे—एक ही मनुष्य अपेक्षा से पिता, पुत्र, मामा और फूफा आदि है । लेकिन ऐसा नहीं कि कोई एक अंग पिता है, कोई अंग पुत्र, मामा और फूफा आदि हो। सारे का सारा शरीर फूफा, मामा आदि है। पूरे का पूरा जिस दृष्टि से देखो उस दृष्टि से वह मालूम पड़ता । पिता की दृष्टि से देखें तो पूरे का पूरा पिता है और पुत्र की दृष्टि से देखें तो पूरा का पूरा पुत्र है तथा इसी प्रकार और और । इसी तरह इसकी आत्मा को जब हम पर्याय से देखते हैं तो पूरे का पूरा संसारी हैं और जब सामान्य की दृष्टि से देखते हैं तो सदाशिव है। तो हे सहजसिद्ध तुम सदाशिव हो। अनादि से कर्मविपाक को दूर किये हो। ऐसे हे सहजसिद्ध भगवान् ! प्रसन्न होओ।

सदामल केवलकेलिनिवास सहजसिद्ध की उपासना—सदामल—आप सदा अमल हो, निर्मल हो। यह बात भविष्य के लिये है या भूत आदि किसी भी काल को ? सभी कालों के लिये साधारण है। कर्मक्षय-सिद्ध भगवान जिस समय से सिद्ध होते हैं, वे अनंत काल तक निर्मल रहते है और यह सहजसिद्ध आत्मा हमेशा से निर्मल है। इसमें परके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का न आना ही इसकी निर्मलता है ऐसा यह आत्मा जिसमें पर की लपेट नहीं है । आत्मा की वस्तु अन्य आत्मा में आ ही नहीं सकती। 'केवलकेलिनिवास' हे भगवन् ! आप केवलज्ञान में केलि करने वाले हैं । केवल एक को भी कहते हैं, तो एक का खेल कैसे ? अकेला भी खेल होता है। अकेला बच्चा जब खेलता तो केवल प्रसन्न ही रहता है, और बहुतों में जब खेलता तब झगड़ा-फसाद होकर संक्लेशित भी होता, तो केवल एक का खेल देख लो, कैसा होता ? और बहुतों के संग का देख लो । तत्त्वार्थ सूत्र में 'मैथुनमब्रह्म'—सूत्र आया । उसमें मिथुन (युगल, दो) से मैथुन शब्द बना है। दो के सम्पर्क से जो असर

होता उसे मैथुन कहते हैं। जब तक कर्म का उदय है, उनके निमित्त से जो भी भाव हैं वे सब मैथुन हैं। निश्चयतः दो चीज के सम्बंध से होने वाले असर को कहता है मिथुन शब्द। यदि 'मैथुनमब्रह्म' सूत्र से उल्टा सूत्र बनाया जाये तो होगा 'एक ब्रह्म' अर्थात् एक ही चीज हो, एक का ही फल हो और एक का ही कारण हो; वह ब्रह्म है। तो भगवान कैसे हैं ? केवल का जो केलि करते, ये केवल अपने में जो केलि- क्रीडा करते हैं या केवलज्ञान में ही लीन रहते हैं। ज्ञायक ही रहते हैं। ओर हमारा सिद्ध भगवान कैसा है ? (कर्मक्षयसिद्ध और स्वभावसिद्ध दोनों की दृष्टि चल रही है) सत्-सामान्य स्व-लक्षण की दृष्टि से मैं केवल अर्थात् एक हूं और उसी में केलि करने वाला हूं। परपदार्थ वा परभाव में केलि करने का मेरा स्वभाव ही नहीं है। ऐसे हे सिद्ध भगवन् ! प्रसन्न होओ। जैसे—घर का कोई आदमी बुरे रास्ते पर चलता है तो कहते हैं कि प्रसन्न होओ, आदत को छोड़ों। इसी तरह हम अपने से ही कह रहे हैं कि खूब भटक लिया, अनादि से अब तक अनंत उपद्रवों को सह लिया, नरक निगोद संज्ञी असंज्ञी देव मनुष्य आदि की पर्यायें धारण कर-करके छोड़ दी। अब तो प्रसन्न होओ, अपने रास्ते पर आओ।

भवोदधिपारग शान्त विमोह सहजसिद्ध की उपासना—आप कैसे हो भगवन् ? 'भवोदधिपारग' संसार के पार पहुंचने वाले हो । भव कहते उत्पन्न होने को, उत्पत्ति को वही हुआ। उदधि माने समुद्र, सो आप उसके पार पहुंचने वाले हो। कर्मक्षय-भगवान तो जन्म-मरण से रहित हुए इसलिये और यह हमारी आत्मा सामान्य नाते की दृष्टि से, सबके स्वलक्षण से अपना स्वलक्षण अलग रखता, इसलिये यह भी भवोदधि पारग है, जन्ममरणातीत है, अनादि अनंत है। ऐसे हे विशुद्ध भगवन् ! हम पर प्रसन्न होओ। भव, जन्म लेने को कहते हैं। मरण को संसार नहीं कहते । जन्म के बाहर जीवन (भव पर्याय) है इसलिये जन्म संसार है। यही समुद्र हुआ । समुद्र के भीतर का पता नहीं रहता और छोर नहीं रहता। मगरमच्छ होते हैं इसी तरह संसार में बहुत जीवों को पता ही नहीं कि हमें क्या करना है ? आहार, भय, मैथुन और परिग्रह— इन ४ संज्ञाओं में लग रहे हैं, संज्ञा-ज्वर से पीड़ित हैं । समुद्र में जैसे अनेक जलचर होते हैं वैसे इस संसार में अनेक आपदाएं हैं, उपसर्ग लगे हैं। ऐसे संसार से हे भगवन् ! आप पार पहुंच गये । पार पहुँच गये इससे मालूम होता है कि आप पहिले इसी में थे। जब कभी काललब्धि आती है तब विशुद्धि होती है और संसार का नाश होता है। 'जिन' संज्ञा चौथे गुणस्थान से मानी गयी है। इस गुणस्थान से लेकर ऊपर के गुणस्थानों में स्थित सभी जीव 'जिन' हैं । क्षायिक सम्यग्दृष्टि, उपशम सम्यग्दृष्टि और क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि— इनके दर्शनमोह नहीं रहता। आगे मोह का पूर्ण नाश होने से अरहंत जिनेन्द्र कहलाते और फिर पूर्ण सिद्ध होते । जब यह जीव आत्मज्ञान करता है उसी समय उसका संसार कट जाता। संसार कबसे है ? अगर कोई सीमा बनायी जाये तो प्रश्न होता कि पहिले नहीं था। लेकिन पहिले न होकर फिर होना बनता नहीं है। असत् से सत् नहीं होता, और सत् असत् नहीं होता। अतः संसार अनादि से है और जीव भी अनादि से है, इसकी विकृति परम्परा भी अनादि से है । ऐसे अनंत संसार को जिसने छेद दिया वह जिन है। संसार में उसे अधिक से अधिक अर्धपुद्गल परावर्तन भी रहना पड़े तो वह

अनादि अनंत संसार को देखते हुए अति थोड़ा ही है । 'जिन' संज्ञा होने पर चौथे गुणस्थान में ही संसार की जड़ कट जाती है। फिर चाहे कितने ही दिन क्यों न संसार में रहना पड़े ? फिर भी जब तक जन्मधारण करने पड़ते तब तक संसार बना ही है। जब जन्म न लेने का अधिकार हो गया, ऐसे अरहंत भी हो जीवन-मुक्त कहलाते और फिर सिद्ध तो जिन हैं ही । और हे निज आत्मा ! तुम भी भवोदधिपारग हो। जब योग्यता पर दृष्टि देते हैं तो संसार-समुद्र से पार होने लायक हो, सहज पर्याय-स्वभाव पर दृष्टि देने से । और द्रव्यदृष्टि देने पर संसार-समुद्र से पार ही हो केवल स्वभाव पर दृष्टि हो, उसमें विकल्प को ही स्थान नहीं है। और जब उसके अनुरूप विकल्प आता तब उसमें न उत्पत्ति है और न विनाश । इस तरह निज आत्मा भी स्वभाव दृष्टि से भवोदधिपारग है । शांत विमोह ! सिद्ध सदा से शांत ही हैं। उपाधि से जो अशान्ति थी वह द्रव्य में नहीं पर्याय में थी, जब पर्याय भी स्वभाव में आयी तब उपचार से भी अशान्ति हट गई। मिथ्यात्व और क्रोध मान आदि अशान्ति पैदा करने वाले हैं, अथवा जीव में वैभाविक भाव ही है। इन भावों के उदय में जीव के प्रदेशों में चंचलता हो जाती है। ऐसे हे कर्मक्षय-सिद्ध वा सहजसिद्ध शांत-स्वरूप शांत भगवान प्रसन्न होओ।

गाथा ४९

अनन्तसुखामृतसागर धीर, कलंङ्करजोमल-भूरि-समीर।

विखंडितकाम विराम विमोह, प्रसीद विशुद्ध सुसिद्धसमूह।।४९।।

अनंतसुखामृत सहजसिद्ध की अभ्यर्चना—हे सिद्धदेव ! तुम अनंत सुखामृत के सागर हो। कहने में ऐसी रूढ़ि चली आ रही है कि अमृत को पान करके जीव को विशेष सुख का अनुभव होता। इस उक्ति को चरितार्थ करने वाली दो चीजें हैं—१-ज्ञान और २-सुख। जो मरे नहीं उन्हें अमृत कहते हैं। अनंत सुख और अनंत ज्ञान ऐसा ही है । अनंत सुख और अनंत ज्ञान का अविनाभावी है। अनंत ज्ञान के होने पर ही अनंत सुख होगा और अनंत सुख के होने पर ही अनंत ज्ञान होगा, किन्तु इनमें से एक के न रहने पर दूसरा भी नहीं होगा । लोक में भी ऐसा देखा जाता है कि जिसके जिस ढ़ंग का जैसा ज्ञान वैसा सुख । जिसके विकल्परूप ज्ञान है उसके सुख भी विकल्प रूप है और जिसके निर्विकल्प ज्ञान है उसके सुख भी निर्विकल्प है। सुख ज्ञान के अनुरूप चलता । शब्द की अपेक्षा सुख आनन्द को कहते हैं। ख—इन्द्रियों को जो सु—सुहावना लगे सो सुख है। परन्तु भगवान की परिणति इन्द्रियाधीन नहीं और भगवान के इन्द्रियां नहीं, अतः उन्हें सुखी न कह आनन्दरूप कहना ज्यादा अच्छा है। आ-समन्तात सब तरफ से जो नेह समृद्धिशाली हो, उसे आनन्द कहते। भगवान सिद्धदेव अपने प्रदेशों में पूर्ण समृद्धिशाली हैं। जो विकल्पों में घूम रहे हैं वे गरीब हैं और जो निर्विकल्प हैं वे धनी हैं। जो अपने आप में स्वाभाविक रूप से हो वह है— सहज विभूति। ऐसी विभूति भगवान के होती है। उस विभूति के वे सागर होते हैं। यहां भी सागर आया। लेकिन उदधि और सागर में अंतर बहुत है। उदधि तो बखेड़ा की चीज

है और सागर सुखरूप । ऐसा कोई नहीं कहता कि भगवान आप सुख के उदधि हैं, आप सुख के सागर हो ऐसा ही कहा जाता है। भगवान अनंत सुख के सागर हैं।

धीर सहजसिद्ध का अभिनन्दन—प्रभु कैसे हैं ? धीर हैं। जो धी—बुद्धि को रति—देवे सो धीर है। अर्थात् समताभावी धीर को गम्भीर भी कहते हैं। सो क्यों ? समता की अवस्था में ज्ञान ठिकाने से रहता है, इसलिये गम्भीर की अवस्था को धीर कह दिया। निर्विकल्प स्वभावरूप रहने वाले को धीर कहते हैं। तो जो धीर होता वही समता परिणाम वाला होता है। इन दोनों का अविनाभाव है। गंभीर; समता परिणाम वाले का नाम हैं तो समतापरिणाम का नाम धैर्य इसलिये होता कि बुद्धि ठिकाने रहती है। धीर के शब्दार्थ से जब कहते कि जो यर्थाथ ज्ञान को देवे वह धीर है, तो यर्थाथ ज्ञान को कौन देता ? स्वयंसिद्ध आत्मा या निजात्मा अपने से ही अपने को ज्ञान देता, आत्मा का ज्ञान परिणति करना ही उसका देना है। भगवान के प्रसाद से भक्तों को भी बुद्धि मिलती है। इसलिये भी सिद्ध भगवान धीर हैं, यहां कारण व निमित्त की अपेक्षा से ऐसा कहा जा रहा है। और निश्चयनय से अपने आप में ज्ञान देते रहते, स्वच्छ रहते, इसलिये धीर हैं। और हे सहजसिद्ध भगवान् ! तुम भी धीर हों । कैसे ? धीः—बुद्धियां, ज्ञान की परिणतियों को, रति ददासि—प्रकट करते हो, विशेष पर्यायें सामान्य से ही प्रगट होती हैं। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान—ये पांच ज्ञान स्वभाव के प्रगटरूप हैं, व्यक्तियां हैं ये। हे धीर ! आप अपने में ही परिणमन कर रहे हैं। जिसने अपने आप को न देखा वह उलझता रहता और देखे तो अपने आप ही प्रभु है। किंतु इस नाते से इसे दिखा नहीं, और और नातों से देखता रहा। एक ही व्यक्ति फूफा और मामा बनता। फूफा की दृष्टि में सम्मान पाने योग्य और मामा की दृष्टि में सम्मान देने योग्य समझा जाता। इसी तरह द्रव्य की दृष्टि से देखो तो जीव प्रभु है और संसारी पर्याय से देखो तो दीन है। तो जिस स्वभाव से ये शक्तियां व्यक्त होतीं उसे देखो जानो। वर्तमान के आविष्कार करने वालों ने बहुत आविष्कार किये, परपदार्थों की खोज में अपना सर्वस्व होम दिया लेकिन खुद का पता नहीं । देश-विदेश का अच्छा ज्ञान हो लेकिन गांव का नाम कहां से निकला, यह न मालूम हो ऐसी यह बात है । यह संसारी प्राणी भी उन्हीं जैसे अशोधक बालकों के समान हैं, जो बाह्य सब देखता हुआ भी अपने को नहीं देखता । दुनियां भर के पदार्थों की कुशलता देखते और अपनी कुशलता का पता नहीं।

कलंकरजोमलभूरिसमीर सहजसिद्ध का अभिनन्दन—ज्ञान जिसकी परिणतियां हैं ऐसा सामान्य चैतन्यदेव और कैसा है ? 'कलंकरजोमल भूरिसमीर।' कर्मरूपी कलंकरज को आप प्रचंड पवन के समान है । जैसे प्रचंड पवन धूल को उड़ा ले जाती है, उसी तरह आपके विशुद्ध उपयोग ने भी कर्म को दूर कर दिया है। जैसे—धूल हवा से अलग चीज है, मूर्त है किन्तु हवा उससे सूक्ष्म है, बेरोकटोक चलने वाली है, इसी तरह कर्मकलंक धूल की तरह है और विशुद्ध उपयोग हवा की तरह है। धूल चढ़ जाने से असल पर आवरण हो जाता, कर्म से भी स्वभाव पर आवरण होता। रागद्वेष आदि भाव-कर्मकलंक भी आत्मा के स्वभाव में नहीं हैं पर को निमित्त करके

आ जाया करते हैं। जैसे—धूल किसी के घर में ज्यादा देर तक नहीं ठहर पाती, कर्म भी व रागद्वेषादि भावकर्म भी क्षणस्थायी होते हैं। जैसे हवा को रोकना कठिन है उसी तरह ज्ञान की परिणतियों को रोकना भी कठिन है। मोह का बड़ा प्रताप है, उसका थामना बड़ा कठिन है परन्तु जिस विशुद्ध ज्ञान के बल से वह ठहर नहीं सकता उसकी महिमा मूढ़ प्राणी नहीं जानता । कहते हैं कि-''कोटि जन्म तप तपैं ज्ञान बिन कर्म झरैं जे । ज्ञानी के छिन माहिं त्रिगुप्तितैं सहज टरैं ते।।' ज्ञान की महिमा अपार है। हमारी बातचीत में मोह को मजबूत करने वाली पद्धति नहीं चलनी चाहिये। आत्मज्ञान की महिमा बढ़े ऐसी बातें होनी चाहिये। पर कोई रागद्वेष और मोह की बातें करने की बान पकड़े हो तो समझो कि उसका संसार अपार है, दुःख के भारी गड्ढों में ही उसे गिरना है। हमारे समक्ष तो हमेशा अपने स्वभाव की बातों की पुष्टि होनी चाहिये । तो हे भगवन् ! आप विशुद्ध ज्ञानरूपी प्रचंड हवा से कर्मकलंकों उड़ाने वाले हैं।

विखण्डित काम विराम विमोह सहजसिद्धप्रभु का अभिनन्दन—सहजसिद्ध प्रभु आप कैसे हैं ? विखंडित काम विराम, विमोह—जिन्होंने काम का खंडन कर दिया ऐसे हैं आप। ऐसा लोग कहते हैं कि महादेव जी ने काम को भस्म कर दिया। सो कैसे ? ऐसे कि काम को तो भस्म किया जिनेंद्रदेव ने जिसे देख दुनियां उन्हीं को काम को भस्म करने वाले मानने लगे। अभिमन्यु नाटक में जैसे—राजा बहादुर विदूषक की दिखाऊ वीरता प्रसंग है। हे सिद्ध भगवान ! आप सचमुच में विखंडित काम हैं। सच्चे अर्थों में शिव हैं, कल्याणरूप कल्याण कर रहे हैं क्योंकि आपने काम को वश में किया है, खंडित किया है। और विराम कहिये आप आराम विश्राम या शान्तिरूप हैं, सारे परिश्रमों से रहित हैं। राम आत्मा को कहते हैं। जिसमें योगी रमें वह राम, तो किसमें योगीजन रमते हैं ? आत्मा में। ऐसी आत्मा राम कहलाती तो जो विशेषरूप से रम रहा है, सदा के लिये पूर्ण निश्चल है ध्रुव है, हे भगवान ! ऐसा तू है। सो मुझ पर प्रसन्न हो।

गाथा ५०

विकारविवर्जित तर्जितशोक, विबोधसुनेत्रविलोकित-लोक ।

विहार विराव विरङ्ग विमोह, प्रसीद विशुद्ध सुसिद्धसमूह ।।५०।।

विकारविवर्जित तर्जितशोक सहजसिद्ध की उपासना—हे सिद्धसमूह ! आप विकारों से अत्यन्त निवृत्त हो चुके हो । जो चीज अपने आप में है, किन्तु औपाधिक है उसी का त्याग होता है । जो अपने क्षेत्र में नहीं, परक्षेत्र में हो उसका त्याग नहीं होता। मोह आदि विकार ऐसे ही हैं कि वे आत्मा में ही होते हैं, पर हैं उपाधिजन्य। विकारों को बनाने वाला स्वयं आत्मा है और दूर करने वाला भी वही है। विकारों के बनने में द्रव्यकर्म निमित्त होते हैं और उनके हटने में गुरु का उपदेश, जिनवाणी का श्रवण-मनन-पठन-पाठन, जिनबिम्बदर्शन आदि निमित्त होते हैं। लेकिन इन दोनों अवस्थाओं में परिणति करने वाला स्वतंत्र है। कभी ऐसा भी होता है कि कर्म के उदय में भी वह विकार करे या न करे, इसी तरह गुरु-उपदेश आदि से निर्विकार हो

या न हो यह उसकी (आत्मा की) योग्यता या परिणति पर निर्भर है। तो सिद्धों ने अपनी योग्यता से, पुरुषार्थ से विकारों को इस तरह नष्ट कर दिया है कि उनका अस्तित्व कभी न पाया जावेगा। 'तर्जितशोक' और शोक का जिन्होंने तर्जन कर दिया है, मालूम होता है कि भगवान को भी शोक सता रहा था (विकारी अवस्था में) जब विकारों को हटा दिया तो उसकी भी तर्जना हो गई, तर्जना उसी की हो सकती है जिसका अस्तित्व हो। संसारी अवस्था में मोह के कारण शोक-संताप हुआ करते थे, परपदार्थों को अपना या स्वयं अपने रूप मानने के कारण उसमें इष्ट व अनिष्ट कल्पनाएं उठा करती थीं, उन्हीं असत् कल्पनाओं से शोक और संताप होता था, इष्ट पदार्थ का वियोग होने पर अथवा नहीं मिलने पर चित्त में खिन्नता आती थी, जब उसका मूल आधार मोह गया तो वह कल्पना और उस कल्पनाजन्य शोक भी गया जिस मोह की बलवत्ता व गौरव के गीत मूढ़ प्राणी गा-गाकर अपने को कायर बनाये रहते, मोह से तर्जित (धमकाये) होते रहते हैं, ठगाये रहते हैं, पराधीन और आकुल बनाये रहते हैं उस मोह को जब भगा दिया, तिरस्कृत कर दिया तब उसके लिये ये भारी तर्जना (झिड़की/धमकी) थी। चेतन की अनंत शक्ति को परास्त कर देने वाला अनंत शक्तिवान मोह जब आत्मा को उपाधि पैदा करने में अपनी निमित्तता रखता है तो बाह्य दृष्टि वाले उसका गौरवगान क्यों न करेंगे ? लेकिन जिन्हें अपने और अपनी अनंत शक्ति की खबर पड़ गई वे कब तक उससे तिरस्कृत होते रहेंगे ? आखिर मोह को भी एक दिन समूल और सर्वदा के लिये उनसे अपना स्वामित्व हटाना पड़ता है (यह अलंकारिक भाषा में कहा जा रहा है। वास्तव में विभाव व द्रव्यकर्म आत्मा के स्वामी नहीं होते, लेकिन उसकी विभाव परिणति में वे निमित्त पड़ते ही हैं इसलिये उनकी तरफ दृष्टिपात करने से उनका प्रभुत्व मालूम पड़ता है) तो सिद्ध होने वाली आत्माओं ने मोह की हमेशा के लिये तर्जना कर दी है।

विवोधसुनेत्रविलोकितलोक सहजसिद्ध की अभ्यर्चना—'विवोधसुनेत्र विलोकितलोक' हे सिद्धसमूह ! आपने विशेष ज्ञान के द्वारा जो कि उत्तम नेत्ररूप है तीनों लोक को विशेष रूप से देख लिया है। चारों इन्द्रियों की अपेक्षा नेत्र से होने वाले ज्ञान को अधिक स्पष्ट माना जाता, और उसके विषय में ऐसा कहा जाता कि मैने ऐसा प्रत्यक्ष देखा है। यह विशेषता उसमें इसलिये है कि चारों इन्द्रियों से तो अर्थावग्रह तथा व्यंजनावग्रह होता (व्यञ्जनावग्रह माने अस्पष्ट पदार्थ का ज्ञान) किन्तु चक्षुइन्द्रिय से व्यञ्जनावग्रह नहीं होता उसके अर्थावग्रह ही होता है। यद्यपि प्रकाश, पदार्थों की निकटता, नेत्र का निर्दोषपना, अन्य पदार्थों का बीच में आड़े नहीं आना आदि कारणों की पराधीनता रहने से वह नेत्रजज्ञान भी प्रत्यक्ष नहीं हैं, परोक्ष ही है, फिर भी लोकव्यवहार की अपेक्षा उसे सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष कहते ही हैं। इसीलिये ज्ञान को नेत्र की उपमा दी अथवा व्यवहार की अपेक्षा भक्त भगवान के ज्ञान को व्यवहारी जीवों को नेत्रज प्रत्यक्ष की उपमा से उनके प्रत्यक्षज्ञान की प्रतिष्ठा बता रहा है। वस्तुतः उस प्रत्यक्षज्ञान की उपमा के लिये अन्य कोई पदार्थ नहीं है, फिर भी उत्कृष्टता बताने के लिये कुछ भी उपमा तो दी ही जाती है। भगवान का ज्ञान पदार्थों को देख चुका है, देख रहा और देखता रहेगा। द्रव्य का अपने अनुरूप कार्य कभी खत्म नहीं होता । ऐसा नहीं है कि भगवान ने तीनों लोकों के व अलोक का पूर्णतया

त्रिकालवर्ती जान लिया, सो एक बार जान लेने पर बार-बार उसी को क्यों जानते रहेंगे, जानना आत्मा का स्वभाव है, वह कभी खत्म नहीं हो सकता वह खत्म हो तो द्रव्य ही खत्म हो जाये । सर्वज्ञ भगवान पदार्थ को जानते हुए भी निर्विकल्प रहते हैं। जैसे—बालक नजदीक व पास की सब चीजों को जानता हुआ और उनकी निकटता और दूरी को जानता हुआ भी निकट ओर दूर के विकल्प से रहित है। उसी तरह भगवान पदार्थों को वे जिस क्षेत्र में जैसे हैं उस क्षेत्र में उस रूप जानते हैं किंतु यह पदार्थ दूर है, यह पदार्थ इससे पास है ऐसा विकल्प नहीं होता, निर्विकल्परूप से जानते अवश्य हैं। श्रुतज्ञान जैसा विकल्प केवलज्ञान में नहीं है। क्षेत्र के समान काल में भी यही बात है। जिस समय पदार्थ जैसा है वह उस समय ही वैसा ही जाना जाता है, लेकिन उसमें काल का विकल्प नहीं। ज्ञान में ऐसा ही उत्पादव्यय होता है। आज जिसे वर्तमानरूप से जान रहे हैं वह पीछे भूतरूप से जानते हैं ऐसा विकल्प उनके ज्ञान में नहीं होता। ऐसा विकल्प नहीं होता कि यह भूत है, यह भविष्यत है आदि। ज्ञान में तत्काल की पर्याय उस-उस रूप से झलकती अवश्य रहती है। क्षेत्रकृत आंशिक निर्विकल्पता तो हमको भी है। बैठे हुए सबको हम जान रहे हैं लेकिन पास-दूर का विकल्प नहीं, दृष्टि इस ओर नहीं देने से। जो जहां जैसा अवस्थित है उसको वैसा जानकर के भी उसमें दूर-पास आदि का विकल्प नहीं होता। इसी तरह ऊर्ध्वतासामान्य में भी भूत, वर्तमान और भविष्यत का विकल्प भगवान के नहीं होता। इसलिये निर्विकल्पज्ञान को कूटस्थ या जड़वत् कह दिया है। नहीं तो छद्मस्थ हम मलीन ज्ञान का और सिद्धभगवान निर्मलज्ञान का विकल्प करते यह कहलाते । सो नहीं कहलाता। यदि यह तरंगभूत भविष्यत कहलावे, वर्तमान की बात न आवे तो छद्मस्थ का ज्ञान भी निर्विकल्प कहलावे । यद्यपि सूक्ष्मदृष्टि से एक ज्ञान होकर के भी नवीन-नवीन पर्याय होती हैं फिर भी कालक्रम की उसमें तरंग नहीं हैं। यद्यपि ज्ञान जड़वत् नहीं है, फिर भी छुटपुट नवीन ज्ञान में रहने वाले हम लोगों को उस तरह निर्विकल्प ज्ञान का अनुभव बिना निर्विकल्प हुए नहीं मिल सकता, अतः उसे जड़वत् कह देते हैं। जैसे—भगवान को हम जैसा इन्द्रियसुख साधन नहीं होने से या इन्द्रियसुख नहीं होने से भोले प्राणी भगवान को दुःखी कह देते हैं। वे उनके सुख का मिलान अपने सुख से करते हैं। जब विकल्पात्मक ज्ञान में रहने वाले हम उनके ज्ञान की तुलना अपने ज्ञान से करते हैं तो उन्हें जड़वत् कह देते हैं। लेकिन भगवान चैतन्य-आलोक से सदा परिपूर्ण, हमेशा हर पदार्थ को सर्वांश किंतु विकल्परहित होकर जानते रहते हैं। यह भी व्यवहार का कथन है, निश्चय से वे अपने आप को ही जानते हैं। और यह सहजसिद्ध भगवान सदा से केवलज्ञानशक्ति से परिपूर्ण है, इसलिये इसको भी सम्बोधन करके भक्त उसे प्रसन्न होने की भावना को व्यक्त कर रहा है, केवल भगवान अनंत काल तक उन्हीं सब अर्थों को जानते हैं फिर भी नवीन-नवीन ज्ञान होता है।

विहार विराव विरंग विमोह सहजसिद्ध की संचर्चना—भक्त आगे कहता है कि हे विहार ! आप अपने परिणमन में विहार करने वाले हो अथवा हार-हरण या त्याग आदि विकल्पों से रहित हो। स्व विहारी हो । विराव—राव—शब्द से रहित हो। आप शब्दों से नहीं जाने जा सकते। शुद्ध आत्मानुभवन से ही पहिचाने जा

सकते हैं वह अनुभव भी नहीं कहा जा सकता। और हे भगवान ! आप विरंग— रंग आदि की उपाधियों से रहित है। संसार अवस्था में आपने अनंत शरीरों को धारण कर करके अनंत बार असंख्य रंग वाली पर्याय का नाम पाया, फिर भी आप हमेशा उस वर्णादि पुद्गल के गुणरूप कभी नहीं हुए और कर्मक्षय होने पर तो वह वर्णादिरहित अमूर्तरूप आपका प्रगट हो गया। विमोह— हे सिद्धसमूह ! आप मोहरहित हैं—मोह की वैभाविक परिणति उपाधि से कहलाती थी सो वह भी निमूल हो चुकी, उसका निमित्त मोह-द्रव्यकर्म भी सदा के लिये दूर हो गया। ऐसे हे निर्मलस्वरूप भगवान ! हम पर प्रसन्न होओ, हमारी भी वह निर्मलता प्रगट होवे। प्रत्येक छंद के अंत में भक्त अपना ही लक्ष्य दोहराता है कि आप प्रसन्न हो। आप शब्द का प्रयोग व्यवहार में मध्यम पुरुष के लिये होता है लेकिन उसका सही मतलब स्वयं अपने से होता है। वस्तुतः भगवान की पूजा करने वाले का दृष्टि-बिन्दु अपने पर ही जाकर टिकता है। उसका सब व्यवहार और सारी कल्पनाएं निश्चय और निर्विकल्प के लिये होती है। भगवान को जानने वाला अपने को पहिले जान चुका है, अतः वह अब इस दीन दशा में न रह अपने परमपद पर पहुंचने के लिये कटिबद्ध रहता है।

गाथा ५१

रजोमलखेदविमुक्त विगात्र, निरन्तर नित्यसुखामृतपात्र।

सुदर्शनराजित नाथ विमोह, प्रसीद विशुद्ध सुसिद्ध-समूह।।५१।।

रजोमलखेदविमुक्त विगात्र सहजसिद्ध की उपासना—ज्ञानावरण आदि रज वही हुआ मल, अथवा उससे होने वाला जो रागद्वेष आदि मल उससे आप रहित हो गये हैं। अतः उससे उत्पन्न होने वाला जो दु:ख उससे भी आप रहित हो गये हैं । स्वभाव में अनंत सुख होते हुए भी पर्याय में कर्मरज के संग से नाना विकल्प होते थे, जो कि दुःखरूप हैं, सिद्धों ने कर्मों को क्षय करके सारे दु:खों का अंत कर दिया है। विगात्र— हे प्रभो ! आप ज्ञानशरीरी हो, इस पौद्गलिक शरीर से रहित हो। शरीर की मूर्च्छा के कारण आत्मा की प्रभुता प्रगट नहीं हो पाती थी। उनमें रची हुई इन्द्रियों के द्वारा विषय और उनसे होने वाले कषाय और कर्मजाल चलते रहते थे। इस तरह आत्मा की लघुता अनादिकाल से बन रही थी । जब स्वभाव का बोध हुआ तो वह शरीर, विषय-कषाय और ज्ञानावरण आदि कर्मरज सभी नष्ट हुए। कषायों के जाने पर भी शरीर तब तक साथ में था तब तक केवल जीवन-मुक्त थे। सिद्ध नहीं, किंतु उसका संग छूटा कि आप सुसिद्ध के पद में प्रतिष्ठित हुए, ज्ञानमय हुए, ज्ञान-शरीरी बने। यद्यपि वह ज्ञान-शरीरीपन अनादि से था, पर पुद्गल शरीर उसको प्रछन्न किये था जीव की मुग्ध अवस्था में ।

निरन्तरनित्यसुखामृतपात्र सहजसिद्ध का अभिनन्दन—निरन्तरनित्य सुखामृत पात्र—आप सर्वदा नित्य सुखरूपी अमृत के पात्र हैं। संसार के जितने भी सुख हैं वे सुखाभास हैं, सो भी ये निरन्तर नहीं रहते । संसारी प्राणी को सुखाभास भी एकसा कहां रहता है ? कौन सर्वदा सुखी रहता है ? चिंता, शल्य, उद्वेग, निरुत्साह,

भय और तृष्णा सताया ही करती हैं। महा सुखिया कहलाने वाले पुरुषों को भी सुखाभास निरन्तर नहीं रहता। संसार का स्वरूप भी ऐसा ही है। विवाह आदि शुभ और सुख के कहलाने वाले कार्य भी कितनी आकुलता-पूर्ण होते है ? रातों-रात जागकर अति परिश्रम कर दूसरों की आवभगत—आर्जू-मिन्नत कर परेशान हो जाते हैं, मानमर्यादा का भय हमेशा बना रहता, दोनों पक्षों में विसंवाद न हो, आगन्तुक अतिथियों में कोई नाराज न हो जाये आदि अनेकानेक विकल्प चित्त को चैन नहीं लेने देते। इसी तरह अन्य-अन्य सुख के कहे जाने वाले कार्य दुःखपूर्ण हैं। तो ये सुखाभास होकर भी सान्तर हैं, क्षणस्थायी हैं, क्योंकि पराधीन हैं। पराधीन चीज निरन्तर नहीं रहती। स्वाधीन चीज ही निरन्तर रहती है। पराधीनता में परेशानी ही रहती है। परेशानी नाम पड़ा इसलिये कि पर का ईश परेश कहलाया और भाव अर्थ में आनी प्रत्यय हो गया। अर्थात् पर के स्वामीपने को परेशानी कहते। जहां पर का स्वामीपना है वहां आकुलता है, श्रम है, अशान्ति है। अतः उस परके काम में पड़ने को ही परेशानी कह दिया। संसार के सब काम देख लो, ऐसे ही हैं। वस्तुतः सब पदार्थ अपना-अपना मालिक है, पर दूसरा उसका स्वामी बनने की चेष्टा करता तब परेशानी होती। लेकिन भगवान सर्वथा स्वाधीन होने से पूर्ण और शाश्वत सुख के धनी हैं और सब निरन्तर हैं, अन्तररहित हैं, एक सदृश ज्ञानपुञ्ज हैं।

सांसारिक सुख-दुःख को समान मानने वालों की निरन्तर नित्य सुखामृत की पात्रता—संसार में महापुरुष भी जितने हुए हैं वे अनेक कठिनाइयों में से गुजरते रहे हैं। क्या राम, क्या कृष्ण, क्या पांडव और क्या पवनंजय; सभी ने दुर्घटनाओं को झेलकर जो जब कर्मजाल तोड़ने में लगे तभी शाश्वत सुख को पा सके, अन्यथा रुलते रहे। पवनंजय के कुछ रूपों पर विचार करें तो विरक्ति आये बिना नहीं रह सकती। कुमार अवस्था में जब अंजना को पत्नीरूप से मानने लगे तब विवाह होने के पूर्व ही उसे देखने गये। अंजना अनेक सखियों सहित बैठी थी, किसी ने पवनंजय को देख न पाया और उनमें से एक उनका कुछ दोष बताने लगी। अंजना कुछ न बोली। इस पर पवनंजय ने समझा यह मेरे दोषों के कथन सहकर मेरा तिरस्कार कर रही है। अतः तलवार लेकर मारने को उद्यत हो गये। मित्र प्रहस्त के समझाने पर तलवार म्यान में रख ली लेकिन मन में विचार किया की इसे अधिक से अधिक तकलीफ कैसे दे सकता हूं ? विवाह करके इससे सम्पर्क कुछ भी न रख, इसको तरसाऊं तभी मेरा जी शांत हो। ऐसा विचार कर विवाह तो पूरा कर लिया, लेकिन २२ वर्ष गुजर जाने के बाद भी उसके सुख-दुःख की एक बात न पूछी, सूरत न देखी, वह घुलती रही। रावण के युद्ध में जब पवनंजय को जाना पड़ा और रास्ते में चकवा चकवी के वियोग की हालत देखी तब अपनी पत्नी के पति-वियोग का दुःख अनुभव किया। वे तुरन्त ही प्रहस्त के मना करने पर रातों रात अंजना के निवास स्थान पर आये। रातभर प्रच्छन्न ही वापिस चल दिये। अंजना के गर्भ रहा। उसकी सासु ने उसे कुशील का दोष लगा निकाला। वह पिता के घर गई लेकिन वहां भी तिरस्कारपूर्वक गृहप्रवेश से रोक दी गई, तब जंगल में चली गई, पवनंजय जब घर आते हैं और अंजना की यह घटना सुनते हैं तो मूर्छित हो जाते हैं और सचेत होने पर वे भी जंगल में उसे खोजने चल देते हैं। प्रतिज्ञा करते हैं कि अमुक समय तक उसका पता न पड़ने पर अग्नि में प्रवेश

करूंगा। देखा, संसारी दुःख का चक्कर ? मानना पड़ेगा कि लौकिक सुख ही ऐसे है जिनके बीच में दुःख आया ही करते हैं, और वे सुख स्वयं दुःखरूप होते, लेकिन भगवान के आत्मीक सुख ही सुख है जो कि रहता भी निरन्तर है। ऐसे सुख के हे प्रभो ! आप ही पात्र हैं । यह सहजसिद्ध भगवान भी ऐसे सुख का पात्र है । यदि अपनी कुटेव छोड़ दे तो वह स्थिति आ सकती है जो कि सिद्धों की है।

सुदर्शनराजित नाथ विमोह सहजसिद्ध की उपासना—सुदर्शनराजित— और हे भगवान ! आप सुदर्शनराजित हैं, सम्यग्दर्शन के श्रद्धान से अलंकृत हैं। भगवान के ऐसा सम्यक्त्व है, जिसका नाम वस्तुतः नहीं कह सकते। क्षायिक सम्यक्त्व नाम तो औपाधिक नाम है। हे नाथ ! आप विमोह हैं—मोह से सर्वथा रहित हैं। मोह जीव को बहुत रुलाता है उसी का अस्तित्व मेटना सब सुखों का मूलाधार है। मोह के नाश होने पर ही परमपद प्रगट होता है। अतः जब उस पर दृष्टि जाती तब भक्त; भगवान और अपने में मिलान करता और कहता— आप तो मोह से सर्वथा रहित हैं। मेरा स्वभाव भी ऐसा ही है, मैं पर्याय में मलिन हो रहा हूं। हे सिद्धों के समूह विशुद्ध आत्मन् ! मुझ पर प्रसन्न होओ, मेरी भी प्रसन्नता अर्थात् निर्मलता प्रगट हो । ऐसे गुणानुवाद से मोक्ष का मार्ग दृढ़ होता है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

गाथा ५२

नरामरवंदित निर्मलभाव अनंत मुनीश्वर-पूज्य-विहाव।

सदोदय विश्व महेश विमोह, प्रसीद विशुद्ध सुसिद्धसमूह।।५२।।

नरामरवंदित सहजसिद्ध की उपासना—हे विशुद्ध सुसिद्ध समूह ! प्रसन्न होओ। आप कैसे हैं ? मनुष्य और देवों से वन्दनीक हैं। 'नृ' धातु से जो कि ले जाने अर्थ में आती है 'नर' शब्द बना है। कहां ले जाये—यह अर्थ लगाना हमारी मरजी पर है। धर्म के प्रकरण में, संसार के दुःखों से छुड़ाकर जो मोक्ष में ले जाये उसे नर कहते हैं। लोक में भी हर चीज को ले जाने वाला प्रायः मनुष्य ही है। मोटरगाड़ी आदि को ले जाने वाला मनुष्य ही है और वस्तुतः अपने को संसार अथवा मोक्षपर्याय में भी ले जाने वाला मनुष्य अवस्था वाला आत्मा ही है । इस अर्थ वाले नर शब्द से मनुष्य की उत्कृष्टता प्रगट होती है। देव भी उत्कृष्ट हैं। कई लौकिक मनुष्य देवों की आराधना करते हैं तथा ऋद्धि और ऐहिक भोगविलासों की प्रचुरता के कारण देव भी उत्कृष्ट होता है । ऐसे उत्कृष्ट नर और अमर द्वारा वन्दनीक होने से आप उत्कृष्टों में उत्कृष्ट हैं। वैसे तो सारे जीव अमर हैं पर भगवान ही सर्वथा अमर हैं, जो कभी भी मुक्त से संसारी नहीं बन सकते। फिर भी संसार में जिसकी अपमृत्यु नहीं होती है वही अमर है, ऐसे जीव देव हैं। प्रश्न हो सकता है कि भोगभूमिया भी नहीं मरते तो उत्तर यह है कि सब मनुष्य अपमृत्यु रहित नहीं है, कर्मभूमिया के अपमृत्यु होती है, अतः मनुष्य के लिये अमर शब्द रूढ़ नहीं हैं। यदि कहो कि नारकी भी अपमृत्यु वाले नहीं हैं वे अमर क्यों नहीं ? तो इसलिये नहीं कि वे अमर नहीं होना चाहते। जो अमर नहीं होना चाहते उन्हें अमर कहा जाये तो शोभा नहीं देता। अतः देवों के ही अमर

शब्द लागू है। ऐसे नर और अमर से सिद्धदेव वन्दनीक है। मनुष्य और देवों में भी सम्यग्दृष्टि, देव और मनुष्य सिद्ध भगवान की आराधना ठीक कर सकते हैं क्योंकि वे ही सिद्ध भगवान को जान सकते है, अनुभव में ला सकते हैं, उनकी प्रतिष्ठा समझ सकते हैं। बहुत से भाई मंदिर में भगवान के दर्शन कर जाते लेकिन भगवान और दर्शन क्या चीज हैं, जीवनभर यह नहीं समझ पाते ? क्योंकि उन्होने अपने आपको समझा नहीं। यही कारण है कि निर्मलता नहीं आती और क्रोध, माया, मान और कलह आदि में प्रवृत्त होते रहते, तो सिद्ध की आराधना वही कर सकते जो सम्यग्दृष्टि हों। जिसके चैतन्य की अनुभूति हो गई वही पूजा-वन्दना कर सकते हैं । सच पूछो तो जिसका आत्मा पर अधिकार है, वही भगवान को जानता। भगवान को जानने से अपना जानना होता, पर अपने को जानने से भगवान वस्तुतः जाना जाता। देवदर्शन करने से जो सम्यग्दर्शन बताया वह इस तरह कि जिनेन्द्र भगवान व उनकी मूर्ति का दर्शनरूप निमित्त पाकर आत्मा में स्वरूप की प्राप्ति होती है, आत्मबोध होता है, इसके पीछे ही वह भगवान का अनुभव कर सकता है। पहिले भगवान का अनुभव होकर पीछे सम्यग्दर्शन आत्मानुभव होता हो, यह बात नहीं है। जिन अथवा जिनबिम्बदर्शन से आत्मानुभव के योग्य निर्मलता अवश्य आती है। भगवान को जानने से स्वरूप की दृढ़ता होती है। तो वे वंदना-पूजा करने वाले नर और अमर चैतन्य-अनुभूति वाले होते हैं।

निर्मलभाव सहजसिद्धि का अभिनन्दन—मर्त्य-अमर्त्य द्वारा वन्दनीक प्रभु आप कैसे हैं ? निर्मल भाव—रागादि मल से रहित परिणाम वाले हैं। पहिले अपने निर्मल स्वभाव को जाने तो वे प्रतिष्ठा पाते हैं, नहीं तो नहीं। किसी राजा ने दो चित्रकारों को चित्र बनाने की आज्ञा दी और सर्वोत्तम चित्र के उपलक्ष में उचित पुरस्कार घोषित किया। एक कमरे की आमने-सामने की दीवारों पर दोनों चित्रकारों ने अपना-अपना चित्र बनाना प्रारम्भ कर दिया। दोनों के बीच परदा डाल दिया गया ताकि एक-दूसरे के चित्र को न देखे। एक चित्रकार सुन्दर रंगों के द्वारा अपनी कला को काम में ले रहा था और दूसरा केवल दीवाल को घोंट-घोंटकर चिकना करने में तन्मय था। जब अवधि पूर्ण हुई तो राजा दोनों कलाकारों की कला देखने आया । पहिले उसने रंग वाला चित्र देखा तो प्रसन्न हुआ और जब दूसरी दीवाल पर परदा हटाकर चित्र देखा तो और भी अधिक प्रसन्नता हुई, क्योंकि उस दीवाल पर सामने की दीवाल का प्रतिबिम्ब पड़कर कला का सुन्दरतम रूप दृष्टिगोचर होता था। ठीक उसी तरह जिस भक्त का हृदय जितना निर्मल होता है उसके हृदय में उतनी ही प्रतिष्ठा भगवान की होती है। अतः भगवान की भक्ति के लिये भी सम्यग्दर्शन चाहिये। प्रयत्न तो सारा सम्यग्दर्शन का हो, चारित्र तो आये बिना रहेगा नहीं। भैया ! जो न निर्मल और न समल, ऐसे अमल निज चैतन्य की दृष्टि से सम्यग्दर्शन होता है। हे सिद्धसमूह ! आपकी यही प्रक्रिया हुई थी । रत्नत्रय धारण करने से आप अविनाशी बने, ऐसे हे देव ! प्रसन्न होओ।

अनन्तमुनीश्वरपूज्य विहाव सहजसिद्ध की उपासना—अनंत मुनीश्वर-पूज्य ! हे प्रभो ! आप अनंत मुनीश्वरों द्वारा पूज्य हैं। यहां प्रश्न होता है कि ३ कम नौ करोड़ मुनि जिसमें स्नातक निर्ग्रन्थ अरहंत भी शामिल हैं, होते हैं तो अनंत मुनीश्वरों द्वारा वन्दनीय कैसे कह दिया ? तो उत्तर है कि जितने भूतकाल में हो चुके, वर्तमान में हैं और आगे होंगे वे सब मिलाकर अनंत होंगे, उनके द्वारा वन्दनीक हैं। जितने भी सिद्ध हुए हैं या होवेंगे वे सब पहिले मुनि अवस्था में आये थे और सिद्धों की आराधना की थी तब सिद्ध हुए और आगे के लिये भी यही बात है। और स्वरूप-परिणमन के भाव से देखो तो स्वयं-स्वयं के द्वारा पूज्य है। वस्तुतः किसी में किसी के पूजने की ताकत नहीं है। मुनि ज्ञानवान को कहते हैं। 'मनु' धातु से अवबोधन अर्थ में मुनी शब्द बना है। जो मनन कर रहे हैं, स्वरूपाचरणचारित्र में हैं ऐसे अनंत मुनियों के द्वारा चैतन्य देव की आराधना होती है। जिसका अन्त नहीं उसका आदि भी नहीं होता । प्राणी के संसार का अन्त हो जाता लेकिन उसका आदि नहीं ऐसा कहा जाता है, लेकिन संसार कोई ध्रुव चीज नहीं है, वह पर्याय है। पर्याय क्षणिक है और जो क्षणिक है वह सादिसांत है । संसार तो परंपरा-अनादि है, चैतन्य का अंत नहीं, तो आदि भी नहीं और बीच भी क्या ? तो आदि, मध्य, अंत तीनों से रहित (उपलक्षण से) ऐसे मुनि भाव हैं । मुनिभाव कहो या चैतन्यभाव, अनंत कहलाया और उस अनंत चैतन्यभाव का आधार आत्मा है, उससे हे भगवान ! आप पूज्य हैं। गुणानुराग को पूजा कहते हैं और किसी वस्तु का नाम पूजा नहीं। जल चंदन आदि द्रव्य उठाने-धरने को ही पूजा नहीं कहते, किन्तु उस क्रिया के साथ पूजा के भाव हो सकते हैं अतः उस बाह्य प्रवृत्ति को भी पूजा कह देते हैं। तो आप अनंत मुनीश्वरों के द्वारा पूज्य हो अर्थात् इस ही आत्मा के द्वारा यही आत्मा पूजा का विषय है और हे चैतन्यदेव ! अनंत मुनीश्वर आप में अनुराग करते हैं अतः उनसे पूज्य हैं । तथा आप 'विहाव' सम्पूर्ण आकुलताओं से रहित हैं। वे आकुलता आप के स्वभाव में थीं ही नहीं, उपाधि से जो होती है वे परकृत हैं, उनका भी अभाव कर्मक्षय-सिद्ध में हो जाता है और यह सहजसिद्ध आत्मा स्वभाव से विहाव ही है।

सदोदय सहजसिद्ध की उपासना—सदोदय— हे भगवन् ! आप सदा उदितरूप हो, कर्मक्षयसिद्ध भगवान पर्याय से भी सदा उदितरूप हैं। देखो—इस चैतन्यतत्त्व के बारे में अनेक तत्त्व दार्शनिकों ने माने हैं। कोई कहता है कि सारे संसार का मूल एक, व्यापी, सदाशिव और अमूर्त ब्रह्म है। यह कहना चैतन्य की कला को कितना प्रगट करता है ? यदि सृष्टि-कर्तृत्व का विरोध न करके दृष्टि-अपेक्षा से उसका हम समर्थन करना चाहें तो भी कर सकते। उक्त चारों बातें आत्मा पर घटाओ । सदाशिव भगवान को जो एक मानते, उस एकपने पर ख्याल करें तो अपनी आत्मा एक ही है जिसकी देव, नारकी आदि पर्यायें चलती रहतीं। जिसकी पर्यायें चलती हैं उसे यथार्थतया देखें, परिणमन के सम्पर्क से देखें तो न देख सकेंगे, उसे तो पर्याय को गौण कर सामान्य दृष्टि से देखें तो अनुभव में आ सकता है, ऐसा अनुभव में आने वाला जब पर्याय से नहीं दिखता, स्वभाव से दिखता तो मिल गया सदाशिव। अन्यत्र नहीं, खुद में खुद है वह । और उस सामान्य एक में हमारा और आपका आत्मा, भिन्न विकल्प हुआ होता यह तरंग जब व्यक्ति पर नज़र होतीं और व्यक्ति की नज़र माने पर्याय की

नजर कहलायी और पर्याय-दृष्टि को करना नहीं चाहते, तो अपना और पर का सदाशिव ऐसी कल्पना नहीं होती। अवान्तरसत्ता का नहीं उसमें महासत्ता का अनुभव होगा। अतः उसको सामान्य सत्ता से समझाने के लिये एक कहेंगे कि वह सदाशिव एक है। यह एक सामान्य सत् की दृष्टि का एक रूप है। आगे अपनी सृष्टि का कर्ता स्वयं आप हैं, इसको रूपी और अरूपी में से देखें तो अरूपी ही है। आत्मा शरीराकार है क्या ? नहीं, शरीर पुद्गल का आकार है आत्मा का नहीं, उपचार से भले ही शरीराकार कहो। भगवानसिद्ध को अन्तिम शरीराकार से समझेंगे तो समझमें न आवेगा, सिद्धत्व को समझने के लिये दृष्टि को गंभीर बनानी होगी, अमूर्त या अरूपी आत्मा को उसी ज्ञानस्वभाव के रूप से परखना होगा जो ध्रुव एक है। ऐसे गुण वाला आत्मा रहता कहां हैं ? जब सत् सामान्य में जीव समुदाय को एकरूप से देखा तो यहां भी एक जीव का विचार न कर सब जीवों के ख्याल से देखना चाहिये, तब सारे संसार में जीव ठसाठस भरे हुए हैं, अतः चैतन्य भगवान सर्वव्यापक भी है। ऐसा प्रभु सहजसिद्ध है। वह तथा कर्मक्षय-सिद्ध हम पर प्रसन्न हों। वस्तुतः प्रसन्न निज सहजसिद्ध भगवान ही हो सकता है।

विश्वमहेश सहजसिद्ध प्रभु की अभ्यर्चना—हे प्रभो ! आप विश्वमहेश हैं। जिसको सर्व जीव पूजे और वह स्वयं पुजें वे हुए विश्वमहेश, ऐसे हे देव ! प्रसन्न होओ। संसार में अनेक तरह-तरह से ईश्वर की कल्पना करते हैं लेकिन आप तो अपने ही रूप हो। लोगों के चित्त में वे ईश्वर केवल मान्यता या कल्पना के ही ईश्वर होते हैं वस्तुतः चैतन्य तो शुद्ध-बुद्ध जैसा है सो है। वह अपने गुणों से, विश्वतः— सब तरफ से प्रदेश-प्रदेश में महान गुणों के प्रभुत्व से व्याप्त है। अतः वह विश्वमहेश है। अपना सहजसिद्ध भगवान भी ऐसा है। वस्तुतः पर ईश्वर की कल्पना और मान्यता में सारा संसार डूब रहा है, भ्रमण कर रहा है, दुःखी हो रहा है, यदि वह अपने प्रभु को, जो प्रभुत्व से परिपूर्ण है, देखे तो उसका रोना मिट जाये, उसका ईश्वर प्रगट होकर सदा के लिये शुद्ध चैतन्यरूप परिणमन करने लगे, कभी भी उसमें विकार पैदा न हो। पर ईश्वर है तो अवश्य किंतु वह तो अपने ही ज्ञानानन्दरूप में लीन है। वे तो हमारे भगवत्त्व के स्मरण कराने के लिये संकेतस्वरूप हैं, अतश्च व्यवहार में ध्येय हैं।

गाथा ५३

विदंभ वितृष्ण विदोष विनिद्र परात्पर शंकर-सार वितन्द्र।

विकोप विरूप विशंक विमोह, प्रसीद विशुद्ध सुसिद्धसमूह।।५३।।

विदंभ सहजसिद्ध का अभिनन्दन—हे सिद्धसमूह ! आप विदंभ—कपटरहित हैं। जहां आत्मा ही ठगाया जाता है वह है दंभ, कपट से दूसरा नहीं स्वयं ठगाया जाता है। लोक में भी देख लो, कपटी ही ठगाये जाते,

सरल नहीं । कपटी ही अन्ततोगत्वा क्लेश में रहते हैं क्योंकि कपट से उनकी आत्मा पतित होती रहती, कर्मबंध पापरूप किया करती तब वर्तमान और भविष्य आकुलतापूर्ण बन जाता। लेकिन जो अपने आपके स्वरूप में रम रहे हैं वे हैं विदंभ, माया से सर्वथा रहित। तरक्की वही करता है, जो अपना काम करता चला जाये, विरोध या विरोधी पर दृष्टिपात न करे । जिसको अपने स्थान पर जल्दी पहुंचना होता है वह द्रुत गति से उस ओर बढ़ता है, बीच में रुकता नहीं, और न किसी की बातों में समय खर्च करता है। तब वह शीघ्र ही अपने इष्ट स्थान पर पहुंच जाता। स्वरूप की ओर जाने वाले भी अपनी ही ओर चले जाते हैं पर की तरफ लक्ष्य नहीं करते। इस तरह आप अपने निश्चय और निश्चल मंजिल पर पहुंच चुके हैं । दंभ से अंत में तिरस्कार और दुःख होता । उसका एक उदाहरण इस प्रकार है—एक स्त्री अपने पति से हमेशा कपट का व्यवहार किया करती थी, एक दिन पति को नीचा दिखाने के लिये वह पेटदर्द का बहाना लेकर लेट गयी और रोने-चीखने लगी। पति घबराया, पत्नी ने कहा— छुटपन में भी ऐसा दर्द हो जाता था सो हमारा जो सबसे प्यारा होता था वह अपने सब बाल मुंडा लेता तो दर्द शांत हो जाता। तब उसने शीघ्र ही अपने दाढ़ी व मूँछ के बाल मुंडवा दिये, स्त्री चंगी का रूप ले उठ बैठी, और दूसरे दिन आटा पीसते समय गाती है- अपनी टेक रखाई पति की मूँछ मुंडाई। पति उसकी चालबाजी समझ गया। अब उससे न रहा गया और स्त्री को नीचा दिखाने के लिये एक ढोंग रचा कि अपनी ससुराल वालों को एक चिठ्ठी भेजी, उसमें लिख दिया कि सवेरा होते-होते आप सब घर के व्यक्ति अपना-अपना सिर-मूछ वगैरह मुंडाकर आओ तो आपकी लड़की (ससुर के प्रति लिखता है) की जान बच सकती है अन्यथा दिन निकलने पर वह मर जायेगी, ऐसा ही रोग है, देवता ने ऐसा ही बताया है। चिठ्ठी पाते ही स्त्री के माता-पिता और भाई वगैरह सबों ने अपने-अपने केश मुंडवाने शुरू किये और रातों-रात दामाद के घर चल दिये। सवेरा होने को ही था, पति ने देख लिया कि ससुराल की मुंडन-पल्टन आ रही है, उसी समय जबकि स्त्री चक्की पीसते समय वही गीत दुहरा रही थी कि पति की मूंछ मुंडाई अपनी टेक रखाई। तब पति तुरन्त ही छन्द पूर्ति करता है कि पीछे देख लुगाई मुंडन की पल्टन आई। स्त्री जब पीछे देखती है तो सचमुच मां, बाप और भाई वगैरह पीहर के सब व्यक्ति मूंड मुंडाकर भागे आ रहे हैं, इससे उसको अत्यधिक तिरस्कृत और दुःखी होना पड़ा। दंभ का फल दुःख ही है । जो जितना सुखी है वह उतना ही निष्कपट है, अथवा जो जितना निष्कपट है वह उतना ही सुखी है। तो भगवान पूर्ण सुखी हैं अतः पूर्ण निश्छल होने ही चाहिये। उनकी आत्मा सर्वतः चैतन्यप्रकाश से सदा प्रकाशमान एकरूप रहती है। देखो, दंभ अन्त तक निभता, नहीं रोके भी अटक जाते हैं। अपने कार्य में वह सफल नहीं हो पाता। पर वस्तु का उपयोग करना यह बड़ा दंभ है। अपने ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव में न ठहर कर, सेवा करूंगा और भक्ति आदि रूप में कुछ करना सो कपट ही है क्योंकि आत्मस्वरूप और भांति और कर्ता कुछ और भांति । दुकान, धन और परिवार आदि तो क्या, व्रत, संयम और उपवास आदि भी जो आत्मा के स्वभाव नहीं हैं उसमें रुचि करना सहजभाव के प्रति दंभ है। सो इससे आत्मा स्वरूपस्थ नहीं होती है। हे भगवन् ! आप इससे रहित हैं और मैं भी स्वभाव में सर्वथा दंभरहित हूं। जो

जानबूझकर और बाहिरी लाग-लपेटकर कपट कर रहा है, अपना स्वरूप छुपा रहा है, अपने को पररूप प्रगट कर रहा है, यह अपने अज्ञान का फल है। सोचता जरूर वह यह है कि मैंने तो चतुराई की, किंतु की अज्ञानता।

वितृष्ण सहजसिद्ध का अभिवन्दन—वितृष्ण ! हे भगवन् ! आप तृष्णारहित हैं। लोभ कषाय जब प्रगट होती है तब वह बाह्य वस्तु के आश्रय को लेकर ही होती है। कहा जाये कि बाह्य पदार्थ का ध्यान न करो और लोभ करो सो नहीं बनता । वह तृष्णा तभी प्रगट होती जब बाह्य पदार्थ को विषय किया जाता। भगवान् ! आप सम्पूर्ण पदार्थों के ज्ञाता हैं फिर भी आप में राग नहीं है, लोभ नहीं है । सामान्यतया ज्ञान में विशुद्ध ज्ञान-स्वभाव आता। निज आत्मतत्त्व के सिवाय किसी में राग या रुचि करना तृष्णा ही है। आत्मा के सिवा चाहे वह शरीर हो, कषाय हो या अल्पज्ञान (स्वभाव-ज्ञान नहीं) हो, उन सब में रुचि करना तृष्णा है। परमाणु-मात्र भी जिसे राग आवे वह तृष्णालु और मिथ्यादृष्टि भी है। कोई कहे कि हमें एक ही चीज में ममत्व है और किसी में नहीं तो उतने दरजे का सम्यग्दर्शन हो जायेगा सो ऐसी बात नहीं है। उसकी तृष्णा व मिथ्यात्व की तीव्रता का ही यह रूप है कि उस एक (चाहे वह पुत्र हो, स्त्री हो, पति हो अथवा पिता हो) पर ही ममता अटक गई है। उस एक पर इतनी तीव्र ममता है कि अन्य सबको ओझल कर दिया है। एक की भी आसक्ति से ज्ञान सुलझता नहीं। देख लो- घर के कुछ व्यक्तियों में स्नेह कम होने पर बाहिर में उतना ही स्नेह अधिक लोगों पर हो जाता, संसार के उतने ही अधिक प्राणियों से प्रेम करने लगता या कर सकता। ऐसी हालत में मंद राग भी हो जाता। यह बात सर्वथा एकांत नहीं है, हो सकता है कि कारणवश और सबसे मोह तोड़कर भी एक से प्रेम बना रहना पड़ता हो । और हो सकता है कि घर से बाहिर दुनियां के बहुत से लोगों से स्नेह करके राग को तीव्र बनाया जा रहा हो। आपेक्षिक दृष्टिकोण हर स्थान में यथोचित लागू करना चाहिये। हे प्रभु ! आप में विभाव-भाव सर्वथा नहीं है। अतः सब प्रकार से वितृष्ण है और हे सहजसिद्ध ! तुम भी वितृष्ण स्वभाव हो। स्वभाव में विभाव कषाय नहीं होती।

विदोष व विनिद्र सहजसिद्ध की उपासना—हे भगवान् ! आप निर्दोष याने दोषरहित हैं। स्वभाव का स्वलक्ष निर्दोष है। तो स्वभाव से देखें तो विदोष ही हैं हम सबकी आत्माएं। वह तो एक स्वच्छ ज्ञायक वस्तु है, इसकी प्रसन्नता में हित है। भगवान् के औपाधिक शरीर आदि नहीं होते। 'जन्म जरा तिरखा क्षुधा विस्मय आरत खेद। रोग शोक मद मोह भय निद्रा चिंता स्वेद।। 'रागद्वेष, अरु मरण' मोहजनित सारे दोष अरहंत भगवान में भी नहीं होते। भगवान के मरण भी नहीं, उनके आयु का अंत मरण नहीं कहलाता, निर्वाण कहलाता है । उन्हें शीत आदि की बाधा नहीं, भूख प्यास की बाधा नहीं। यदि ये बाधाएं उनमें हों तो वे पूर्णज्ञानी और वीतरागी भी नहीं रह सकते। वे किसी के द्वारा स्पर्श भी नहीं किये जा सकते। विहार भी अकेला होता है, ५ हजार धनुष ऊपर उनकी स्थिति होती है। उन्हें किसी तरह का उपद्रव नहीं हो सकता, उस अरहंत अवस्था का ऐसा ही

प्रभाव है। वे स्वरूप में लीन रहते हैं ध्वनि भी निकलती है तो हम साधारण पुरुषों से विचित्र, बिना इच्छा के तीर्थंकर प्रकृति के उदय से और भव्यों के कल्याण भावना की प्रेरणा से स्वयमेव निरक्षरी ध्वनि खिरती है। उनके रोग आदि का दोष भी नहीं है, क्योंकि शरीर परम औदारिक है, पवित्र और प्रकाशमान परमाणुओं से अरहंत का शरीर बना होता है। सामान्यकेवलीरूप जो अरहंत होते हैं, छद्मस्थ अवस्था में शरीर कुरूप और रोगी भी रहा हो, वृद्ध और बालरूप रहा हो पर केवलज्ञान हो जाने पर उसमें ऐसा अपूर्व परिवर्तन हो जाता है कि अतिसुन्दर प्रकाशमान रोग-वृद्धादि दशारहित, परम सौम्य होता है, केवल नौकर्म वर्गणाओं से शरीर की पुष्टि होती है, हम जैसा आहार उनके शरीर को आवश्यक नहीं रहता, किसी भी प्रकार दोष उनके नहीं हैं तथा देह-दोषाभाव के कारण आप विनिद्र हो, हे प्रभो ! आप निद्रा से रहित हैं। शरीर नहीं तो निद्रा क्या होगी ? अरहंत भगवान के भी निद्रा नहीं आती, क्योंकि निद्रा पैदा करने वाला कर्म उनके नहीं रहा। देवों के भी निद्रा के उदय होते भी उन्हें नींद नहीं आती, आंखों की पलकें नहीं झपकती, फिर केवली का तो कुछ आश्चर्य ही नहीं और असली निद्रा तो मोह की है, जिसमें अनेक आपत्तियां हैं, क्लेश हैं, यह हमारी आत्मा भी स्वभावतः विनिद्र है, शरीर व कर्मों की दशाओं से व कर्म के निमित्त होने वाले विकारी भावों से रहित है।

परात्पर सहजसिद्ध की उपासना—परात्पर ! उत्कृष्ट से भी उत्कृष्ट हैं आप। उत्कृष्ट के विकल्पों से भी रहित हैं । जिन-जिन तत्त्वों पर विकल्प -दृष्टि होती वह-वह सब पर हैं, शरीर पर दृष्टि गई तो वह पर हो गया, कषाय पर दृष्टि गई तो वह पर हो गया। केवलज्ञान पर दृष्टि गई तो वह भी पर हो गया, दृष्टि भी पर है, चैतन्य के स्वलक्षण से न्यारा होने से। भगवान पर दृष्टि गई तो वह भी पर हुआ। मैं सत्तावान चैतन्यद्रव्य हूँ आदि दृष्टि से जिसे जाना वह भी पर है, मैं ज्ञानवान हूँ इस दृष्टि से जो निरखा गया वह भी पर है और ज्ञान दूसरे को नहीं निरखता, अपने को ही देखता है। अपना परिणमन अपने को देखता। ज्ञेयाकार ज्ञान में जो पड़ता वह भी पर है। जहां दृष्टि और दृष्टा एक हों वह मैं एक चैतन्यस्वभाव हूं। मैं एक असाधारण चैतन्य स्वभाव रखता हूँ, उसके विषय में जो तरंगें हैं वह मैं नहीं हूँ, जिसकी तरंगें उठती हैं उसे दृष्टि में लाये परन्तु किसी दृष्टि से उसमें जो आकार बनेगा, वह सब पर है। जहां ध्यान, ध्याता और ध्येय का विकल्प रहे और उससे निज भी समझा जाये तो वह भी पर है। उससे रहित एक मैं हूं। ऐसे परात्पर भगवान प्रसन्न हों, पर्याय निर्मल हो।

शंकर सहजसिद्ध की अभ्यर्चना—शंकर—शं-सुखं करोतीति शंकरः। भगवान अनंत सुखमय हैं और उनका ध्यान कर प्राणी भी अनंत सुख को प्राप्त होता है इस दृष्टि से वे शंकर हैं। अरहंत और सिद्ध परमात्मा अनंत सुख से परिपूर्ण हैं, और द्रव्य से हमारी आत्मा भी। निश्चयतः आपके शंकर आप हैं । और भगवान, शंकर कब बने ? जब इनके सर से गंगा बह निकली। चेतन का सिर ज्ञानगुण है, उससे प्रवाहशील ज्ञप्ति-ज्ञान परिणति गंगा है। वह निर्मलरूप से प्रवाहित होती रहती है, थमती नहीं। भगवान् ! के भी केवलज्ञान की परिणति होने

पर वह रुकता नहीं है, प्रतिक्षण एकसा बेरोक-टोक बहता रहता है, अतः ज्ञान-गंगा को प्रवाहित करने वाले भगवान वीतराग सिद्धदेव शंकर हैं। जब इस आत्मा से केवलज्ञानगंगा बह जाये तब यह शंकर है, जब तक केवलज्ञान न हो तब तक दुःखकर है। और यह सहजसिद्ध भगवान भी शंकर हैं। जब कभी भी शं (सुख) होगा तो इसी से होगा। आखिर सुख की खदान तो यही है। वह शंकर जो स्थिर रहता है और ज्ञानगंगा बहती रहती है । वह अनादि अनंत अहेतुक सहजसिद्ध भगवान हमारा-हमारा आत्मा ही है। मेरा शंकर मैं ही है। सुख के खातिर दूसरे में शंकर की कल्पना क्यों करता ?

सार सहजसिद्ध की उपासना—सार— सरति, गच्छति, उत्कृष्टत्वमिति सारः। अनेकों ने इसी ही चैतन्य के विषय में नाना कल्पनाएं करके इसे उत्कृष्ट तत्त्व माना है। ब्रह्माद्वैत, चित्राद्वैत, ज्ञानाद्वैत आदि कहकर एक चैतन्य की ही स्तुति की है। उन्हें स्याद्वाद का सहारा न मिल सका और उनका ज्ञान एकांगी रहा, यह दूसरी बात है। जिसको हम पर्याय-दृष्टि से दूर होकर जगत के सब पदार्थों का मूल पहिचान सकते हैं इसके ही विषय में लोगों ने नाना कल्पनाएं की हैं। वह भगवान निर्विकल्पज्ञान से देखा जा सकता है,सविकल्पज्ञान से नहीं देखा जा सकता। ऐसे भगवान प्रसन्न होओ। देखो भैया ! जैन-सिद्धान्त व्यक्ति को नहीं मानता, माना है तो एक ब्रह्माद्वैत को देखने के लिये माना है। जैन-सिद्धान्त तो यही कहता है कि जो रागद्वेष की धारा से रहित चैतन्य तत्त्व है वह हमारा आराध्य है। ऐसा गुण जिसमें भी पाया जाये, चाहे वो ऋषभ हो, महावीर हो या और कोई नाम वाला हो, राम हो, हनुमान हो, विष्णु नाम वाला हो, शंकर नाम वाला हो। नाम में विवाद नहीं है। किन्तु पुराणों में जिनका चरित्र ऐसा मिलता है उन्हें ही आराध्य मानते हैं। जिनका चरित्र ऐसा नहीं उन्हें आराध्य नहीं मानते। ऐसे हम और आप सभी आराध्य बन सकते हैं। मनुष्यभव पाया है तो हमें अपना वैभव पाने की चेष्टा करनी चाहिये। सारा उपयोग पर में लगाकर जीवन बर्बाद न करना चाहिये। निज चैतन्यदेव ही सार वस्तु है।

वितन्द्र सहजसिद्ध की उपासना—वितन्द्र ! हे प्रभो ! आप तन्द्रा-रहित हो, जो प्रमाद में नहीं, कषाय में नहीं, वह वितन्द्र होता है। जो सतन्द्र है वह स्वरूप की सावधानी नहीं कर सकता। मोह की तन्द्रा बड़ी भारी है। एक बड़ा पहलवान जो हजारों को पछाड़ता हो, एक बड़ा व्यापारी जो करोड़ों का व्यापार चलाता हो, एक बड़ा कलाकार जो अनोखी रचनाएं करता हो; ये सब तन्द्रा वाले हैं क्योंकि स्वरूप की उन्हें खबर नहीं है। यत्न उसमें न करें तो क्या करें ? वे जीव आलसी हैं जो स्वरूप की सावधानी नहीं कर सकते। निर्मल परिणामों को करते-करते अन्तर्मुहूर्त में क्षणिक विश्राम लेना पड़ता है और शरीर का श्रम करने वाला तो लगातार ६ घंटे भी मेहनत कर सकता है। निर्बलों के प्रथम पुरुषार्थ में ऐसा ही होता है। विसंयोजन के बाद अन्तर्मुहूर्त बाद विश्राम लेना पड़ता है तब आगे चढ़ सकता है। तो आलस्य है परकीय ध्यान और तो निरालसीपन है तो एक अपने उपयोग में लीन होता। लेकिन प्रभो ! आप निरन्तर अपने में लीन रहते हो, थकते नहीं हो, विश्राम नहीं लेना पड़ता। हे चैतन्यदेव ! सामान्यदृष्टि से पहिचाने गये तुम वितन्द्र हो।

विकोप सहजसिद्ध की उपासना—विकोप ! आप क्रोधरहित हो । भगवान या सहजसिद्ध भगवान के क्रोध नहीं है। कर्मक्षय-भगवान के द्रव्य और पर्याय दोनों में क्रोध नहीं किंतु सहजसिद्ध हमारी आत्मा में केवल द्रव्य से। सामान्य ध्रुव एकस्वाभावी होता है। उस दृष्टि में वे सिद्ध भगवान और मैं एक ही हूं। अरहंतदेव भी और इससे पहिले की अवस्था यतिरूप जो श्रेणियों में लगे रहते वे भी (विशिष्ट मुनि) विकोप है। हे नाथ ! आपने क्रोध तो पहिले ही खत्म कर दिया था फिर कर्मों का नाश करने का आपके कैसे पुरुषार्थ हो गया भगवन् ! ऐसा वितर्क होता है । देखो भैया ! संसारी प्राणियों का ऐसा ख्याल है कि क्रोध करके विजय पाई जाती, शत्रु को खत्म किया जाता लेकिन यह बात नहीं हैं। सच्ची विजय क्षमा से ही मिलती है। जलाने का दृष्टान्त देखना हो तो अग्नि से ही चीज नहीं जलती। अतिशीत से भी बड़े-बड़े पेड़ जल जाया करते हैं। जाड़े के दिनों जब बर्फ पड़ती है तो असंख्य वनस्पतियां सूख जाती हैं। क्रोध से लोक में इज्जत जाती रहती है। जो क्रोध करके अपनी इज्जत बनाना चाहते हैं, परिणाम इससे ठीक विपरीत होता है। अर्थात् उनकी इज्जत बनने के बजाय घट जाती है। क्रोध करके शान्ति प्राप्त नहीं की जा सकती, दूसरों से सहयोग प्राप्त नहीं हो सकता और स्वयं न दूसरों की सेवा कर सकता, प्रिय वचन नहीं बोल सकता और न दूसरों से वैसी मनोहारी वचन प्राप्त कर सकता। आदर का भी पात्र नहीं रहता और धन की कमाई, कुटुम्ब का स्नेह या प्रेम आदि सब कुछ बिगड़ जाता है। इसकी बुराई गायी नहीं जा सकती। इस लोक में भी शान्ति नहीं, परलोक में भी नहीं। भगवान तो सर्वथा क्रोधरहित हैं। क्रोध के कितने ही निमित्त मिलें लेकिन जवाब शान्ति से देना चाहिये तो उसका असर अच्छा होता है। क्रोध में अहित-ही अहित है। एक मुनि नदी के किनारे एक शिला पर ध्यान लगाते थे। धोबी भी कभी-कभी उस शिला पर कपड़े धोया करता था। चर्या करके मुनि ध्यान लगाने वहां आये और उसी समय धोबी भी कपड़े धोने वहां आया। दोनों में हठ पड़ गई । मुनि कहें इस पर तू कपड़े नहीं धो सकता और धोबी कहे कि मैं यही पर धोऊंगा। अंत में दोनों में हाथा-पाई होने लगी। धोबी का अधोवस्त्र खुल गया, तब वह भी नंगा हो गया। कुछ देर कुश्ती होते-होते मुनि ऊपर देखते हैं कि रक्षा के लिये देव नहीं आते। तो ऊपर से आवाज आती है कि देव तो रक्षा करने को तैयार खड़े हैं, लेकिन मुनि कौन है और धोबी कौन है समझ नहीं पड़ता ? देव का मुनि के लिये यह व्यंग था कि जैसा धोबी लड़ने को उतारू हो गया इसी तरह तुम भी अपना क्षमा पद छोड़ धोबी जैसे उद्दंड वृत्ति में आ गये। और नंगे हुए तो क्या हुए, धोबी भी कपड़ा खुलने से नंगा हो गया है। सारांश यह है कि यदि क्षमाभाव मुनि रखते तो अवश्य ही उनका वह तिरस्कार न होता, जो हो गया। क्षमा का बर्ताव होने से, शान्ति से बात समझाने पर वह मान भी जाता और इतना भी नहीं यह भी हो सकता था कि धोबी अपनी गलती कबूल कर नतमस्तक हो जाता और अधिक निर्मलता आती तो दर्शन व्रत भी ग्रहण करता। लेकिन क्रोध जहां आ गया वहां इन सब अच्छी बातों की क्या आशा की जा सकती है ? वहां तो बुराईयां ही बुराईयां बनेंगी। क्रोध का जवाब क्रोध से देने से शान्ति नहीं मिलती। अपने आप में क्रोध प्रगट न

होने दो तो दूसरों को भी शांत रहने या शांत होने का अवसर रहेगा। सहजसिद्ध भगवान स्वरूप से निःक्रोध ही हैं, और कर्मक्षय-सुसिद्धसमूह तो अनंत क्षमा के प्रगट रूप ही हैं।

विरूप, विशंक सहजसिद्ध की उपासना—विरूप ! हे भगवन् ! आप रूपरहित हैं। काला, पीला आदि वर्ण पुद्गल के गुण हैं, वे चेतन में नहीं हैं। संसारी अवस्था में शरीर आदि का संयोग होने से कदाचित् वर्णादिमान कहा जाता था लेकिन कर्मक्षय कर देने पर सर्वथा वर्णरहित ही हैं, कोई अपेक्षा से उपचार से भी वर्णादिमान नहीं कहला सकते। आत्मा में वर्णादि हैं ही नहीं लेकिन मोही मिथ्यादृष्टि शरीर को अपना मानकर शरीर के रंग से अपने को समझता है । मैं काला हूं, गोरा हूं आदि। सो आत्मा तो उसके मानने से वर्णादिमान नहीं हो जाता, लेकिन कल्पना में तो वर्णादि आ ही जाते हैं, सो मोह के जाने पर वह कल्पना नहीं रहती। भगवान के मोह के सर्वथा नष्ट होने से वे सर्वथा अरूप वर्णादि रहित अतीन्द्रिय गोचर ज्ञानशरीरी चैतन्यघन हैं। मैं भी अनादि सिद्ध ऐसा ही हूं। यहां शंका रंच भी न करना। इस 'मैं' को देखो जिसे 'मैं' कह रहा हूं। विशंक ! हे प्रभो ! आप शंकारहित हैं। अपने स्वरूप में धड़ाधड़ परिणमते जा रहे हैं किन्तु संसारी, अनंत शंकाओं से अस्त-व्यस्त-चित्त हमेशा अपने स्वरूप के परिणमन में अटकते रहते हैं। कभी भी अपने स्वभावपरिणमन में नहीं आते। यद्यपि स्वरूप को देखो तो निःशंक ही है, निर्भय ही है। अनंतकाल से कोई द्रव्य उसको स्पर्श नहीं कर पाया, फिर उसके बिगाड़ करने की बात तो अलग रही लेकिन यह अपनी भूल से अपने को परतंत्र और दूसरे पदार्थों से भयभीत रहता है। परपदार्थ में इच्छा का विषयत्व माना है अतः ये सब शंकाएं और भय हैं। यह सहजसिद्ध भगवान भी विमोह है और कर्मक्षय तो है ही (पर्याय में भी) सो हे सिद्धसमूह ! प्रसन्न हो जाओ।

गाथा ५४

जरामरणोज्झित वीतविहार विचिंतित निर्मल निरहङ्कार।

अचिंत्य चरित्र विदर्प विमोह प्रसीद विशुद्धसुसिद्धसमूह।।५४।।

जरामरणोज्झित सहजसिद्ध की उपासना—हे भगवन ! आप बुढ़ापा और मरण से रहित हैं। लोगों को इन दोनों में आफत दीखती है। सो आप इन दोनों से रहित हैं और जन्म की कहें तो आप इससे भी रहित हैं। बुढ़ापे की तकलीफ अनुभव में तभी आती जब स्वयं बुढ़ापा भोगना पड़ता है। उस दशा का विचार करने से वैराग्य के परिणाम होते हैं, ऐसा होता है बुढ़ापा। जहां शरीर जीर्ण होने लगे वह है जरा। सो हे भगवान ! आप जरा से रहित हैं, क्योंकि शरीर ही नहीं है, और शरीररहित हैं और मरण से भी रहित हैं। बुढ़ापे में कमर लचक जाती है और झुककर चलना पड़ता है, मानो अब खोयी हुई जवानी को ढूंढ रहा हो अथवा जवानी में घमंड से जो अकड़ कर चलता था, सो बुढ़ापा मानों सीख दे रहा है कि अकड़ना ठीक नहीं, आखिर वह झुकने के लिये बाध्य करता है । बूढ़ा और तो क्या प्रिय कुटुम्बियों के लिये भी भारभूत हो जाता है, सम्मानहीन हो जाता। घर के लोगों को उसकी टहल आफत-सी मालूम पड़ती। हितू लोग भी यह विचारने लगते कि इनकी

जल्दी सुन ले तो अच्छा (मृत्यु जल्दी आ जाये तो अच्छा)। इस अवस्था में दुःख विशेष है, फिर भी समाधि में लगा जाये तो दुःख नहीं। इस अवस्था में भी जिसको अपने स्वरूप की दृष्टि नहीं आयी उसे यह बड़े दुःख का कारण है। धर्मात्मा को किसी भी अवस्था में दुःख नहीं फिर भी आंशिक दुःख तो लगा ही है जब तक कि संसार है। पर हे सिद्धभगवान ! आप जरा और जरा का कारण शरीररहित होने से उस दुःख से पूर्णरहित हैं। मरण का दुःख भी भारी है। कहते हैं मरते समय आत्मा खिंचती-सी है सो खिंचना तो क्या, निकलने को तो एक समयमात्र में ही निकल जाती है पर शरीर से जो मोह लगा रखा था अब उससे संयोग छूटने का समय आया, सो उसका ही महान दुःख होता है तथा शरीर से आत्मा के अलग होने के पहले शरीर में विशेष हलचल भी होती होगी, जिससे मरण का संकेत मिलता होगा और जिसके नाम से डरता था, सिर पर आ खड़ी होने से गंभीर वेदना का अनुभव होता होगा। मरते हुए व्यक्तियों के कुछ दुःख भरी टीस से इसका दुःख समझा जा सकता है। मनुष्यभव की सफलता अपने आपके सुधार में है। हमें करना यह चाहिये कि जरा-मरणरहित सिद्ध भगवान की उपासना करें ताकि उसके दुःख से छूट जायें। निश्चयत: जरा-मरणरहित आत्मा की दृष्टि करने से वह निरापद अवस्था प्राप्त होती है।

वीतविहार, विचिन्तित व निर्मल सहजसिद्ध भगवान की उपासना—वीतविहार ! जिनका परिभ्रमण मिट गया और अपने ही प्रदेशों में ही विहार कर रहे, ऐसे हे भगवन् ! प्रसन्न होओ। स्वरूप अपने आप में ही गमन का था लेकिन विकल्पों से परिभ्रमणरूप बनाया। हमारा सामान्य स्वरूप भी भगवान के अनुरूप है। लेकिन भ्रम से पर को अपना रहा है और विकारों में भटकता रहता है। लोक के क्षेत्र में भी इधर से उधर और उधर से इधर भटका ही करता है, पांच परिवर्तन के अनंतकाल को पूरा करता रहता है, लेकिन जब अपने की सुध आती है तब वह परिभ्रमण मिटता है। विचिंतित हे भगवन् ! आप चिंतारहित हो। अथवा मन से नहीं विचार में आ सकते, आत्मा के अनुभव में ही आ सकते हो। यह सामान्य आत्मा भी ऐसा ही है। उपाधिभाव को हटाकर जब स्व का लक्ष्य बनावे और उसमें लीन होवे तब अपना अनुभव होता। जैसे आत्मा का यथार्थस्वरूप अवक्तव्य है और विशद बोध के लिये मात्र आत्मानुभव से ही गम्य है, मन से भी गम्य नहीं, यह है सहजसिद्ध निज चैतन्यदेव की चर्चा। ठीक वैसे ही कर्मक्षय-सिद्ध महाराज भी चिन्तवन से आगे हैं। हे सहजसिद्धदेव ! प्रसन्न होहु, निर्मल होहु जिससे मैं सर्वथा विचिंतित बनूं। निर्मल ! हे भगवन् ! व सहजसिद्ध आत्मदेव ! तुम निर्मल हो । सिद्ध कर्मक्षय से पर्याय में भी निर्मल हैं और तू द्रव्य में। यदि दृष्टि निर्मल की बनावें तो तू निर्मल ही है क्योंकि जैसी दृष्टि रखी उसी रूप तत्त्व नजर आता है, उसी का कर्ता बनता है और फल भी वैसा ही मिलता है; अन्यथा बताओ भैया ! आत्मा तो यह अभी मलीन है और अपने सिवाय अन्य को कोई देख-जान सकता नहीं तथा यदि आत्मा मलीन तत्त्व को ही देखता-जानता रहे तो निर्मलता कैसे आवेगी ? सो भैया ! बात ऐसी है कि आत्मा सामान्यविशेषात्मक है, विशेष तो निर्मल-समल होता है और सकल पर्यायों में रहने वाला तो वह

एक है उस अन्वयी एक को देखो तो वहां पर्याय ही नजर नहीं आती ऐसा असंग निर्मल है उसके लक्ष्य से पर्याय निर्मल होती है।

निरहंकार सहजसिद्ध प्रभु की उपासना—निरहंकार प्रभो ! आप अहंकाररहित हैं। पर में स्व की बुद्धि अहंकार है। सो आप में वह नहीं है। अहंकारी पुरुष क्रोधी, मायावी और लोभी की तरह सुखी नहीं रह पाता, जब कि निरभिमानी सुख शांति से रहता है। जगत के प्रत्येक जीव ने अनादि से अहंकार की बुद्धि ली, रागादि की दशा को अपना माना, किंतु यह न जाना कि यह रागादि अध्रुव चीज हैं, मेरी नहीं हैं। मैं तो ध्रुव हूं। जो सब ओर से दृष्टि हटाकर अपने को अपने में देखता है वह निरहंकारी है। हे भगवन ! आप और सिद्ध भगवान, आप चिंत्य भी ऐसे ही हो । संसारी तो भूल से व्यर्थ ही अहंकारी बन रहा है। चरित्र (अचिन्त्य चरित्र) ! जिसके चरित्र को, व्यापार को, परिणमन को कोई विचार नहीं सकता, हे भगवन् ! आप ऐसे हैं और हे सहजसिद्ध भगवान् ! आप भी ऐसे हैं। स्वयं के द्वारा अनुभव में आ सकते हो, तुम में तुम छिपे हो, उसे जानने के लिये इन्द्रियों की व मन की सहायता मत लो, केवल अपने से ही उसे देखो, वह दिखेगा और अवश्य दिखेगा। उसके दिखने में आनन्द का समुद्र मिलेगा ऐसे चरित्र वाले हो तुम। स्वयं अपने आप के अज्ञान से खोटे मत बनो, अपने को मत भूलो। अपने उच्च पद की तरफ देखो और उसी में तन्मय हो जाओ। विदर्प ! आप दर्परहित हैं, ममतारहित हैं। अहंकार से पैदा होने वाली ममता भी जीव को जलाती रहती है। अतः उसका अभाव भगवान में देख अपने को तद्रूप देखने की भावना भक्त बना रहा है। निश्चयतः हमारा आत्मदेव विदर्प है। झूठे ही यह घर मेरा, यह धन मेरा आदि करके अपने को भटका रहा है। सो हे प्रसिद्ध सुसिद्धसमूह ! और सहजसिद्ध ! प्रसन्न होओ।

गाथा ५५

विवर्ण विगंध विमान विलोभ, विमाय विकाय विशब्द विशोभ।

अनाकुल केवल सर्व विमोह प्रसीद विशुद्ध सुसिद्धसमूह।।५५।।

विवर्ण सहजसिद्ध की उपासना—हे प्रभो ! आप वर्णरहित हैं। वर्ण पुद्गल द्रव्य का अभिन्न गुण है, जिसकी पर्यायें हैं— काला, पीला, नीला आदि; आप उनसे रहित हैं। जबकि आत्मा में वर्णादि हैं ही नहीं उसके कहने की आवश्यकता ही क्यों ? इसलिये कि शरीर में जीव अनादि से अपनापन अपना रहा है और शरीर में काला पीला आदि वर्ण हैं तो उसका ज्ञान कराने के लिये कहा जा रहा है कि आप उस मिथ्या कल्पना के आश्रयभूत वर्णादि से रहित हैं और मैं भी स्वभावतः वर्णादि से रहित हूं। शरीर में वर्ण, गन्धादि पुद्गल के कारण तो हैं ही, फिर भी वर्ण नामकर्म के उदय से वर्णादि माना गया है। कहते हैं कि शरीर पुद्गल है तो वर्ण आदि अपने आप होंगे ही। फिर उस प्रकार के रूप, रस, गंध और स्पर्श नामकर्म के मानने की क्या आवश्यकता ? इसका उत्तर यह है कि प्रतिनियत जाति में प्रतिनियत वर्ण आदि रहे ऐसी व्यवस्था नामकर्म के कारण से है। जैसे—घोड़े के

शरीर जैसा रूप, स्पर्शादि यदि मनुष्य में भी पाया लाने लगा और मनुष्य जैसा वर्णादि घोड़े आदि के शरीर में पाया जाने लगा तो बड़ी अव्यवस्था होगी। लेकिन ऐसा नहीं होता। यह सब वर्णादि नामकर्म की व्यवस्था के कारण है। भगवान शरीर के संयोग से रहित होने के कारण सर्वथा विवर्ण हैं तथा मैं सहजसिद्ध शरीर का संयोग रहते हुए भी स्वरूप से सर्वथा अमूर्तिक ही हूं, रूप रस आदि से रहित ही हूं। मनुष्य जीव, तिर्यञ्च जीव आदि व्यवहार से भले ही कहलाओ लेकिन मैं तो सत्ता में इस पुद्गल पिंड से सर्वथा भिन्न ही हूं।

विगन्ध विमान विलोभ सहजसिद्ध की उपासना—विगंध ! हे भगवन् ! और हे सहजसिद्ध आत्मन् ! तुम वर्ण के समान गंधरहित भी हो, वर्ण के साथ इसका भी निषेध हो जाता है, फिर भी पृथक्-पृथक् नाम लेकर इस भावना को पुष्ट किया जा रहा है कि अनादि से मिथ्यात्व के कारण वर्ण गंधादि गुणात्मक शरीर को आत्मा मान रखा है, यह भारी भ्रम है। मैं इन पुद्गलों के गुणों से रहित ही हूं, अमूर्तिक चैतन्यगुण वाला ही हूं जब कि वर्ण गंध आदि जड़ पुद्गल के गुण हैं, वे हमारे त्रिकाल में भी नहीं हो सकते। हे विमान ! प्रभो ! आप मानरहित हो । पहिले मान का पर्यायवाची दर्प और अहंकाररहित भगवान को कह आये हैं फिर यहां मानरहित कहने का मतलब साधारणतः पर बुद्धि के लिये है, जबकि अहंकार मिथ्यात्व के सम्बंध पर जोर देने के लिये है और दर्प-अहंकार चारित्र में उग्र वृत्ति के लिये आता है। स्वाभिमान और गौरव जिसे कहा जाता है उसमें भी मान की पुट है। उसके बिना स्वाभिमान और गौरव की बात नहीं आती। अपने गौरव से रहना चाहिये इसमें मान कषाय का भाव है। भगवान मान की सर्वपर्यायों से रहित हैं। अतः बड़े-बड़े महंतों के लिये गौरव की वस्तु हैं। विलोभ ! भगवन् ! आप लोभरहित हैं। लोभ कई तरह का होता है, शरीर का लोभ, कुटुम्ब का लोभ, दान का लोभ, प्रतिष्ठा का लोभ, यश का लोभ आदि। भगवान आप सब प्रकार के लोभों से रहित हैं। आत्मा का स्वभाव सर्वकलङ्कों से परे है, सब वस्तुओं से भी अत्यंत पृथक् है। ज्ञायक-स्वरूप इस निजतत्त्व के अधिकारी सहज ही सर्व लोभ से पृथक् रहते ही हैं । लोभ; गहन अंधकार है, सर्व आपदाओं का मूल है। यदि सम्यक् प्रकार से निरखो तो सभी विभाव लोभमय है। लोभ कषाय इतनी प्रबल है कि सब कषायों के नाश होने पर भी अंत में यही एक बचती है परन्तु आत्मस्वभाव की दृष्टिरूप असि का वह प्रहार नहीं झेल सकती, सो अर्न्तमुहूर्त में यह भी नष्ट हो जाती है। हे कर्मक्षय-सिद्धदेव ! तुम लोभ से सर्वथा दूर हो व लोभ के निशान से परे हो । हे सहजसिद्ध परमपारिणामिक भाव ! तुम तो अनादि शुद्ध हो। अब प्रगट में भी प्रसन्न होहु।

विमाय विकाय विशब्द विशोभ सहजसिद्ध की उपासना—विमाय ! प्रभो ! आप मायारहित हैं। पहिले विदंभ कह आये हैं फिर उसी का पर्यायवाची विमाय कहने का मतलब क्या है ? पर्यायवाची होने पर भी उन दोनों में कुछ अंतर है। तीव्र कषाय में दंभ का प्रयोग किया जाता और माया से साधारणतः सभी कपट के व्यवहार में भगवान हर तरह की माया से रहित हो गये हैं, इसीलिये उस शब्द के पर्यायवाची अन्य शब्द के द्वारा भगवान को अलिप्त बतलाया जा रहा है। सहजसिद्ध भी ऐसा ही है द्रव्यदृष्टि दी जाये तो । हे विकाय ! आप शरीररहित

हैं। आहार-वर्गणा से शरीर की उत्पत्ति होती है। सिद्धों के आहार वर्गणाओं का ग्रहण ही नहीं, फिर शरीर कैसे बनें ? संसारी पर्याय में व्यवहार से जो जीव को कायवान कह दिया जाता है। संसारी जीवों को काय की अपेक्षा से गिनती करने के लिये कहा जाता है कि संसारी प्राणी ६ तरह के हैं—१-पृथ्वीकाय, २-जलकाय, ३-अग्निकाय, ४-वायुकाय, ५-वनस्पतिकाय, ६-त्रसकाय। वस्तुतः जीव और काय हमेशा से पृथक्-पृथक् वस्तुएं हैं। यह चेतन है तो वह जड़, यह अमूर्तिक है तो वह मूर्तिक, यह निज है तो वह पर। फिर उसका संयोग हमारी रागद्वेष आदि की परिणति से लगा हुआ है अतः कायवान कहलाता । सिद्ध परमात्मा कषायरहित होने के कारण काय से सर्वथा रहित हो गये हैं। केवल प्रदेशीपना का कायवान है जो कि अनादि से है और अनंत काल तक उसके स्वरूप में रहेगा। मैं भी सहजसिद्ध भगवान कायरहित हूं, ज्ञान-शरीरी हूं। यह पुद्गल का संयोग केवल संयोगीमात्र है। विशब्द ! हे प्रभो ! आप शब्दरहित हैं। शब्द-वर्गणा होने से शब्द बनता। आप ज्ञानमय ही हैं, शब्द का काम क्या ? वह तो पुद्गल का, मूर्तिक जड़ का गुण है; अमूर्त में शब्द नहीं और चेतना में तो कदापि नहीं। इसीलिये शब्दों द्वारा आत्मा को नहीं कहा जा सकता, नहीं समझा जा सकता क्योंकि शब्द जड़ हैं उनमें वह ताकत नहीं कि आत्मा का ज्ञान करा दें, यही कारण है कि भगवान की दिव्यवाणी सुनकर भी अभव्य को प्रतिबोध नहीं हो पाता उसके चेतन की अयोग्यता के कारण। शब्दमात्र से जो कुछ भी कहा जाता है वह अभूतार्थ है, असत्यार्थ है; आत्मानुभव में जो आता है सत्यार्थ तो वही है। संसारी प्राणी के लिये यह बात है तो जो कर्ममुक्त आत्माएं शरीर और शब्द के संयोग से रहित हो चुके हैं वे तो इससे अलिप्त हैं ही। विशोभ ! आप शोभारहित हैं। पुद्गल में अपेक्षा से सौन्दर्य-असौन्दर्य माना गया है वह मोह की कल्पना है फिर भी वह शोभा और अशोभा पुद्गल में दर्प पायी जाने वाली चीज है, चेतन तत्त्व उससे परिमुक्त है, वह तो अपने चैतन्य गुण से अपने ही ढ़ंग का अभिराम पदार्थ है। अथवा हे प्रभो ! आप सर्व क्षोभ से रहित हो।

अनाकुल केवल सहजसिद्ध प्रभु का अभिनन्दन—अनाकुल ! हे सिद्धसमूह ! आप अनाकुल हो। अज्ञान से आकुलता होती है। पर में अपना मानना सबसे ज्यादा अज्ञान है। पर से सम्बंध बनाते इसलिये दुःख है, यदि यह बात न हो तो दुःख है क्या ? सर्व का सत् न्यारा-न्यारा है । जब सब पदार्थ अत्यन्ताभाव वाले हैं फिर उनको सम्बंध वाला मानना, सो दुःख का मूल है। यदि कोई स्वतंत्र सत्स्वरूप पर दृष्टि रखे रहे तो दुःखी न हो। किन्तु अज्ञानी ने संयोगों को देखा, दशाओं को देखा, अध्रुव और क्षणिक को देखा। ध्रुव एकरूप सहजसिद्ध चैतन्य-पुंज को नहीं देखा। प्राणी अन्य सब को देख आकुल है, अपने को देखे तो निराकुल है। मूढ़ता में दूसरे पर स्नेह और वैर विरोध आदि की जबरदस्ती की। पर हम अपने को नहीं देख सबसे बड़ा बैर कर रहे हैं, यह नहीं समझा। हे भगवान् ! आप सर्वथा निराकुल हैं। निराकुलता आत्मा का सहजसिद्ध गुण है। वह हममें भी सर्वदा मौजूद है। लेकिन पर्याय पर दृष्टि रखने से व्यर्थ ही आकुल बन रहे हैं। प्रभो ! आपकी पर्याय द्रव्य के अनुरूप है फिर आकुलता का काम ही क्या ? ममेदं बुद्धि न हो तो आकुलता क्यों ? यह चीज मेरी थी, और मेरी है, अनात्म तत्त्वों में ऐसा जो विकल्प है वही दुःख का कारण है। जैसी वस्तु है वैसी मानते जाओ तो

आकुलता नहीं। जहां कर्ता-कर्म, स्वस्वामी सम्बंध माना वहां ही सब दुःख आये । मोक्षमार्ग पाने के लिये पर-बुद्धि दूर करना चाहिये। सद्बुद्धि आने पर यही ज्ञान तप, सयंम, संवर और निर्जरा का कारण होगा। और जब तक असद्बुद्धि रहेगी तब तक आस्रव और बंध चलता रहेगा। जब तक अभिप्राय ठीक नहीं हुआ तभी तक शुभोपयोग को उपादेयरूप से मानता और वैसा ही कहने सुनने की आदत पड़ी हुई है। कर्ता-कर्म और स्वस्वामी सम्बंध; इन दोनों के होने से यह होता। अमुक ने अमुक को ऐसा कर दिया, अमुक अमुक का स्वामी है—यही अभिप्राय खोटा है। यहां की कोई चीज आत्मा के साथ नहीं है। साथ मान रहे हो तो परभव में तो वह साथ न जायेगी, कार्मण शरीर भी खिरता ही रहता है और मतिज्ञान आदि भी क्षणिक हैं। एक ध्रुव से स्वभाव का स्वस्वामी सम्बंध है परन्तु वहां विकल्प नहीं। अमुक ने हमको सुख दिया, दुःख दिया, मैने अमुक को सुखी किया, दुःखी किया, जिलाया, मारा आदि विकल्प परवस्तु के संयोगजन्य मिथ्या विकल्प हैं। इस अभिप्राय में पदार्थ के स्वतंत्र परिणमन का ख्याल नहीं है। सबका परिणमन अपना-अपना जुदा है, कोई किसी का कभी भी परिणमन कर ही नहीं सकता, फिर भी वैसा मानना अज्ञान है। व्यवहार में कहने में जो बात आवे यदि अभिप्राय में उसको ठीक जाना हो तो अज्ञान नहीं है। किन्तु शास्त्र में ऐसा लिखा है या ऐसा सुना है इससे निश्चय के-सी बात कहना भी अज्ञान है। यदि अभिप्राय ठीक नहीं हुआ है तो निश्चय भी विकल्प है किन्तु इसका प्रयोजन निर्विकल्प होने के लिये है। भैया ! जो करो विकल्प हटाने के प्रोग्राम से। बच्चे की सगाई हुई कि उसके दसों विकल्प उठने लगते और विवाह हुआ तब तो पूछना ही क्या ? कई प्राणी कुटुम्ब में अकेला रह जाने में अपने को पापी समझते हैं। लेकिन अकेला रह जाना बहुत-सी आकुलताओं के मिटने का कारण है। अतः वह पुण्योदय का कार्य है यदि उसे पापरूप न माना जाये तो। और वास्तव में देखा जाये तो दुःख ममता का ही है। लेकिन संयोग की बहुलता से आकुलताएं भी बढ़ सकती हैं। अतः उसका थोड़ा रहना ही अच्छा है। अनाकुलता के लिये अकेले का वातावरण अच्छा है। जो जितना अकेला है वह उतना ही सुखी है। भगवान सिद्ध सर्वथा अकेले हैं। अतः सर्वथा अनाकुल हैं और सर्वथा सुखी हैं। हम अकेले नहीं हैं, मान्यता में संयोग है। इसलिये रोग, शोक और अपमान आदि का प्रसंग आता, विडंबनाएं आती। शरीर में कर्ताकर्म बुद्धि है यही आकुलता का मूल है। नहीं तो दुःख नहीं। तो भगवान आप अनाकुल हैं क्योंकि आप केवल (एक) हैं। अपने स्वरूप में रह जाने को केवल कहते हैं, सो सर्वदा अपने स्वरूप में ही है। मैं भी अपने द्रव्य में ऐसा ही हूं।

सर्वविमोह सहजसिद्ध प्रभु की अभ्यर्चना—सर्वविमोह ! आपने अपने मोहरहितपने को प्राप्त कर लिया है। संसार में जो मोह की अनेक दशाएं हो रही थीं उन्हें दूर कर दिया है। हम देह, कर्म और विभाव के दंदफंद में लगे हुए हैं। देह, कर्म और विभाव के फंद ऐसे लगे हुए हैं कि हम इनमें उलझ रहे हैं। अनर्गल कल्पनाएं होती रहती हैं। प्राणी अपने आप की संभाल नहीं करता पर में उलझा रहता है, परकी सम्हाल में उलझा रहता है। स्वस्थ चित्त बैठकर और बाह्य चीज को अपने ज्ञान में न आने दें ऐसी स्थिति पैदा करें तो अनाकुलता का स्वाद

आवेगा। ६ माह इसका ही अभ्यास जीवन में करके देखना चाहिये। व्यापार-धंधा तथा जिंदगी का और कारोबार तो चलेगा ही और चलता ही रहेगा, कर्मोदय से जो अवस्थाएं होनी होंगी सो होंगी। भूखों तो मरेंगे नहीं और धर्म की आराधना करते भूखों भी मरना पड़े तो आत्मा के लिये बड़ा सौभाग्य होगा। वहां समताभाव रखिये, कर्मों की भारी निर्जरा होगी। समाधिमरण त्याग की हालत में होता है। लेकिन उसे आत्मा में भूख का क्लेश नहीं होता, प्रत्युत आत्मस्वाद का अपार आनन्द आता। हमारे मनोबल में कुछ दृढ़ता आनी चाहिये तब कल्याण होना दूर नहीं है, कठिन नहीं है, सब कोई सब हालत में कर सकते है। निःसंग बुद्धि बनाओ। मुनि निःसंग होने से सुखी रहते हैं, अन्यथा वे महान दुःखी कहलावें।

सर्वविमोह सहजसिद्ध की अभ्यर्चना के प्रसंग में अविमोहता के क्लेश का एक चित्रण—जंगल में एक साधु की राजा से भेंट हो गई। गर्मी के दिन थे। वे साधु पाँव में कुछ नहीं पहिने थे। शरीर पर भी गर्मी के बचाव को कोई कपड़ा वगैरह नहीं था। राजा भोगों में पला हुआ क्या जाने आत्मवैभव और आत्मानंद को ? उसने प्रार्थना की कि महाराज ! आपको गर्मी से बचने के लिये पैर में सुन्दर जूता और छतरी का इंतजाम मैं कर सकता हूं आप आज्ञा दें तो। साधु बोले—तब उस ढंग के वस्त्र भी चाहियें, अलंकार भी चाहिये। राजा ने यह सब करने की सहर्ष स्वीकारता दे दी, फिर साधु बोलते हैं ऐसी बेशकीमती पोशाक में पैदल चलना ठीक न लगेगा तब एक मोटर की भी जरूरत पड़ेगी उसके लिये आदमी भी चाहिये। राजा बोला—मोटर और ड्राईवर भी दूंगा। साधु बोले— फिर भोजन के लिये इधर उधर-भटकना ठीक न होगा, तब एक सुन्दर स्त्री से आपकी शादी करा दी जायेगी, राजा बोला। तब इतने सब खर्च के लिये इंतजाम ? साधु ने कहा। राजा बोले— आवश्यक जागीरी लगा दी जायेगी। साधु बोले— और स्त्री से बाल बच्चे होंगे उनमें कोई मरेगा भी तब रोना किसको पड़ेगा ? राजा बोला—साधो ! यह काम तो हमसे न होगा, रोना तो आपको ही पड़ेगा। साधु बोले— जिस काम में रोना खुद को ही पड़े उसे मैं नहीं चाहता। सो संबंधमात्र दुःख का ही कारण है। इसमें उपादेय बुद्धि करके इसका संयोग जुटाने में ही अपना जीवन बर्बाद मत करो। और संयोग-वियोग चलते रहें चलने दो, झुकाव तो अपनी ही ओर का रखो, धर्म में तो चित्त लगाओ। ऐसा करोगे तो बेड़ा पार है, वर्तमान और भविष्य दोनों सुन्दर होंगे। अतीत तो जितना बीत चुका वह असुन्दर ही रहा। यदि ऐसा नहीं करते, सँभलते नहीं तो अनादि से जो होता आया वही होगा। नर्क निगोद आदि की पर्याय में कौन पूछेगा तुम्हारे दुःख की बात ? वहां पूछने वाला भी कोई नहीं रहेगा। और चेत गये स्वरूप की सावधानी कर ली तो मोक्षपथ में बढ़ते जावेंगे और मोक्ष प्राप्त हो कर रहेगा। हे सिद्धसमूह ! आपने यह विमोह दशा प्राप्त कर ली है, मेरी भी वही स्थिति हो। आप प्रसन्न हो। निर्मल हों निज के भगवान।

धजा (मालिनी)

गाथा ५६

असमसमयसारं चारुचैतन्यचिह्नं, परपरिणतिमुक्तं पद्मनन्दीन्द्रवन्द्यम्।

निखिलगुणनिकेतं, सिद्धचक्रं विशुद्धं स्मरति नमति यो वा स्तौति सोऽभ्येति मुक्तिम्।।५६।।

असमसमयसार सिद्ध प्रभु के स्मरण का परिणाम—असमसमयसारं—आपके समयसार की तुलना नहीं की जा सकती । संसार में आप के समान कोई नहीं हैं। आप जैसे आप ही हैं। समयसार दो तरह के होते हैं—१-कारणसमयसार २-कार्यसमयसार। कार्यसमयसार सिद्ध हैं, उनका परिणमन स्वभाव के अनुकूल चल रहा है। और कारणसमयसार— शुद्ध आत्मा की तरह जिनकी परिणति हुई ऐसे मोक्षमार्गी आत्माओं के जो ध्रुव तत्त्व ज्ञात होता है वह कारणसमयसार है। जो सब हालतों में एक रहे ऐसा शुद्ध आत्मतत्त्व समयसार कहलाता, जब तक वह पूर्ण सिद्ध नहीं होता तब तक कारणसमयसार कहलाता और जब सिद्ध हो चुकता तब कार्यसमयसार कहलाता। हम और आप में जो शुद्ध ध्रुव आत्मतत्त्व है वह कारणसमयसार है, अतः कर्ममुक्त परमात्मा भी असमसमयसार हैं ओर हम भी तथा स्वरूप की दृष्टि से विचार करें तो मिथ्यादृष्टि आत्माएं भी। समयसार असम है, समयसार सदृश कोई वैभव नहीं, समयसार कहिये— पारिणामिक भाव । वह तो सभी आत्माओं में सहज अनादिसिद्ध है परन्तु उसकी दृष्टि ही विभूति है। आत्मा का शक्ति व पर्याय किसी भी अंश से भेद न करके जो अखंड चैतन्यस्वभाव है, जो क्रमश: अनेक अनंतपर्यायरूप होकर भी किसी भी पर्यायरूप बनकर नहीं रहता; वह है समयसार। जगत के जीवों की जब तक इस निज स्वभाव पर दृष्टि नहीं होती तब तक क्लेश नहीं मिटता, ऐसी परमोपकारिणी समयसार-दृष्टि जयवन्त प्रवर्तो।

चारुचैतन्यचिह्न सिद्धदेव की अभ्यर्चना—चारुचैतन्यचिह्न—भगवान का रोचक चिह्न चैतन्य है। वृषभनाथ का चिह्न आदि जो कहते वह मूर्ति की पहिचान का चिह्न है। वृषभनाथ की आत्मा की पहिचान का वह चिह्न नहीं है। अरहंत भगवान के जो अशोक वृक्ष, सिंहासन, तीन छत्र, भामंडल, दिव्यध्वनि, पुष्पों की वर्षा, दुन्दुभिबाजों का बजना और ६४ चमरों का ढुलना— ये ८ प्रतिहार्य तथा समवशरण, ये चिह्न मानते हैं वह भी ऊपरी तौर पर हैं, यह तो सब पुद्गल का चमत्कार है। आत्मा की पहिचान कराने वाला गुण चैतन्यस्वरूप ही हो सकता है। भगवान अरहंत के फिर भी शरीर आदि का संयोग लगा है, अतः सिद्ध आत्माएं ही ऐसी हैं जो केवल चैतन्य से परिपूर्ण हैं, पर का संयोग किसी रूप में भी नहीं। संयोग-दृष्टि को हटाकर कहे तो अरहंत तो चारुचैतन्य चिह्न हैं ही अपितु हम भी हैं, जिसकी उपमा नहीं, ऐसे चैतन्य से ही हम व्याप्त हैं। हमारे में अन्य जो दिखे या कहे जायें वे हमारे चिह्न नहीं।

परपरिणतिमुक्त वन्द्य सर्वगुणात्मक सिद्ध प्रभु का अभिनंदन—परपरिणतिमुक्ति—नर नारक आदि पर्याय व राग द्वेष आदि परपरिणति से आप रहित हैं। ये परिणतियां पर को निमित्त पा कर होती हैं। जीव का कर्म के साथ अनादि से संबंध रहा आया, पर हम अपनी ही परिणति से परिणमे। कर्मों को दुष्ट कहते सो कर्म दुष्ट नहीं

हैं, हमारी ही दुष्टता है जो हम उन्हें कर्मरूप परिणमा रहे हैं। वे तो बिचारें जड़ हैं, उन्हें कर्मरूप होने का बोध ही कहां है ? ये विभाव-भाव ही दुष्ट हैं जिनसे आप रहित हो गये हैं। और सामान्य स्वभाव से देखो तो जो सब अवस्थाओं में चल रहा है वह एक सहजसिद्ध भी परपरिणति से रहित है। सामान्य स्वलक्षण में आत्मा परिणति से भी रहित है। संसारियों को ऐसा दिखता कि नौकर; मालिक की आज्ञा से अपनी परिणति करता सो यह भ्रम ही है। मालिक तो अपनी परिणति करता है। मालिक तो अपनी परिणति आज्ञारूप इच्छा प्रगट करने का ही करता लेकिन उस आज्ञा का निमित्त पा कर नौकर में जो परिणति होगी, जैसी इच्छा बनेगी वैसा वह कर्म करेगा। हो सकता है उसका वह कार्य अनुकूल लगे या प्रतिकूल। और नौकर ने बाहिरी कार्य की परिणति की यह भी स्थूल दृष्टि है। उसने तो मात्र अपना विकल्प उस कार्य को उस रूप करने का किया यही परिणति कर सका वह, पुद्गल में हुआ वह अपनी परिणति से, कोई किसी का कुछ नहीं करता। सब अपनी परिणति से परिणम रहे हैं। राम और सीता की जीवन की घटनाओं पर विचारें तो इस बात को समझने में पर्याप्त मदद मिलेगी। सीता जैसी सती अग्निपरीक्षा देने के बाद जब अपने वैराग्य परिणाम में आती है तो राम के अनुनय-विनय करने पर भी एक नहीं सुनती और ध्यानस्थ हो जाती है। राम मूर्छित हो जाते हैं फिर भी इस ओर दृष्टि ही नहीं। अन्त समय में सांत्वना का एक भी शब्द नहीं कहा। तो सब अपनी-अपनी परिणति में हैं। मोह से अपने अनुकूल-प्रतिकूल मानते हैं। संसार में परदृष्टि परपरिणति के विकल्प का ही दुःख है। सिद्ध भगवान परपरिणति से मुक्त हैं। पद्मनंदी आचार्य द्वारा वन्दनीक और सम्पूर्ण गुणों से सहित या सम्पूर्ण गुणों के आगार अत्यन्त शुद्धता को प्राप्त सिद्धसमूह को जो स्मरण करता है, नमस्कार करता है, स्तवन करता है वह मुक्ति को प्राप्त होता है। मुक्तिप्राप्त सिद्धों की आराधना से स्वयं मुक्ति प्राप्त होती है। वे मुक्ति देते हों सो बात नहीं किंतु पूजक स्वयं अपनी निर्मलता से मोह को निर्बल करता हुआ, या और ठीक कहो तो वह अपनी स्थिरता को बढता हुआ एकसमय में वह प्राप्त कर लेता है और हमेशा के लिये अपने में पूर्ण स्थिर हो जाता है । यदि वंद्यवंदक भाव अपनी सहजसिद्ध आत्मा में ही घटाना चाहो तो जो विशेषण मुक्त-सिद्ध में, द्रव्य और पर्याय में लागू हैं यहां द्रव्यरूप से लागू करना । और 'पद्म' कमल को कहते हैं, यहां हृदयरूपी कमल लेना, उसको आनंदित करने वाला जो 'इन्द्र' जाग्रत आत्मा उसे वंदनीय अर्थात् स्वयं-स्वयं से वंदनीय जो भगवानरूप हम हैं यदि उनकी अर्चा-स्तुति करें, आत्मा अपने पद को आप स्वयं संभालें तो वह विभाव-परिणति से रहित अवस्था को प्राप्त कर लेता है। इस तरह मुक्ति-प्राप्त सिद्ध परमेष्ठी व स्वभाव से सिद्धस्वरूप निजात्मा की पूजा समाप्त हुई। इति।।

शान्ति-पाठ

गाथा ५७

शान्तिजिनं शशिनिर्मलवक्त्रं, शीलगुणव्रतसंयमपात्रम्।

अष्टशतार्चितलक्षणगात्रं, नौमि जिनोत्तममम्बुजनेत्रम् ।। ५७ ।।

अभ्यर्चना के उत्तर समय में शान्तिजिन की उपासना—शान्तिपाठ में श्री शान्तिनाथ तीर्थंकर की स्तुति की गई है क्योंकि शान्ति शब्द के साथ उनमें नाम की समानता है और अन्य अलौकिक अनंत गुण जो दूसरे तीर्थंकरों व केवलियों में हैं वे तो हैं ही। यहां यह नहीं समझना कि अन्य शुद्धात्मावों का ध्यान शान्तिकर नहीं, सभी इस प्रकार हैं। पूजक कहता हैं कि मैं शान्तिनाथ जिनेन्द्र को नमस्कार करता हूं। कैसे हैं वे ? उनका मुख चंद्रमा की तरह निर्मल है। चन्द्रमा जैसे उज्ज्वल होता है, कांतिमान होता है, ऊपर है और कई लोगों का विश्वास है कि उसमें से अमृत झरता है उसी तरह भगवान का मुख उज्ज्वल और कांतिमान होता है। भगवान साधारण पृथ्वी से ५ हजार धनुष ऊपर विराजते हैं। अतः उनका मुख भी उन्नत है। उनके मुख से वचनरूपी अमृत झरता है। यद्यपि भगवान की वाणी सारे अंग से खिरती है फिर भी वे पहिले मुख से ही बोलते थे अथवा मुख से ही बोला जाता है। अतः मुख से वाणी खिरना कह देते हैं। मुखवाची मुख, आस्य, लपन आदि कई शब्द हैं लेकिन इन सब में वक्त्र शब्द की विशेष महत्ता है, वह यह कि 'उच्यते अनेन इति वक्त्रम्' इस अर्थ के अनुसार प्रकृत अर्थ के कहने में वक्त्र शब्द ही समर्थ है। भगवान की वाणी में साधारण मनुष्यों से विशेषता है, वह निरक्षरी होकर भी श्रोताओं के कर्णपुट में जाकर साक्षर हो जाती है और समवशरण के प्रत्येक जीव को अलग-अलग अपनी-अपनी भाषा में उनकी वाणी समझ में आती है। इसके सिवा सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात उनकी वाणी की है तो यह कि वह पूर्ण निर्दोष है और जो कुछ भी कहा जा सकता है या अल्पज्ञ (छद्मस्थ) समझ सकता है वह सब उनकी गंभीर वाणी में होता है। उन्हीं की वाणी की परम्परा से आगे भी चिरकाल तक मोक्षमार्ग का प्रणयन उनके पथ पर चलने वाले ध्यानी पुरुष करते रहते हैं। हम जैसे अल्पज्ञों को जो ज्ञान ऐसे समय में (तीर्थंकर के अभाव में) उपलब्ध हो रहा है वह उनकी ही वाणी का प्रसाद है, ऐसी भगवान की वाणी का महत्त्व है। निमित्त की दृष्टि से कहा जाये तो उनकी वाणी की महिमा वचन-अगोचर है। प्राणियों को तत्त्व ज्ञान जो होता है वह तो उन्हीं की योग्यता से होता है परन्तु निमित्त—जिसकी समकक्षता अन्य से नहीं—यह ध्वनि होती है, अरहंत के दर्शन से व उनकी वाणी द्वारा अधिक लाभ होता है। दर्शन से भी आत्मबोध होता है, पर उसमें भगवान की वाणी का निमित्त (चाहे वह परोक्ष परम्परा या परभाव का ही क्यों न हो) चाहिये ही चाहिये। उनकी वाणी पौद्गलिक होती हुई भी उसमें चेतन के ज्ञान की ऐसी निमित्तता (आत्मा के संयोग से) समायी हुई है कि उसको श्रवण करने के निमित्त से आत्मा में सम्यग्बोध का सूर्य चमक जाता है। ऐसी वाणी की महत्ता के अर्थ में भगवान के मुख को अनेक उपमाओं सहित वक्त्र शब्द से कहा गया।

शीलगुणव्रतसंयमपात्र श्री शान्तिजिन की उपासना—शील-गुणव्रत संयमपात्रं—शील आत्मा का ऐसा प्रधान आचार है कि जिससे संसार के दुःखों से पार हुआ जा सकता। काम-विषय की भावना न होने को शील कहते हैं, लेकिन इसका ठीक अर्थ लो तो अपने में स्थिर होने को शील कहते हैं। शील स्वभाव को कहते हैं, और

जो विभाव में न भटक स्वभाव में एकाकार हो गया वह है शीलवान। इस तरह शील मोक्ष कार्यरूप है और स्वभाव में स्थिर होने की निमित्तता से देखें तो वह मोक्ष में कारणरूप भी है। शील को ही उसके अर्थ की स्पष्टता से कहने वाला ब्रह्मचर्य शब्द है, जिसका मतलब स्पष्ट है कि ब्रह्म अर्थात् आत्मा में चर्या अर्थात् आचरण करना। तो ब्रह्मचर्य; आधार के भेद से ४ प्रकार का कहलाता है। वास्तविक रूप में भगवान के अनंतकाल तक के लिये ब्रह्म में या स्वरूप में लीनता हो गई सो सर्वोच्च और पूर्ण ब्रह्मचर्य वह है । उससे नीचे दरजे का किन्तु हमारी अपेक्षा से उत्कृष्ट, साधुओं में पाया जाने वाला ब्रह्मचर्य है जो स्वरूप में ठहरने का सतत प्रयास करते रहते हैं और समय-समय पर समाधिस्थ होते भी हैं। उससे नीचे दरजे का मध्यम ब्रह्मचर्य सप्तम प्रतिमाधारी आदि नैष्ठिक के श्रावक होता है, जिसने स्वरूप की सावधानी पूर्वक स्त्री मात्र का परित्याग कर दिया है। और सबसे जघन्य ब्रह्मचर्य सप्तम प्रतिमा से नीचे जघन्य नैष्ठिक श्रावक या पाक्षिक श्रावक के होता है, जो परदारा का त्याग करते हैं । उसे भी अणु ब्रह्मचर्य कहते हैं। आत्मस्वरूप की ओर ध्यान जाने से इतनी निवृत्ति इसमें हो जाती है कि वह अपनी स्त्री के सिवा संसार की सभी स्त्रियों में मातृत्व व पुत्रीत्व की भावना रखता है, इन सब में विषय का त्याग होने से अंशतः उसे भी ब्रह्मचर्य कह दिया। वस्तुतः स्वस्त्री का सेवन भी कुशील है ही। परदारा का सेवन तो कुशील है ही । परदारा सेवन में विषय और कषाय की तीव्रता होने से कुशील शब्द रूढ़ हो गया, चाहे वह संसार की अन्य स्त्रियों को छोड़ एक में ही क्यों न हो ? और स्वस्त्रीसन्तोष में विषय की मंदता होने से अणु ब्रह्मचर्य नाम दे दिया। सो वह भी जितने अंशों में परदारा निवृत्ति के भाव हैं उतने अंशों में और उस अपेक्षा से ब्रह्मचर्य है न कि, स्वस्त्री को भोगना ब्रह्मचर्य है। वह तो व्यभिचार ही है। एक बार शारीरिक शील भंग करने पर कितने ही करोड़ जीवों की हिंसा होती है। चाहे स्वस्त्री के विषय में हो चाहे परस्त्री के विषय में, विषयसेवन करने वालों को यह पाप तो लगता ही है। आत्मस्वरूप को पाने के लिये शारीरिक शीलव्रत जितना अधिक पले पालना चाहिये, इसके अलौकिक गुण हैं। ध्यान, अध्ययन, जप, तप सब इसी से सार्थक होते हैं। आजकल के मनुष्यों की आयु का विचार करते हुए यह आवश्यक है कि ४० वर्ष के बाद मनुष्य व ३५ वर्ष के बाद स्त्री पूर्ण ब्रह्मचर्य पाले। यदि इसके बाद भी संतान होने का सिलसिला जारी रहा तो वृद्धावस्था में भी कल्याण करने का ठिकाना नहीं रहेगा। संतान को पालते-पोषते ही जीवन का दुःखद अंत हो जावेगा। मनुष्य भव निरर्थक चला जायेगा। और संतान भी न हो तो भी उस अवस्था के बाद पाप के गड्ढे में पड़े रहकर अपनी मानसिक शक्ति और शारीरिक शक्ति को निचोड़ते रहना महान अज्ञानता है। फिर ज्ञान और ध्यान बढ़ाने की शक्ति कैसे आ सकती है या बढ़ाई जा सकती है ? और तो क्या णमोकार मंत्र का ठीक उच्चारण लाना भी कठिन पड़ेगा। श्री शान्तिनाथ भगवान नीचे दरजे का शील पालने वाले नहीं, किंतु शील और ब्रह्मचर्य का जो वास्तविक और पूर्ण रूप है उसके धारी हैं निरन्तर चिदानंद चैतन्यस्वरूप में लीन रहते हैं। भगवान अनंत चतुष्टय व और अनंत गुणों के धनी हैं। अब अरहंत अवस्था में सर्व विभावभावों के त्याग से (विरति से) उच्च व्रत नाम पाया है क्योंकि व्रत का अर्थ है—विरमणं व्रतं। अर्थात् त्याग करने को व्रत कहते हैं। इसी तरह आप व्यावहारिक

संयम नहीं किंतु पारमार्थिक संयम को प्राप्त हैं। यम संकोच को कहते हैं। आत्मा को बाह्यवृत्ति से संकोचकर आत्मा की तरफ लगाना यम है और सं अर्थात् सम्यक् प्रकार से परिपूर्ण रूप से आत्मा को आत्मा में लगा देना, बाह्यवृत्ति का सर्वथा त्याग हो जाना यह है संयम का पारमार्थिक या उत्कृष्टरूप। आप ऐसे उत्कृष्ट संयम को धारण करने वाले हैं।

अष्टशत्तार्चित लक्षणगात्र अम्बुजनेत्र जिनोत्तम की अभ्यर्चना—अष्टशतार्चित लक्षण गात्रं। आपका शरीर १००८ लक्षणों से चिह्नित है। सारे शरीर में शुभ चिह्न होते हैं । लोक में अन्य साधारण किन्तु जनता की मान्यता से कुछ विशेष पुरुषों के १-२ या १०-५ ही और वे भी साधारण रूप में शुभ - शंख, चक्र, गदा और यव आदि चिह्न होते हैं लेकिन भगवान के १००८ और वे भी स्पष्टतम और उत्तम चिह्न होते हैं, जिससे उनके शरीर की सर्वोत्कृष्टता प्रगट होती है। तीर्थंकरों के सिवा ऐसे १००८ शुभ चिह्न और किसी भी महापुरुषों के नहीं होते। तीर्थंकर प्रकृति की सहभावी पुण्यकर्म की विशेषता से ही ये होते हैं। पुण्यवान जीवों के शरीर की बनावट भी उस तरह की उत्तम होती है। अब भी हम लोग ऐसा आभास पाते हैं, किसी भले मनुष्य और भील आदि के शरीर में इस अंतर को समझा जा सकता है। शरीर के अच्छे होने से आत्मा अच्छी होती है यह बात नहीं है। पर आत्मा में विशेषता होने से शरीर भी विशिष्ट होता है, प्रायः यह बात अवश्य है। शरीर को देखकर आत्मा की बहुत-सी बातों का पता पड़ जाता है क्योंकि उसका निमित्तनैमित्तिक संबंध ऐसा ही होता है। जिस आत्मा ने पापकर्म संचित किया है उसके हुंडकस्थान नीचगोत्र, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अस्थिर और अयशःकीर्ति आदि अशुभ प्रकृतियों का उदय होता है और पुण्यात्माओं के समचतुरस्र संस्थान व तीर्थंकर आदि पुण्य प्रकृतियों का उदय होता है। 'नौमिजिनोत्तममंबुजनेत्रं' आप जिनों में उत्तम हैं। साधारण लोगों की दृष्टि की अपेक्षा अन्य सामान्य केवलियों की अपेक्षा आप में अतिशय अधिक होने से आप उनमें भी उत्तम हैं। अथवा जिन संज्ञा सम्यग्दृष्टि होने से शुरू हो जाती है। अविरतसम्यक्त्व गुणस्थान में मिथ्यात्व आदि बहुत-सी कर्मप्रकृतियों पर विजय पा ली जाती है । अतः वे जिन हैं । इससे ऊपर और गुणस्थानवर्ती भी जिन कहलाये । तो इन सब जिनों में आप उत्तम है **अम्बुजनेत्र इन्द्रनरेन्द्रगणपूज्य जिनोत्तम श्री शान्तिजिन की उपासना**—'अम्बुजनेत्रं' आप कमल के समान सुन्दर और कमलाकार विशाल नेत्र वाले हैं। अथवा कमल का विकास जैसे दर्शकों के लिये सुखकारी होता है, उसी तरह आपका ज्ञाननेत्र विकसित होने पर आपका दर्शन (उस शुद्धज्ञान सहित) करने से दर्शकों को (आत्मदर्शियों को) अलौकिक आनन्द होता हैं, इसलिये भी कमल के साथ आपके ज्ञाननेत्र की तुलना करते हैं। चैतन्यघन ज्ञान को जड़ कमल की तुलना तो क्या हो, लेकिन जो भी अच्छी उपमा यहां मिल सकती है वही देते हैं। अरहंत अवस्था में भगवान की दृष्टि अलौकिक सौम्यता को लिये होती है । मूर्ति में जिसकी कलात्मकता उतारने की हम भरसक कोशिश करते हैं लेकिन इस कृत्रिम व चैतन्य-शून्य मूर्ति में और फिर हम जैसे नाममात्र के कलाकार वह दृष्टि, वह सौम्यता, वीतरागता का चित्रण कहां ला सकते हैं ? तो आपके नेत्र प्रफुल्लित कमल के समान हैं। आत्मा में वह परमात्मीय शक्ति प्रगट होने से नेत्रों में भी अपूर्व

चमत्कार और सौन्दर्य आ गया है। मनरूपी राजा के भाव को कहने वाला या बताने वाला नेत्ररूपी मंत्री होता है। सो भगवान ! आपके अनंत चतुष्टय की झलक की असर आप के दिव्य नेत्रों में है।

गाथा ५८

पंचमभीप्सित-चक्रधराणां पूजितमिन्द्र-नरेन्द्र-गणैश्च ।

शान्तिकरंगण-शान्तिमभीप्सुः षोडश-तीर्थकरं प्रणमामि ।। ५८ ।।

'पंचमभीप्सितचक्रधराणां' हे शान्ति जिनेन्द्र ! आप चक्रवर्तियों में पांचवे चक्रवर्ती हैं। व्यवहार में आप छह खंड भरत क्षेत्र के स्वामी होकर भी अंतरंग में अणुमात्र के भी स्वामी नहीं हैं। जो स्वामी बनना चाहते हैं वे लोगों में आदर के पात्र नहीं होते और जो पर के स्वामीपन से दूर रहते वे आदरणीय होते। आपने परपदार्थों के स्वामित्व भाव को बिल्कुल दूर कर दिया। अतः पूरे भरत क्षेत्र के छह खंडों का आदर्श व्यावहारिक स्वामित्व प्राप्त हुआ। व्यवहार से विचार करें तो कर्म के उदय का यह नाटक मालूम पड़ता है कि जो तीन लोक का राजा बनने वाला है और उसे छह खंड भारत का राजा बनना पड़ा। लेकिन शान्तिनाथ तीर्थंकर ने गृहस्थ अवस्था में भी इस चक्रवर्तित्व को अपनी शोभा नहीं माना, उपाधि ही मानी। इसमें सुख नहीं माना परन्तु क्लेश का कारण ही समझा। **'पूजितमिन्द्रनरेन्द्रगणैश्च'** आप इन्द्र नरेन्द्र और गणधरों से पूजित हैं। जो वैभव-सम्पन्न होता वह इन्द्र कहलाता, और जो मनुष्यों में वैभवशाली होता वह नरेन्द्र तथा अपने आपको जो सन्मार्ग में ले जावे उसे नर कहते हैं । नर शब्द से ही नारायण बना है । नरों का जो उत्तम आचरण हो उसे अयन कहते हैं । जो सन्मार्ग के भाव में प्रतिष्ठित हो गये वे नारायण कहलाये। इसलिये उत्तम प्रकृति व आचरण के मनुष्यों को लोग नारायण कहा करते हैं। तो आप ऐसे सन्मार्गी नरेन्द्रों द्वारा व इन्द्र तथा गणेशों द्वारा पूजित हैं।

शान्तिकरं श्री शन्तिजिन का अभिनंदन—'शान्तिकरं गणशान्तिमभीत्सुः' ऋषि, यति, मुनि, अर्जिका अनगार - इन ४ प्रकार के साधुगणों की व मुनि, श्रावक, श्राविका इन गणों की व समस्त प्राणीसमूह की शान्ति को चाहने वाला भक्त शान्ति को करने वाले **'षोडश तीर्थंकरं प्रणमामि'** सोलहवें शान्तिनाथ तीर्थंकर को नमस्कार करता है। शान्ति आत्मा का स्वभाव है, सुख शान्ति में ही मिलता है। अशान्ति सबको अप्रिय है, पर अज्ञानता से उसकी भी इच्छा की जाती है। संसार के वैभव को चाहना, संसार के वैभव को गौरव की दृष्टि से देखना, सांसारिक वैभवशालियों को विशेष सम्मान देना, वर्तमान में व भविष्य के लिये सांसारिक इच्छाओं की पूर्ति को चाहना आदि विकल्प तथा शरीर में कर्तृत्व की बुद्धि बनाना; ये सब अशान्ति को चाहने के रूप हैं। लेकिन जिसने अशान्ति को दुःखरूप अनुभव कर लिया और वह कर्तृत्व बुद्धि से मिलती है, ऐसा मान लिया वह स्वरूप की दृष्टि रखने वाला भक्त भगवान से अपनी भावना व्यक्त कर रहा है कि मैं आकुलता के फंद में अनादिकाल से फंसा था, अब निराकुलता का इच्छुक हूं जो कि मोक्षरूप है, अर्थात् अपना नाता मैने संसार से तोड़ मोक्ष से जोड़ लिया है। जिस तरह मैं अपने में निराकुलता चाहता हूं उसी तरह धर्मात्माओं में तथा सारे संसार के

प्राणियों में निराकुलता का साम्राज्य हो, संसार की परिणति से छूट मोक्ष की दिशा में पग बढ़ावें क्योंकि निराकुलता का रास्ता वही है, इस तरह अपनी श्रद्धा को मजबूत करता हुआ, भावना को निर्मल बनाता हुआ कि सर्वत्र शान्ति हो, भक्त भगवान को नमस्कार करता है। यद्यपि शान्ति अपनी परिणति से ही आयेगी परन्तु निमित्त की अपेक्षा से भगवान शांतस्वरूप जो हैं उनको नमस्कार करके अपने में बल लाता है क्योंकि शांतस्वरूप दोनों के हैं। पर्याय में इसके नहीं है तो भी इसका इच्छुक है। पूजक अपने लिये व जगत के जीवों को शुद्ध चैतन्य का विकास ही चाहता है, सुखशान्ति चाहता है। वह ऐहिक इच्छा नहीं रखता फिर भी पूजा करने वाले को संसार का वैभव अब नहीं तो तब मिलता अवश्य है। वह यह भी नहीं चाहता कि भगवान हमें मोक्ष दे क्योंकि सच्चे पूजक की श्रद्धा सच्ची होती है। वह इतना खूब अच्छी तरह जानता है कि अन्य पदार्थ अन्य पदार्थ का कर्ता नहीं हो सकता। भगवान हमको कुछ देंगे ऐसी श्रद्धा भक्त के नहीं है फिर भी गुणानुराग में और स्वरूप-मिलान की उमंग में अपनापन प्रगट करता है। भगवान का आदर जो हृदय में बैठ गया है, वह ऐसा भी कहलवाता है। अनादि से तो संसार के तत्त्वों में आदर-बुद्धि कर रखी थी। अब आत्मवैभव का पता पड़ा है तब दृष्टि वहां से हटकर यहां गड़ गई है।

पूजा के प्रयोजकत्व की समस्या का समाधान—कई लोग कहते कि आज भगवान की पूजा नहीं हुई, भगवान पूजा से रह गये सो यह बात नहीं है । भगवान पूजा से नहीं रहते और न किसी के पूजने से ही उनमें पूज्यपना आता। वे तो अपने रूप से जैसे हैं सो हैं। उनका प्रभुत्व सदा के लिये अमर है । पर पुवासा तो वह रहता जो पूजा, भक्ति व दर्शन नहीं करता। सच बात यह है कि जब तक विकाररहित चैतन्य का ध्यान नहीं आता तब तक सारी परिपाटी अस्तव्यस्त चलती है। इच्छाएं नाना तरह की बनती हैं। जिनको हटाने से अभीष्ट प्राप्त होता है उन्हीं को बढ़ाता है, क्योंकि अभीष्ट की पहिचान हुई नहीं, चाहना क्या चाहिये यह जाना नहीं और चाह की पूर्ति कहां से होगी, यह भी जाना नहीं और मेरा स्वरूप चाह से रहित चिदानन्दमय है यह जाना नहीं। जिनको ऐसा ज्ञान हुआ है वे ही भगवान के सच्चे पूजक हैं। शान्ति के मार्ग पर वे ही चल सकेंगे।

गाथा ५९

दिव्यतरुः सुरपुष्पसुवृष्टिर्दुन्दुभिरासनयोजनघोषौ।

आतपवारणचामरयुग्मे यस्य विभाति च मण्डलतेजः।।५९।।

अष्टप्रातिहार्यराजित श्री शान्तिजिन का स्तवन—दूसरों के चित्त को हरने वाली अलौकिक विभूति जिसके होती है उसे प्रतिहार कहते हैं, ऐसा प्रतिहार (सेवक) इन्द्र होता है । उसका जो काम होता है उसे प्रातिहार्य कहते हैं। जैसे—इष्टछत्तीसी में कहा है—''तरु अशोक के निकट में सिंहासन छविदार। तीन छत्र सिरपर लसै भामण्डल पिछवार।। दिव्यध्वनि मुखतै खिरै पुष्पवृष्टि सुर होय। ढोरें चौंसठ चमर जख बाजें दुन्दुभिजेय।'' ये आठ प्रतिहार्य किसके हैं ? उत्तर—ये प्रतिहार्य इन्द्र के हैं, भगवान के नहीं पर भगवान के कहे जाते हैं, इसलिये

कि भगवान के निमित्त से भगवान के लिये ही इन्द्र करता है। दिव्यध्वनि को प्रसारित करने में भी इन्द्र का हाथ है इसलिये वह भी उन आठों में शामिल है। दिव्यध्वनि के श्रवण वगैरह की समोशरण की सारी व्यवस्था इन्द्र करता है। अतः वह भी उसका कार्य कहला सकता है।

श्री जिनका प्रथम प्रातिहार्य दिव्यतरु—दिव्यतरु:—अशोकवृक्ष— भगवान को केवलज्ञान होने पर इन्द्र कुबेर की मदद से जो अशोक वृक्ष बनाता है, वह दर्शकों के शोक को हरने वाला होता है। समवशरण आते ही शोक तो भगवान के प्रताप से और निश्चयतः अपनी भावनाओं की निर्मलता से रहता ही नहीं फिर भी उसमें अशोक वृक्ष अलंकार देता है। उसकी अनूठी रचना और सुन्दरता मनमोहक होती है। पृथ्वीकायिक रत्नादि से निर्मित उन्नत विशाल वृक्ष श्री-मण्डप के ऊपर जो कि स्फटिक मणि का होता है, नीचे बैठे हुए भव्यों को जो कि भगवान की दिव्यध्वनि सुनते हैं, जब दृष्टि वृक्ष पर जाती तो समवशरण की जैसी अतिशय वाली चीजों के निमित्त से विशेष आह्लादित होकर सुकोमल और निर्मल भावों का उद्दीपन होता। अथवा जिस वृक्ष के नीचे सभाओं में बैठे हुए भव्य, भगवान के निमित्त से शोकरहित हो जाते हैं उस वृक्ष को ही अशोकवृक्ष कहा जाने लगा। वास्तव में तो असली निमित्त शोक हरने में भगवान का ही है। कवि कल्पना करते हैं कि जिस अशोकवृक्ष की कांति के समक्ष अन्य वृक्ष नीराग (कांति-सौन्दर्यरहित) हो जाते हैं वहां सभा में बैठे हुए संज्ञी प्राणी क्यों न नीराग याने रागरहित, वीतराग हो जायेंगे ? अर्थात् होंगे ही। भगवान के धर्मोपदेश से जब वृक्ष भी शोकरहित हो गया तो मनुष्यों का तो कहना ही क्या ? यह तो अलंकारिक भाषा की बात है, लेकिन यह तो बात यथार्थ ही है कि भगवान को केवलज्ञान होते ही वह वृक्ष, जिस वृक्ष के नीचे उन्हें बोध प्राप्त होता है, अशोकवृक्ष कहलाने लगता है और यह भी बात ठीक है कि भगवान के समवशरण में जो भी प्राणी जाते है उनके रोग, शोक, क्लेश, भय, उन्माद, चिंता, भूख, प्यास बैर और विरोध आदि दोष उतने समय के लिये शांत हो जाते हैं। जहां मोह गया या मंद पड़ा वहां शोक कहां ? प्राणी मोह के कारण कल्पना मात्र से दु:खी हो रहे हैं। दु:ख केवल अज्ञान का है। अज्ञान के रहते ही संयोग-वियोग व अन्य चेष्टाओं से दु:खी होता है। पर के साथ में कर्तृत्व और स्वामित्व का भाव दोनों दु:ख के कारण हैं। कल्पना के सिवा दु:ख है क्या चीज है ? इसका निदान यदि ठीक समझ में आ जाये तो दु:ख नहीं रहे। भगवान पहिले दर्शनमोह को जीत जिन बने, आगे बढ़े, मुनि हुए, श्रेणी मांड़ी और क्षीणमोह होकर जिनेन्द्र कहलाये। शोक समूल नष्ट हो जाने से उनके समीप में जो पहुंचता है वह भी शोकरहित हो जाता है। जैसे सूर्य के प्रताप और प्रकाश को पा जीव जाग्रत हो जाते हैं उसी तरह शान्ति-जिनेन्द्र के जिन्होंने दर्शन किये वे भी शान्त हो जाते हैं।

श्री जिन का द्वितीय प्रातिहार्य सुपुष्पवृष्टि—दूसरा प्रातिहार्य है पुष्पवर्षा । देवता लोग आकाश में चलते हुए जिनेन्द्र के स्थान पर पुष्पवर्षा करते हैं। फूलों का डण्ठल भाग ऊपर रहता है और पाखुंडी नीचे। परन्तु भगवान के समीप गिरते हैं तो वहां डण्ठल नीचे हो जाता है । ऐसे वे पुष्प हमें शिक्षा दे रहे हैं के डंठल अर्थात् बंधन

नीचे या शिथिल हो जावेंगे, जो भी भगवान के निकट आवेगा। इसको यदि हम अपने पर घटावें तो भगवान तो हम स्वयं चैतन्य प्रभु हैं । उसके पास 'पुष्प' या कहो 'काम' आ रहे हैं क्योंकि काम का बाण पुष्प बतलाया है। तो पुष्प काम-विकार या उपलक्षण से रागद्वेष आदि कहलाये। ये विकार यहां चैतन्य प्रभु की सेवा में दौड़-दौड़कर आते हैं (बरसते हैं), शान के साथ आते हैं, लेकिन विरूप निम्न बंधनी बन जाते हैं जैसे फूल। इसी तरह चैतन्य पर हमला तो जरूर करते पर पददलित हो जाते हैं क्योंकि चैतन्य की भूमिका में उनका प्रवेश नहीं हैं। ऐसा चैतन्यदेव अपने ही निकट बना रहे (परपदार्थों में न भटके) तो कर्मों को दूर कर सकता है। और शान्तिनाथ जिनेन्द्र के पास जो जाता है उसकी रुचि धर्म में प्रायः होती ही है।

दुंदुभि व सिंहासन नामक तृतीय व चतुर्थ प्रातिहार्य—तीसरा प्रातिहार्य दुंदुभि बाजों का बजना है। देवता लोग दुंदुभि बाजे बजाते हैं जो कि अति मधुर कर्णप्रिय होते हैं। वे बाजे सैकड़ों तरह के बजते हैं फिर भी बेस्वर नहीं होते। दुंदुभि के शब्द मानों यह कह रहे हैं कि भगवान की सेवा का यह अपूर्व अवसर है। ये जिनेन्द्र मोक्षमार्ग के नेता हैं, मोक्ष में ले जाने के लिये सारथी के समान हैं, इन प्रभु की सेवा में आओ। इन दुंदुभि के शब्दों से जैसे धर्मोत्साह बढ़ता उसी तरह चैतन्य प्रभु की उपासना के अर्थ अंतर-जल्प ओम शब्द का आदि के द्वारा स्वरूप की उत्कण्ठा होती है। जब चित्त में प्रसन्नता होती है तो गाने का स्वर निकलता है। उसी तरह स्वरूपप्राप्ति की प्रसन्नता में जो गुनगुनाहट निकलती है वह चैतन्य प्रभु का स्मरण है। चौथा प्रातिहार्य सिंहासन है, जिसकी रचना अनुपम होती है। उसके ऊपर ४ अंगुल ऊंचे अधर अंतरिक्ष भगवान विराजते हैं। इन्द्र की आज्ञा से कुबेर अत्यन्त भक्तिभाव से यह सब सुन्दर रचना करते हैं। जैसे पंचकल्याणक आदि के उत्सवों पर भक्ति के वश जहाँ तक बनती है सुन्दर रचना करते हैं।

दिव्यध्वनिनामक पंचम प्रातिहार्य—पाँचवाँ प्रातिहार्य भगवान की दिव्यध्वनि का होना है। यह इन्द्र का प्रातिहार्य नहीं हैं, फिर भी इन्द्र की आज्ञा से मागध जाति के देवों द्वारा उस ध्वनि का प्रसार दूर-दूर तक किया जाता है इसलिये दिव्यध्वनि भी कदाचित् इन्द्र का प्रातिहार्य है। दिव्यध्वनि के बारे में दो मत हैं। कई का कहना यह भी है कि भगवान की वाणी मुख से ही खिरती है और सर्वांग से खिरने की प्रसिद्धि तो है ही। यह आत्मा स्वयं अजर अमर है, चिदानंद प्रभु है, फिर भी अपने को दीन मानता है। जब भगवान की वाणी कानों में पहुंचती है तो अनुभव होता है कि मैं ज्ञानपुंज हूं। जगत-जीवों को अपने स्वतंत्र सत् का ज्ञान नहीं है। यह हो जाना बड़ा भारी काम है। अपने आप की व्यवस्था करना सबसे बड़ा काम है। यह बड़ा काम भगवान की वाणी के निमित्त से बहुतों का हो जाता है। भगवान की वाणी कहलाती है लेकिन वाणी तो पुद्गलात्मक है, जड़ है और भगवान चैतन्य पुंज, उनकी वाणी कहने से एक तरह भगवान का अपमान है। लेकिन दूसरी तरह से इसमें भगवान का गौरव ही है कि जिस वाणी में ऐसा जादू है कि अगणित जीवों के मोह का पर्दा हट जाता है, अपने प्रभुत्व को पहिचान कर भगवान-सम बन जाते हैं। शुद्ध चेतनामय भगवान के संसर्ग से निकली हुई ध्वनि

का यह महत्त्व वर्णनातीत है। मोक्षमार्ग का प्रणयन हमेशा से भगवान की इसी वाणी से होता आया है और अनंतकाल तक होता रहेगा। यदि यह निमित्त न होता तो मोक्ष का मार्ग बन्द ही रहता। लेकिन यह न हुआ और न मोक्षमार्ग रूद्ध हुआ। अनन्तानन्त जीव जो सिद्धि-लाभ करते हैं उसमें बाह्य निमित्त साक्षात् या परम्परा भगवान की दिव्यध्वनि ही है। दिव्यध्वनि का ऐसा महत्त्व है।

श्री जिन का षष्ठ प्रातिहार्य अनुपम छत्र—छठा प्रातिहार्य है— तीन छत्रों का भगवान के सिर पर शोभित होना। भगवान तीन लोक के राजा हैं । मानों ये वैभव इसीलिये अपना रूप छत्र का बनाकर भगवान की शोभा बढ़ा रहे हैं, सेवा के लिये प्रस्तुत हुए हैं। कल्पना में कवि कहता है कि छत्रों ने सौन्दर्य में चन्द्रमा को जीत लिया है। तभी तो भगवान की निकटता को पा सके अन्यथा चन्द्रदेव तो दूर ही रहता। अथवा भगवान के शरीर की कांति ने चन्द्रमा की कांति को जीत लिया है। अतः वह त्रिविधरूप से बलि-बलि होकर भगवान की सेवा में आया हुआ है। राजा, महाराजा व दुल्हा के छत्र लगाते हैं। वह क्या है ? बड़ों की नकल लोग इसलिये करने लगे हैं कि उस चीज को बड़ों के पास रहने से प्रतिष्ठा प्राप्त हो गई है। भगवान के सिर पर उनकी महत्ता का द्योतक छत्र रहा तो बड़प्पन बनाने के लिये अन्य साधारण प्राणी भी उसे लगाने लगे। लेकिन इससे भगवान का महत्त्व घटता नहीं किंतु उससे हमें उनके अतिशयों की प्रामाणिकता का सबूत मिलता है। जब साधारण पुरुषों के भी उनके महत्त्व दिखलाने वाली बातें मिलती हैं तो भगवान के होना तो सम्भव ही है, जबकि कई लोग उन्हें असम्भवसा मान लेते हैं क्योंकि उनके हृदय में उतनी कल्पना नहीं बन सकती। सीमित ज्ञान में सीमित ही विषय पड़ता है। लेकिन इतना तो हर कोई विचार कर सकता है कि जिसको पूर्ण समाधि के महान पुरुषार्थ से पूर्ण ज्ञान, पूर्ण सुख, पूर्ण शक्ति और पूर्ण निर्विकारता प्राप्त हुई हो उस आत्मा के वैभव का क्या पूछना ? उसका अचिंत्य, अनंत वैभव तो उनके अन्तस्तत्त्व में ही समाया रहता है जिसे साधारण तुच्छ प्राणी देख नहीं सकते। उसे तो कोई बिरले आत्मानुभवी पुरुष ही अपने किंचित् आत्मवैभव बल पर परख सकते हैं। फिर उस दिव्य आत्मा के संसर्ग से उस शरीर में व आस-पास की वस्तुओं में कुछ चमत्कार झलके, अलौकिक सौन्दर्य और कला प्रगट हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या ? कई आश्चर्य की सी बातें तो हमको साधारण से प्रसंगों व पदार्थों में देखने को मिलती रहती हैं। फिर भगवान के विषय में शंका ही क्यों ?

श्री जिनका सप्तम प्रातिहार्य चंवर ढुलन—सातवाँ प्रातिहार्य है— भगवान के दोनों पार्श्व भागों में ६४ चमरों का ढुलना। चमर ढुलने के समय नीचे से ऊपर को जाते हैं, इससे वे यह बताते हैं कि भगवान के चरणों में जो आयेगा, झुकेगा वह उन्नत होगा, ऊपर उठेगा, गौरव प्राप्त करेगा। इसमें क्या संदेह है कि जो भगवान की सेवा में आते हैं वे कृतार्थ हो जाते हैं। जिस स्थान पर भगवान ने निर्वाण पाया है वह स्थान भी पूज्य हो जाता है और कई तो ऐसा भी कहने लगे कि तीर्थराज की भूमि पर जो असंख्य घास-फूल उगती है वह भी तिर

जाती है। इस बात में कितनी सचाई है यह बात दूसरी है किंतु ऐसा कहने से भगवान के सम्पर्क का महत्त्व प्रगट होता हैं, इतनी बात तो अवश्य है।

श्रीजिन का अष्टम प्रातिहार्य भामण्डल—भामण्डल—आठवाँ प्रातिहार्य है। भगवान के दिव्य शरीर से एक आभा निकलती है जिससे पीछे की तरफ वलयाकार एक कांति-मण्डल बन जाता है। देवता लोग उसी के अनुरूप एक ओर प्रभा-मण्डल रचते हैं। वह भी पीठ पीछे होता है। उसकी कांति ऐसी अद्भुत होती है कि सूर्य-चन्द्रमाओं का प्रकाश और सौन्दर्य भी मात खाता है और सबसे बड़ी विशेषता उसकी यह है कि उसमें भव्य प्राणियों को अपने-अपने भव; पहिले के तीन, आगे के तीन और एक वर्तमान मौजूद का— ऐसे ७ भव दिखते हैं। पूजक शांति तथा तीर्थंकर का नाम लेकर ये ८ प्रातिहार्य अरहंत अवस्था के बखान रहा है। ऐसे ही प्रातिहार्य प्रत्येक तीर्थंकरों के हुआ ही करते हैं। जो भी तीर्थंकर होते हैं उनके ये प्रातिहार्य होते हैं। इसकी शोभा का वर्णन करना कठिन है। इंद्र अपनी अतुल ऋद्धि के द्वारा इस रूप सेवा करके अपने को सफल बनाता है।

गाथा ६०

तं जगदर्चितशांतिजिनेन्द्रं शांतिकरं शिरसा प्रणमामि।

सर्वगणाय तु यच्छतु शांति मह्यमरं पठते परमां च ।। ६० ।।

श्री शांतिजिन की उपासना में सर्वगण के लिये शांतिलाभ की अभ्यर्चना—भगवान सबको शांति दें और मुझे भी। वे शांतिनाथ जिनेन्द्र संसार के महापुरुषों द्वारा भी पूज्य हैं । और जिनके निमित्त से असंख्य प्राणियों को शांतिलाभ होता है ऐसे शांतिनाथ भगवान को अथवा शांतिस्वरूप अरहंत समूह को मैं शिर से प्रणाम करता हूं। मैं उनका पाठ उत्कृष्टता-पूर्वक श्रद्धा और विनयपूर्वक मन, वचन और काय इन तीनों योगों को लगाकर अनुमोदना से करता हूं। पूजक का हृदय भगवान की स्तुति और पूजा में इतना झुक जाता है कि वह नम्रता का प्रतीक बन जाता है वह भी लौकिक कार्यों की श्रद्धा से नहीं किंतु शुद्ध चैतन्य की श्रद्धा से प्रेरित होकर होता है। अपने चैतन्य की खबर होने से उसमें अकल नहीं आती कि स्वरूप से हम भी तो भगवान हैं, क्यों किसी को पूजें ? प्रत्युत होता यह है कि अपने स्वरूप की महानता की खबर पड़ने से जिन्होंने वह रूप प्रगट कर लिया है उनके प्रति उसके भाव अत्यंत समादर के हो जाते हैं, उनको वह अपने हृदय-कमल में विराजमान रखने की भरसक चेष्टा में रहता है। जब भी उसके विकल्प आते हैं उनके दर्शनों के लिये (शुद्ध चैतन्य के अनुभव के लिये) लालायित रहता है, उनके दर्शन को सबसे बड़ा लाभ मानता है। वह निज को निज और पर को पर समझता हुआ भी अरहंत सिद्धों के प्रति भक्त का भाव खींचा रहता है, उनके स्मरण-कीर्तन में परम आनंद का अनुभव होता है, उनके स्वरूप का आस्वादन करके भूखा रहता हुआ भी अमृतपान किये हुए के समान तृप्त और संतुष्ट रहता है । ऐसा प्रभु के प्रति खिंचाव जब हो जाता है तो कभी-कभी पूज्य और पूजक

का भेद मिट जाता है, इनकी एकाकारता प्रगट हो जाती है अर्थात् वे विकल्प मिटकर वह चिदानंद भगवान में लीन हो जाता है। फिर यदि जब समाधि-विभाव टूटता है तो उस अनुभव के स्मरण से वह गद्गद् हो उठता है। पूजक की यह वृत्ति उसे पूज्य पद में आसीन करने को समर्थ होती है। जितने भी परमेष्ठी या पूज्य पद में जो प्राप्त हुए हैं, वर्तमान में हैं और होते रहेंगे वे इसी तरह पूज्य आत्माओं में अनन्य भक्तिपूर्वक याने सच्चे पूजक बनकर पूज्य हुए हैं। प्रत्येक भव्य के लिये यह रास्ता खुला हुआ है । वह अपनी स्वतंत्रता का सदुपयोग पूज्य आत्माओं में अनन्य श्रद्धा और भक्ति करके कर सकता है । ऐसा करके साधारण लोक में तो वह तत्क्षण पूज्य बन जाता है और आगे को सुदृढ़ भावना और साधना से आत्मा का जो परम विकास होगा उससे उसकी पूज्यता की तुलना भगवान से ही की जा सकेगी या कहिये वह स्वयं भगवान बनेगा। यहां पर पूज्यता का लोभ या पक्ष की तरफ दृष्टि नहीं खींची जा रही है किंतु यह स्पष्ट किया जा रहा है कि हमारी दीनवृत्ति की इति महान आत्माओं की श्रद्धा करने, उनके संपर्क को बढ़ाने से हो सकती है। वे ही ऐसा कर देंगे सो बात तो नहीं है, करना तो सब आपको ही है, किंतु वह निमित्त ही ऐसा योग्य है कि योग्य आत्माओं को (उपादानों को) निमित्तरूप पड़ता, असमर्थ उपादानों के लिये कदापि नहीं।

(वसन्ततिलका)

गाथा ६१

येऽभ्यर्चिता मुकुटकुण्डलहाररत्नैः, शक्रादिभिः सुरगणैः स्तुतपादपद्माः।

ते मे जिना प्रवरवंशजगत्प्रदीपास्तीर्थंकराः, सतत-शांतिकरा भवन्तु ।। ६१ ।।

अभ्यर्चित शांतिजिन की सतत शांतिकरता की भावना— दीक्षा लेने से पूर्व कुमार या राज्यकाल में इन्होंने दिव्य मुकुट, कुंडल और हार आदि आभूषणों से तथा वस्त्र और जीवपयोगी सभी सामग्रियों को भेंट करते रहकर अपना भक्तिभाव जिनके प्रति प्रगट करते रहे वे तीर्थंकर महान श्रेष्ठ कुल में प्रवर संसार को प्रकाश देने के लिये उत्पन्न हुए थे। उन्होंने अरहंत अवस्था में तो मोक्षमार्ग का प्रणयन कर संसार को आलौकित किया ही, लेकिन संन्यास लेने के पहिले भी उनकी अनुपम बाल-अवस्था और यौवन-अवस्था भी संपर्क में आये हुए भाग्यशालियों के लिये कम आह्लादकारी नहीं थी। अभी भी कोई विशेष पुण्यात्मा जो कि साथ में सब कलाओं से परिपूर्ण के सौंदर्य और ज्ञान से सम्पन्न हो और हो निर्मल विचार का परोपकारी तो ऐसे होनहार बच्चे को देख कौन की आँखें तृप्त नहीं हो जाती हैं ? अर्थात् उसे देखते रहने को किसका जी नहीं चाहता ? तो भक्त का भाव कुछ पूर्व अवस्था की महिमा की ओर खिंच गया, वह निर्मल आत्मा के बाह्य वैभव पर एक झलक डालता है, आपकी महानता हर तरह से है और वह अभी ही नहीं बनी है। आप गर्भ में आने के पहिले से ही यह संदेश लेकर आये हैं। आपका जन्म होते ही संसार ने आपको एक अलौकिक पुरुष के रूप में देखा है। ऐसे हे भगवन्

! आप हमें हमेशा शांति करने वाले हो। हे भगवन् ! हम सब में निर्मोहता आवे कि जिसमें शांति रहे उसमें कारण आप हों। आपका स्वरूप चिंतवन, मनन, स्मरण कर हम निर्मोही और वीतरागी बनें।

(इन्द्रव्रजा)

गाथा ६२

संपूजकानां प्रतिपालकानां, यतीन्द्रसामान्यतपोधनानाम्।

देशस्य राष्ट्रस्य पुरस्य राज्ञः, करोतु शांतिभगवाञ्जिनेन्द्र ।। ६२ ।।

श्री शांतिजिन की उपासना में देश, राष्ट्र, नगर व राजा के शांति की अभ्यर्चना—भगवान की अर्चा करने वाला अपनी निर्मलता व्यक्त करता कि सम्यक् प्रकार से भक्ति करने वाले या विवेकपूर्वक सत्यार्थ तत्त्वों की व सच्चे देव शास्त्र गुरुओं की, धर्म धर्मायतनों की यथायोग्य पूजा करने वालों को, प्रजा की रक्षा करने वाले शासकों को, महान् तपस्वियों व साधारण साधुओं तथा देश राष्ट्र व नगर के व्यक्तियों को व राजा को शांतिलाभ आपके प्रसाद से आपके बताये हुए सत्यार्थपथ के अनुसरण से प्राप्त हो। सबको एक साथ शांति की कामना की जा सकती थी, लेकिन अलग-अलग कहने की कुछ विशेषता है। वह यह यद्यपि पूजक लोगों में शांति होती ही है, फिर भी बाह्य उपाधि, रोग, उपद्रव व कलह आदि का निमित्त उनकी शांति में बाधक न हो जिससे कि मन में क्षोभ व क्लेश बढ़कर निर्मलता में कमी पड़े। यही बात यतीन्द्र और साधारण साधुओं के लिये है। वे शांति के पथ पर चलने वाले शांत ही होते हैं लेकिन परकृत उपद्रव ऐसा रोग उपसर्ग आदि उनकी शांति में बाधक न हों, तथा कर्मोदय की तीव्रता भी न आवे, जिससे कि शांति में फरक पड़े अथवा मोक्षमार्ग में लगे हुए इन सबको वह आत्मस्वरूप की स्थिरता प्राप्त हो जिससे पूर्ण वीतरागी बनकर शांति-लाभ करें। देश, राष्ट्र व नगर में शांति की भावना का मतलब है उनमें स्वयं शांति की योग्यता आवे। आधि, व्याधि और उपाधि न होकर भी यदि आत्मदृष्टि न होगी तो शांति कैसे आवेगी ? अतः इनमें इन सबकी आत्माओं में से मोह का अस्तित्व खत्म हो जाये या मन्द पड़े। इन्हें अपना, अपने शांत स्वरूप का भान हो जिससे ये शांति-लाभ करें। भक्त की यह भावना अपने लिये स्वयं शांति में रहने की प्रेरणा करने वाली है। क्योंकि जब वह दूसरों को शांत देखना चाहता है तो स्वयं क्या अशांत रहना चाहेगा ? कदापि नहीं। फिर दूसरों को शांति के लिये भी अपना व्यवहार सच्चा सात्विक और कष्टहर बनाना पड़ेगा; परोपकार, दया, समता और क्षमा, सरलता, निरभिमान, निर्लोभिता, संयम और ब्रह्मचर्य की साधना रखनी पड़ेगी। यदि इन बातों पर ध्यान न रहेगा, इनको नहीं पालेगा तो अपने में विषय-कषायों की तीव्रता होगी और विषय-कषायों की तीव्रता होने से सम्पर्क में आये हुए प्राणियों को आकुलता पैदा हुए बिना न रहेगी, अतः जगत की शांति को सच्चे अर्थों में चाहने का मतलब है स्वयं विषयकषायों पर विजय पाते हुए त्यागी, सम्मानी और वीतरागी साधु का जीवन व्यतीत करें। गृहस्थाश्रम में भी इनका यथासाध्य

निर्वाह हो सकता है। गृहस्थाश्रम में भी साधुपना न हो तो अशांति की बहुलता ही रहा करे, घर-कुटुम्ब के अड़ोस-पड़ोस के व्यक्ति दु:ख, चिंता, विवाद और विसंवाद में ही पड़े रहें। अतः सात्विक जीवन की उपादेयता हरएक श्रेणी में अवश्य ही है। जीवन जितना सात्विक होगा उतनी ही शांति रह सकेगी। इसमें कोई संदेह नहीं है।

(शार्दुलविक्रीड़ित)

गाथा ६३

क्षेमं सर्वप्रजानां प्रभवतु बलवान् धार्मिको भूमिपालः।

काले काले च सम्यग्वर्षतु मघवा, व्याधयो यान्तु नाशम्।।६३।।

दुर्भिक्षं चौरमारीक्षणमपि, जगतां मा स्म भूज्जीवलोके।

जैनेन्द्रं धर्मचक्रं प्रभवतु सततं सर्वसौख्यप्रदायि ।। ६४ ।।

राजा व प्रजा के लिये मंगलभावना करके सर्वात्महितकारी जिनधर्मचक्र के प्रभाव की अभिभावना—पूजक शांति के लिये आगे कहता है कि सब सुखों को देने वाला या सम्पूर्ण प्राणीमात्र को सुख देने वाला जिनेन्द्र वीतराग सर्वज्ञ ! आपके द्वारा प्रणीत अहिंसा धर्म निरन्तर प्रवर्धमान रहे कि जिससे मानसिक विकारों का जो कि शांति में बाधक ही नहीं, स्वयं अशांतिरूप है, यथासंभव उन्मूलन हो जाये, अशांति की जड़ कट जाये। मानसिक अशांति लिये अधार्मिकता का हटना नितांत आवश्यक है। बाहिर में सब सुख सुविधाएं हों, कोई तरह की आकस्मिक घटनायें न हों, फिर भी मन की अधार्मिकता शांत न रहने देगी। अशांति पैदा करने वाला कोई न कोई फितूर खड़ा ही रहेगा। और फिर बाहिरी कलह उपद्रव ही तो अशांति नहीं है, भीतर आत्मा में जो चंचलता आकुलता व्याकुलता होती है वही तो अशांति है। अशांति को हटाना, कल्याण को चाहना, इस का मतलब है— मन के इन संकल्प-विकल्पों को दूर किया जाये और इनका दूर होना धर्म आने पर निर्भर है। धर्म; आत्मा का स्वभाव है, स्वभाव का अस्तित्व तो कभी खत्म नहीं होता, फिर भी जब तक उसे पहिचाने नहीं, माने नहीं, उसमें रमें नहीं तब तक धर्म आया नहीं कहलाता, अतः कल्याण चाहने के लिये मूल तत्त्व है— धर्म की प्राप्ति। वह आने पर बाह्य उपद्रव, रोग, मरी, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, दुर्भिक्ष, आदि भी न आवेंगे, क्योंकि ये सब अनिष्ठ प्रसंग पाप के कारण से उपस्थित होते हैं। फिर भी पूजक कहता है कि ये बाह्यपदार्थ उपद्रव क्लेश करने वाले नहीं, इनको नहीं चाहने का भी मतलब अपना पुण्यरूप जीवन बनाने का है। जगत का क्षेम चाहना, स्वयं क्षेमरूप रहने का द्योतक है । हम दूसरों को सुखी देखना चाहते हैं - यह निर्मलता उदात्त भावनाओं का रूप है। जिसका हृदय कुटिल है, कठोर पापी ओर स्वार्थी है उसको क्या गरज पड़ी दूसरों के सुख की चाह की ? अतः हे भगवान् ! मैं स्वयं तथा संज्ञी सभी प्राणी कल्याण के मार्ग में लगे रहें, कल्याणमय हों, स्वयं

तथा दूसरों के लिये कल्याणकर हों। किसी को किसी भी तरह का कष्ट न हो। रोग तथा और उपद्रव आवें ही नहीं। यदि आवें तो उन्हें समतापूर्वक सहन करने की हममें क्षमता हो जिससे कि हमारा कल्याणपथ प्रशस्त बनता जाये और हम पूर्ण कल्याणरूप हों।

(अनुष्टुप)

गाथा ६५

प्रध्वस्तघातिकर्माणः केवलज्ञानभास्कराः।

कुर्वन्तु जगतां शांतिं वृषभाद्या जिनेश्वराः ।। ६५ ।।

वृषभादि जिनेश्वरों की उपासना में सर्वलोक के शान्तिकरण की अभ्यर्थना—घातिया कर्मों को नष्ट करने वाले तथा केवलज्ञानरूपी सूर्य जिनके उदित हो गया ऐसे ऋषभनाथ से लेकर महावीर पर्यन्त इस अवसर्पिणी के वर्तमान तीर्थंकर तथा धातकीखंड और पुष्करार्ध के अन्य ४ भरत क्षेत्रों में हुए २४, २४ तीर्थंकर, इसी तरह ५ ऐरावतों में वर्तमान २४ तीर्थंकर तथा भूतकाल में हो गये इन सब क्षेत्रों के तीर्थंकर और भविष्य में असंख्य तीर्थंकर व तीर्थंकर पद के अलावा भूत-भविष्य-वर्तमान काल संबंधी अनंत केवलज्ञानी अरहंत जगत की शांति करें। भरत और ऐरावत क्षेत्रों के चौथे काल में जो तीर्थंकर या केवलज्ञानी हो चुके उन्हें वर्तमान कालिक कहते हैं, क्योंकि वे इसी अवसर्पिणी में हुए हैं तथा आगे पीछे की उत्सर्पिणी में होने वाले भविष्यत् व भूत-कालीन तीर्थंकर या केवली कहलाते हैं और विदेह क्षेत्रों में तो निरन्तर एक-सा ही चौथे काल के प्रारम्भ काल के समान समय रहता है जहां तीर्थंकर केवली व सामान्य केवली हुआ करते हैं । वहां कभी भी तीर्थ का विच्छेद नहीं होता। जम्बूद्वीप का एक और पुष्करार्ध तथा धातकी खंड के दो-दो, ऐसे ५ विदेह क्षेत्रों में अभी भी सीमन्धर युगमंधर आदि तीर्थंकर (कम से कम २०) मौजूद हैं जिससे वहां अबाधगति से मोक्षमार्ग की देशना व साधना चल रही है । वे सब विद्यमान तीर्थंकर कहलाते हैं। ऐसी प्रसिद्धि है कि यहां के आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी अपनी तप विशेष की शक्ति से, एक देव के सहयोग से विदेह क्षेत्र में सीमन्धर भगवान् के समवशरण में गये थे और ७ दिन वहां रहकर साक्षात् भगवान् की दिव्यध्वनि द्वारा मोक्षमार्ग का उपदेश सुना था। कुंदकुंद भगवान् ने समयसार आदि ग्रन्थों में आत्मा का वैभव इस तरह प्रकट किया है जिससे उक्त बात की प्रामाणिकता प्रकट होती है। ग्रन्थों में जगह-जगह ऐसा भी कहा है कि यह तत्त्वोपदेश केवली द्वारा कथित है। सारांश यह है कि जगत की शांति तीर्थंकरों व अन्य केवलियों द्वारा प्ररूपित मोक्षमार्ग के उपदेश द्वारा ही सम्भव है। आचार्यों के ग्रन्थों में जिनेन्द्रदेव के उपदेश की ही परम्परा है। विदेह में मोक्षमार्ग का द्वार कभी बन्द नहीं होता। भरत-ऐरावत क्षेत्र में बीच-बीच में तीर्थ-प्रर्वतकों का विच्छेद हो जाता है, परन्तु विदेह क्षेत्रों में कभी भी नहीं होता और ढाई द्वीप के पांच विदेहों में से एक-एक में कम से कम ४, ४ तीर्थंकर तो हमेशा ही रहते हैं और अधिक हो तो

३२, ३२ तक हो सकते हैं। पूजक अपनी निर्मल भावना व्यक्त करता है कि तीर्थ-प्रवर्तक जिनेश्वरों द्वारा जगत की शांति रहती है सो वे जगत की शांति करें। यहां कर्ता न समझ लेना किंतु निमित्त ऐसा है।

वृषभादि जिनेश्वरों का कालझांकी मात्र संक्षिप्त इतिहास—एक कल्पकाल के दो भाग होते हैं—१ उत्सर्पिणी और २ अवसर्पिणी। ये १०, १० कोड़ाकोड़ी सागर के होते हैं। उत्सर्पिणी के बाद अवसर्पिणी और अवसर्पिणी के बाद उत्सर्पिणी काल आया करते हैं। अवसर्पिणी के बाद उत्सर्पिणी आती है । अवसर्पिणी के दु:खम् तथा दु:खम्दुखम् और उत्सर्पिणी के दु:खम्दु:खम् तथा दु:खम् के प्रत्येक के काल २१, २१ हजार वर्ष के होते हैं। ८४ हजार वर्षों का अंतर तीर्थंकरों के विच्छेद का होता है और जब उत्सर्पिणी के बाद अवसर्पिणी आती है तब अन्तराय का समय बड़ा लंबा १८ कोड़ाकोड़ी सागर का पड़ता है। उत्सर्पिणी सुखम्दुखम् सुखम् और सुखम्सुखम् काल जो कि २,३ और ४ कोड़ाकोड़ी सागर के होते हैं। इस तरह भोग-भूमिकाल के ९ कोड़ाकोड़ी सागर तथा इसके बाद लगने वाले अवसर्पिणी काल के सुखम्, सुखम्दु:खम् काल के ९ कोड़ाकोड़ी सागर— इस तरह १८ कोड़ाकोड़ी सागरों का अंतर तीर्थंकर के होने में होता है, क्योंकि भोगभूमि में तीर्थंकर व तीर्थ (मोक्षमार्ग) की प्रवृत्ति नहीं होती। वह तो कर्मभूमि के चौथे दुःखम्सुखम् काल में ही होती है। यह नियम उन्हीं क्षेत्रों के लिये हैं जहां अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी का क्रम चलता रहता है। ऐसे क्षेत्र ५ भरत और ५ ऐरावत, ढाई द्वीप के हैं। तो जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में इस अवसर्पिणी के चौथे काल के प्रारम्भ में हुए ऋषभदेव तीर्थंकर होने तक १८ कोड़ाकोड़ी सागर का अंतर पड़ा। और सागर तथा कोड़ाकोड़ी की तो भारी संख्या सब को ज्ञात ही है। स्पष्टता के लिये यहां भी कह देते हैं - कल्पना कीजिये कि दो हजार कोस का लम्बा चौड़ा और उतना ही गहरा एक गड्ढा हो उसमें उत्तम भोगभूमिया के पशुओं का ऐसा बालों के एक कतरनो का समूह भरा जाये जिसके दूसरे टुकड़े न हो सकते हों। (हमारे बालों से जघन्य भोगभूमियों के पुरुष का बाल आठवां हिस्सा महीन होता है उससे आठवां हिस्सा बारीक बाल मध्यम भोगभूमिया के होता है और उससे आठवां हिस्सा बारीक उत्तम भोगभूमिया का बाल होता है) ऐसे बालों को खूब ठांस-ठांस कर भरा जाये, फिर सौ वर्ष में एक बाल निकाला जाये, जितने समय में वे सब बाल निकल जावें उतने समय का व्यवहारपल्य होता है। उससे असंख्यात का गुणा करने पर जो लब्ध हो वह उद्धारपल्य का प्रमाण होगा। उद्धारपल्य से असंख्यात गुणा एक अद्धापल्य होगा तथा एक करोड़ में एक करोड़ का गुणा करने से जो संख्या आवे उसे कोड़ाकोड़ी कहते हैं, जो कि शंख से ऊपर बहुत अधिक संख्या होती है। ऐसे १० कोड़ाकोड़ी अद्धापल्यों का एक सागर होता है। इस तरह १८ कोड़ाकोड़ी सागर का समय ऋषभदेव तीर्थंकर होने के पहिले हुए तीर्थंकर के बीच में गुजरा। जब ऋषभदेव तीर्थंकर हुए (भरत क्षेत्र में) और उन्होने तीर्थंकर-मार्ग चलाया। इस अपेक्षा से तथा कर्मभूमि के सबसे आदि तीर्थंकर होने के कारण शांति पाठ में उनका ही नाम लेकर आदि शब्द से अन्य सब कालों के सब क्षेत्र के तीर्थंकर व सामान्य केवलियों का स्मरण जगत की शांति के अर्थ किया है। सो भगवान तो अपने स्वरूप में लीन हैं, उनकी उपासना करने से जो निर्मलता होगी उससे शांति प्राप्त होगी।

श्री जिन की प्रध्वस्तघातिकर्मता—भगवान अरहंत कैसे होते हैं ? घातिया कर्मों को नाश करने वाले होते हैं। घातिया कर्म ४ हैं - ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय। इनमें मोहनीय कर्म सबसे प्रबल है । उसमें भी दर्शनमोहनीय व चारित्रमोहनीय की अनन्तानुबन्धी कषायें और भी अधिक जीव के गुणों को घातने वाली हैं। अतः सम्यग्दर्शन से पहिले इन्हीं प्रवृत्तियों को नष्ट किया जाता है, बाद में चारित्रमोहनीय कर्म नष्ट होता है। मोहनीय के नष्ट होने पर ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय; ये तीनों एक साथ क्षीण होते हैं। ऐसे जीव के अनुजीवों गुणों को घातने वाले घातिया कर्मों के अभाव होने पर केवलज्ञानरूपी सूर्य का उदय होता है जो कि शक्तिरूप में आत्मा के अनादिकाल से होता है। उसकी प्रगटता घातिया कर्मों के अभाव होने पर ही होती है। इस कार्य में सबसे पहिला मोर्चा सम्यग्दर्शन का है। सम्यग्दर्शन होने पर अन्य घातिया और फिर अघातिया कर्मों का नाश नियम से होता ही है। ऐसा सम्यग्दर्शन भेद-विज्ञान से प्रगट होता है और भेदविज्ञान तब होगा जबकि वस्तु को समझने में उपयोग लगाया जाये। मनुष्य पर्याय में यह कार्य और उसके भी आगे संयम धारण करने का कार्य होना सुसाध्य है, अतः यह तन मिला है तो उसको इसी में लगा दो। मन की विशेषता पायी है तो उसे इसी के मनन और ध्यान में लगा दो और धन मिला है तो उसका भी उपयोग इसी के अर्थ कर लो । मिली हुई शक्तियों का सदुपयोग इसी में है। वचन की प्रवृत्ति भी आत्मकल्याण की बातों में करो। हितमित और प्रिय बोलो। सामने देखते ही रहते हो कि जन्म मरने के लिये होता है। समय नजदीक जानो, वापिस बचपन या जवानी न आवेगी और वृद्ध हो मरते हैं । यह बात भी नहीं है, किसी भी क्षण मृत्यु आ सकती है। सो सार बात यही है कि बाह्य वस्तु से उपयोग हटाकर अभेद स्वरूप की प्राप्ति में जिस किसी तरह लगा दें।

श्री जिन की केवलज्ञान भास्करता—कर्मों के नाश करने के इस प्रकरण में हमें इस बात की शिक्षा लेनी चाहिये कि जो भी कर्मों को नष्ट करने वाले हुए या आगे होवेंगे वे भी पहिले हमारे जैसे ही संसारी थे। जब स्वरूप को संभाला तो कर्ममुक्त हुए। घातिया कर्मों के नाश होने पर केवलज्ञानरूपी सूर्य उदय हो जाता है। सूर्य, जैसे अन्धकार को दूरकर प्रकाश कर देता है किंतु प्रकाश करने वाली किरणें उसी-उसी में रहती हैं, उतनी ही रहती हैं, दिखने में हानि-वृद्धि मालूम पड़ती है । उसी तरह केवलज्ञान में हानि-वृद्धि अगुरुलघुत्व गुण के कारण होकर भी केवलज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेदों में कमी नहीं आती। ऐसे अलौकिक ज्ञान के धारी वीतराग परमात्मा हमारे लिये कल्याण के कारण हों। आगे पूजक अपने विषय में सद्भावना प्रगट करता कि प्रथमं, करणं, चरणं, द्रव्यं नमः। 'नमः स्वस्तिस्वाहास्वधालंवषड्योगाच्च' व्याकरण सूत्र के अनुसार यहां नमः के योग में प्रथम आदि शब्दों में चतुर्थी विभक्ति होनी चाहिये, द्वितीया क्यों ? ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर यह है कि 'अनुकूलयितुं नमः' इन अर्थ में द्वितीया होना व्याकरण शास्त्र से विरूद्ध नहीं है। यहां नमस्कार केवल वाचिक या कायिक न रहकर तदनुकूल प्रवृत्ति करने की भावनापूर्वक नमस्कार है। प्रथमानुयोग में वर्णित कथन के अनुसार पाप से बचकर अपना पुण्य-चारित्र बनावें, करणानुयोग में बतायें भावों की तरतमतायें अपने भावों को उच्च कोटि में ले

जावें। चरणानुयोग के अभ्यास से चारित्रवान व निर्मल चरित्र वाले बनें। द्रव्यानुयोग के अनुसार हम अपनी आत्मा को स्वरूपमय बनावें। इस तरह चारों अनुयोगों के शास्त्रों के अनुसार हम उपादेय तत्त्वों पर अमल करें। ऐसी भावना से अनुयोगों को नमस्कार किया गया है, अतः तदनुकूल प्रवृत्ति के अर्थ में चतुर्थी विभक्ति न होकर द्वितीय होना ही ठीक है। जैसे 'ओं नमः सिद्धेभ्यः' को अनुकूल प्रवृत्ति के अर्थ में 'ओं नमः सिद्धम्' का भी प्रयोग करते हैं। अपनी आत्मा में निर्मलता न आवे, अभेदस्वरूप का ज्ञान न करें जैसा कहते हैं (पूजा में) वैसा अपना जीवन न बनावें तो वह पूजा ही क्या हुई ? आगे इसी की भावना व्यक्त की है कि मेरे ये सात बातें होओ:—

(मन्दाक्रान्ता)

गाथा ६६

शास्त्राभ्यासो जिनपतिनुतिः संगतिः सर्वदार्यैः,

सद्वृत्तानां गुणगणकथा, दोषवादे च मौनम्।

सर्वस्यापि प्रियहितवचो भावना चात्मतत्वे,

सम्पद्यन्तां मम भवभवे यावदेतेऽपवर्गः ।। ६६ ।।

प्रभु की अभ्यर्चना में सप्तसारलाभ की अभ्यर्थना—यहां भक्त अपने लिये क्या चाहता है ? हे नाथ ! जब तक मुझे मोक्ष प्राप्त न हो जाये तब तक शास्त्रों का अभ्यास, जिनेन्द्र भगवान के चरणों की पूजा, सर्वदा धर्मात्माओं की संगति, चरित्रशील पुरुषों की गुण-गाथा, किसी के दोष कहने में मौनवृत्ति, सबके लिये प्रिय और हितकारी वचन, आत्मतत्त्व में भावना—ये बातें मुझे भव-भव में प्राप्त होती रहें जब तक कि मेरा भव बाकी है। पूजक की इसमें स्वार्थपरता की भावना नहीं समझना कि जब तक मोक्ष नहीं हो पाया तब-तक तो भगवान की स्तुति, पूजा आदि पुण्यकार्य करें और मोक्ष हो जाये तो फिर दरकार नहीं है। और मोक्ष के लिये ही तो ये सब करते हैं। मुमुक्षु सच्चे अर्थों में स्वार्थी होता है। स्व माने आत्मा उसका अर्थी माने इच्छुक। आत्मस्वरूप की प्राप्ति का इच्छुक होना; मुमुक्षु होने का ही मतलब है। अतः संसारवास के समय तक उक्त रीति की प्रवृत्ति और भावना रखना कल्याणपद बात है। आगे कोई तरंग रहती नहीं तो मुक्त अवस्था में भी वह भक्ति के भाव की बात कैसे कहे ? भैया ! श्रद्धा यथार्थ रहे।

शास्त्राभ्यास जिनपतिनुति व सर्वसंगति की भावना—सुख-शांति का उपाय शास्त्रों के परिशीलन में व सम्यग्ज्ञान में है। शास्त्र को तीसरा नेत्र बतलाया है। इन चर्मचक्षुओं से जो नहीं दिख पाता वह सब शास्त्ररूपी नेत्र से दिखता है जहां कि सूर्य का प्रकाश भी नहीं पंहुच सकता। शास्त्र कैसा होः—

'आप्तोपज्ञमनुल्लङ्घ्यमदृष्टेष्टविरोधकम्। तत्त्वोपदेशकृत् सार्व, शास्त्रं कापथघट्टनम्।।' जो आप्त पुरुष के द्वारा कहा गया हो, जिसका उल्लंघन न हो सकता हो, जिसमें पूर्वापरविरोध न हो, प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाणों से जिसमें बाधा न आती हो, तत्त्वों का उपदेश करने वाला हो, सब जीवों का हितकारक हो और खोटे मार्ग का नाश करने वाला हो ऐसे शास्त्रों का अभ्यास सतत हो। तथा जिन पदनुतिः—प्रत्येक रोगी को चाहे वे शरीर के रोगी हों अथवा शल्य, चिंता, राग, द्वेष और मोह आदि के कारण भीतरी रोगी हों; सबको भगवान की भक्ति में तत्पर रहना परम आवश्यक है। यह वह औषधि है जिससे रोग की जड़ ही खत्म हो जाती है। संगति सर्वदार्यैः—हमेशा आर्य पुरुषों का समागम बना रहे। दुनियाँ में सत्समागम का अवसर एक अनुपम सुवर्ण अवसर है। उससे आत्म-वैभव बढ़ता है। किसी व्यक्ति की पहिचान अच्छे-बुरे की करनी हो तो उसकी गोष्ठी को देखकर की जा सकती है। कुसंगति को पसंद करने वाला व्यक्ति सज्जन नहीं हो सकता और सुसंगति में रहने वाला दुर्जन व पापी नहीं हो सकता। इस वर्तमान काल में कल्याण की दो बातें ही प्रमुख हैं—१-स्वाध्याय और २ सत्समागम। जीवन में ये दोनों अधिक से अधिक बनाये रखना चाहिये। शरीर को भोजन तो मल बनकर निकल जाता है लेकिन ज्ञानरूप आत्मा का भोजन चिरस्थायी और सुख-शांति के लिये होता है। उन्नति के लिये स्वाध्याय के अतिरिक्त सत्समागम से भी बड़ा सहारा मिलता है, भावनाएं निर्मल होती हैं, ज्ञान विशाल और परिष्कूल होता है तथा श्रद्धा में दृढ़ता आती है।

गुणगणकथा व दोषवाद मौन की भावना—गुणगणकथा—गुणियों के गुण वर्णन करें। गुण पर दृष्टि होने से गुणों की वृद्धि होती है। सच्चरित्र पुरुषों के गुणगाण करने से योग्यता बढ़ती है, निराकुलता का मार्ग प्रशस्त होता है। गुण वर्णन करने से स्वयं को प्रसन्नता प्राप्त होती तथा सुनने वाले व जिसकी कथा की जाती है उसे भी संतोष मिलता है। यदि प्रशंसा सुनने का इच्छुक नहीं है तो भी निंदा पाने से जो आकुलता बढ़ सकती है वह तो नहीं होती। गुणोत्कीर्तन से उस व्यक्ति में भी जो गुण बखान रहा है उन गुणों के बढ़ाने की भावना बनती है और जिसकी की जा रही है वह भी गुणों में बट्टा नहीं लगने देने की भावना मजबूत करता अथवा प्रोत्साहन या गुणों को और बढ़ाता है। इस तरह गुणकथा का यह व्यवहार प्रशंसनीय है। 'दोषवादे च मौनम्'—दोषों के कहने में मौन रहे। दोष न होने पर दोषारोपण करना तो एक महान अपराध है ही, किंतु दोष हों तो भी उसके उद्घाटन की भावना न उठना चाहिये। यदि हमें उस पर दया आती है या उसके दोष दूर करने की शुभभावना हुई है तो उसमें पाये जाने वाले गुणों को कहकर (क्योंकि हरएक में कोई न कोई गुण अवश्य होता है) पीछे इस ढ़ंग से बात करना चाहिये कि उसे बुरी न लगे और कर्तव्य का बोधकर बुरी आदत या कार्य को छोड़ दे। पहिले तो दोषों पर दृष्टि ही न जाने दें, यह उत्तम है क्योंकि विकल्पों को बढ़ाना नहीं किंतु घटाना ही कल्याणप्रद है। यदि विकल्प हो भी जाये भी तो किसी को संताप हो, ऐसा व्यवहार कदापि न होना चाहिये। निन्दात्मक वृत्ति बैर और विसंवाद को बढ़ती है दीर्घ काल तक के लिये कलह की परम्परा चलती है। अतः आत्मकल्याण के इच्छुकों को इससे सर्वथा दूर ही रहना चाहिये ।

सबके प्रति प्रिय-हित वचन की भावना—'सर्वस्यापि प्रियहितवचों'—सबके प्रति प्रिय और हितकर वचन बोलें। ऐसे वचनों से क्लेश क्षीण होते हैं, शांति रहती है, उच्च विचारों की उद्भूति होती है, आपदाओं का सरलता से परिहार होता है। कठिन काम को भी सहयोग से सरलतापूर्वक किया जा सकता है। सुख की अभिवृद्धि होती है और धर्म के मार्ग में बाधा नहीं पड़ती। बाधा आने पर भी सरलता से उनका परिहार होता है। प्रिय वचनों में और साथ हितकारी वचनों में वह बल है कि पशु-प्रवृत्ति के मनुष्य को भी देव-प्रवृत्ति मनुष्य बनाया जा सकता है। दम्भ और द्वेष को भगाने की इसमें अनोखी करामात है। क्या कहा जाये इसके विषय में ? यह गुण उत्तम रूप से तो साधुओं के ही पाया जा सकता है क्योंकि मानसपटल में यदि परमात्मीय शक्ति की छाप न पड़ी हो तो ऐसा होना संभव नहीं हो सकता। हृदय में माधुर्य न हो तो वाणी में कदापि नहीं आ सकता। यदि स्वयं हित के लिये हृदय में स्थान न हो तो दूसरों की हित की बात कैसे निकल सकती है ? और अपने व दूसरों के हित का विचार भी किया जाता है तो भी वह विचार वास्तविक है या नहीं, यह भी तो एक प्रश्न है। सच्चे हित के लिये सच्ची श्रद्धा चाहिये और सच्ची श्रद्धा के लिये आत्म-प्रतीति चाहिये, आत्मा और शरीर को यथार्थज्ञान चाहिये—इस तरह परहित के लिये प्रिय वचन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की अपेक्षा रखते हैं। यों तो लोक-व्यवहार से हितकारी मीठे वचन बोलना पक्के नास्तिकों से भी संभव है जिन्हें इसका पता ही नहीं कि किसका हित क्या व अहित क्या ? आदि। लेकिन यह तो परमात्मा की पूजा का प्रकरण है इसमें नास्तिकता और लोकव्यवहार के लिये स्थान नहीं है। यहाँ तो मोक्षमार्ग का ही निरूपण है, वही लक्ष्य है और फल भी उसी का चाहा जा रहा है।

आत्मतत्त्वभावना की भावना—'भावना चात्मतत्त्व'—हे प्रभो ! भवभव में आत्मतत्त्व की भावना जाग्रत रहे। मैं शरीर और कर्मों से अलग हूँ। यहाँ तक कि काम क्रोधादि विकार मेरी निजी संपत्ति नहीं, यद्यपि ये मेरे ही विकार है पर मेरे स्वभाव में नहीं, संयोग से होने वाले हैं। उस तरह भेदविज्ञान करके सच्चिदानंदरूप परमात्मा का अनुभव हो जाने पर आत्मतत्त्व की भावना रहा ही करती है। चैतन्य भावों की तरफ दृष्टि लगाने से यह सब संभव होता है। यदि हमारी दृष्टि संसार की चीजों में, स्त्री, पुरुष व धन आदि में गड़ रही हो तो आत्मतत्त्व की भावना संभव कैसे ? कदापि नहीं । आत्मतत्त्व की भावना का आधार आत्मतत्त्व ही है। यह हाथ लग जाने पर और किसी की चाह नहीं रहती और चाह इसलिये नहीं रहती कि इसमें सब इच्छाओं की इति है। पूजक की पूर्वोक्त भावनाएं उसके उज्ज्वल भविष्य की सूचक हैं। पूजा (भगवत्पूजा) का महत्त्व तो ऐसा है कि आत्मा पूज्य के समान गुणों में रहने लगता है। यदि वह रंग न आवे तो पूजा ही न हुई समझिये। अभी तक सच्ची पूजा एक बार भी नहीं कर पाये। यदि ऐसी पूजा की होती तो संसार का बसेरा मिट जाता। फिर भी हताश होने की बात नहीं। आगे अनंत प्राणी अपनी भूलों को दुरुस्त करके सत्पथ पर लगेंगे ही, मोक्ष जावेंगे ही, मोक्ष का दरवाजा आगे अनंत काल तक कभी भी बन्द नहीं होगा। पतित आत्माएं पावन बनती रहेंगी। जो प्राणी जब तक नहीं समझे सो नहीं समझे, लेकिन हमेशा एक-सी दिशा सबकी रहेगी सो बात तो है नहीं। यही समझ लेना चाहिये

कि हमारी काललब्धि स्वरूपबोध की आ गई है। अब हमें अपना उपयोग सब तरफ से खींचकर इधर लगा देना चाहिये। थोड़ी दृष्टि फेरने की जरूरत है। है तो सब कुछ इसमें। अपने प्रभु की पूजा करने से उसके चैतन्य प्राणों की प्रतिष्ठा अवश्य होगी, इसमें संदेह नहीं है।

(आर्या)

गाथा ६७

तव पादौ मम हृदये ममहृदयं तव पदद्वये लीनम्।

तिष्ठतु जिनेन्द्र तावद् यावन्निर्वाणसम्प्राप्तिः ।। ६७ ।।

तत्त्वज्ञ भक्त द्वारा प्रभुचरण सेवा की सविवेक अभ्यर्थना—हे प्रभो ! जब तक निर्वाण की प्राप्ति न हो तब तक तुम्हारे चरण मेरे हृदय में रहें और मेरा हृदय तुम्हारे चरणों में रहे। जगत के जीवों ने अन्य तमाम पदार्थों को अपना संबंधी बनाकर अपने को कलंकित किया पर भगवान का शरण गहकर अपने को निष्कलंक नहीं बनाया। जो जिनेंद्र संसार में दुःखों से पार हो चुके, अनंत चतुष्टय (अनंत दर्शन, अनंतज्ञान, अनंत सुख, और अनंत वीर्य) मय हो चुके हैं उनके स्मरण मात्र से भव्य जीव कल्याण कर लेते हैं। बहिरात्माओं को अंतरात्मा बनने और अंतरात्माओं को परमात्मा बनने का निमित्तरूप से यदि प्रधान कारण कहा जा सकता है तो वह है जिनेन्द्र भगवान का शरण। यद्यपि कई प्राणी समवशरण में भी कई बार पहुंच चुकते हैं, वहां साक्षात् विराजमान अरहंत का दर्शन करते हैं, दिव्यवाणी का श्रवण करते हैं पर वास्तव में वे न जिनेन्द्र का दर्शन करते है और न उनकी वाणी सुनते हैं। अरहंत का जो शरीर दिव्य तेजपूर्ण और अनेक अतिशय से सहित है वह शरीर अरहंत नहीं है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय; इन ४ कर्म-अरियों को हरने वाला वह शरीर नहीं है, वह तो इन कर्म-शत्रुओं को परास्त करने वाला अनंतशक्तिमान, चैतन्यशक्ति से परिपूर्ण सदा ज्ञान-दर्शन के परिणमन में रहने वाला आत्मतत्त्व है, जो बाह्यदृष्टि से त्रिकाल में कभी नहीं दिख सकता। वह तो अमूर्तिक एवं स्वसंवेद्य होने से अन्तर्दृष्टि द्वारा ही देखा जा सकता है। समवशरण के बीच श्रीमण्डप में विराजमान, औदारिक शरीर में व्याप रहा है जो शुद्ध चैतन्यतत्त्व है वह अरहंत है । उसका दर्शन अपनी आत्मा का दर्शन होने से ही हो सकता है, क्योंकि हमारी आत्मा और अरहंत की आत्मा की जाति एक है, स्वभाव और स्वभाविक गुण एक हैं, जब अपनी परख आती है तब अनुभव होता है कि जैसा स्वभाव में शुद्ध केवलज्ञानशक्ति से परिपूर्ण मेरा आत्मा है वैसे ही अरहंत व्यक्तरूप में बन चुके हैं। तो जिनेन्द्र के दर्शन आत्मदर्शनपूर्वक होते हैं और आत्मा के दर्शन अरहंत के यथार्थ ज्ञानपूर्वक होते हैं। कहा भी है—''जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तिगुणत्तिपज्जयत्तेहिं सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं।'' अर्थात् जो अरहंत को उनके द्रव्यत्व गुणत्व और पर्यायत्व की यथार्थता

से जानता है वह अपने को जानता है और उसका मोह निश्चय से क्षीण हो जाता है। यही बात दिव्यध्वनि सुनने के बारे में समझिये। केवल उस मधुर और तत्त्वों का निदर्शन करने वाली वाणी का सुन लेना मात्र सुनना नहीं है किन्तु सुनकर अर्थबोध होकर परमार्थ को जान लेना ही वास्तविक सुनना है। श्रोतापने की यह विशेषता है।

आत्मपरिचय में परमात्मभक्ति की संभवता—भगवान की सच्ची स्तुति और भक्ति आत्मस्वरूप के बोध में है। अपने को नहीं पहचाना तो भगवान की स्तुति-भक्ति कैसे बन सकती है ? यदि पूर्वोक्त छन्द को और गहराई से विचार करें तो हम स्वयं सहजसिद्ध भगवान हैं जिसके ज्ञान और दर्शन दो चरण हैं अथवा कहिये सामान्य-चैतन्य और विशेषचैतन्य। उसमें उपयोग रहना ही चरणों का हृदय में विराजमान करना है। मेरा उपयोग ज्ञानदर्शन में ऐसा लीन हो जाये कि उनमें एकाकारता हो जाये, अथवा ज्ञान-दर्शनरूपी चरण उपयोगरूपी हृदय में इस तरह विराजमान हो जाये कि उनमें भिन्नत्व की कल्पना न रहे। यानी निर्विकल्प स्थिति प्राप्त हो जाना हृदय में (स्वयं क भगवान का स्वयं के भगवान से) भगवान के चरणों की स्थापना करना है। उस स्थिति का वर्णन दौलतराम जी ने इस तरह किया है - जहाँ ध्यान-ध्याता-ध्येय को, न विकल्प वच-भेद न जहां। चिद्भाव-कर्म, चिदेश-कर्ता, चेतना-किरिया तहाँ।। तीनों अभिन्न अखिन्न शुध, उपयोग की निश्चल दसा। प्रगटी जहां द्रग-ज्ञान-व्रत ये, तीनधा एकै लसा ।। परमाण-नय-निक्षेप को, न उद्योत अनुभव में दिखै । द्रगज्ञान-सुख-बलमय सदा, नहिं आन भाव जु मो विखै। मैं-साध्य साधक मैं अबाधक, कर्म अरु तसु फलनि तैं। चित्पिंड चंड अखंड सुगुणकरंड, च्युत पुनि कलनि तैं। यों चिंत्य निज में थिर भये.....।। उपरोक्त प्रकार से आत्मा की निर्विकल्प अवस्था ही भगवान की सच्ची भक्ति है। यह निर्विकल्प ध्यानरूप भक्ति अथवा व्यवहार में निजबुद्धिगत अरहंत सिद्ध भगवान में भक्ति भक्त तभी चाहता है जब तक कि मोक्ष प्राप्त न हो जाये। अर्थात् मोक्ष प्राप्त हो जाने पर आत्मा की ऐसी स्थिति ही न रह जायेगी, जहां कोई प्रकार का विकल्प मात्र भी न रहे, फिर पूज्य-पूजक का विकल्प कहां से हो ? उसमें तो पूज्य-पूजक भाव न रहकर सच्चिदानंद अवस्था प्रगट हो जाती है। मुक्ति प्राप्त हो जाने तक ही भगवन् ! मैं आपकी भक्ति चाहता हूं ऐसा कहने में भगवान के प्रति कोई अविनय नहीं है क्योंकि इस भावना और आचरण में भगवान की आज्ञा का पालन होकर उनकी सच्ची भक्ति होती है। भगवान के सत्पथ में यह नहीं कहा गया कि तुम हमारी भक्ति में ही झूमते रहो और अपनी खबर न लो। भगवान की आज्ञा का सारांश तो यही है कि जिस किसी तरह अपने उपयोग में ही रम जावो। अपने शुद्ध उपयोग में आचरण करो। अशुभ-शुभ उपयोग को दूर करो। कल्पना-जाल से निकलकर निर्विकल्प समाधि में मग्न रहो, स्वयं परमात्मा बनो। जगत के जीवों ने सब कुछ किया, किंतु स्वरूप की दृष्टि नहीं की, अपने स्वरूप की दृढ़ता नहीं आयी। परभाव की इतनी दृढ़ता रहती है कि पुत्र बीमार हो जाये तो उसे सारा धन लगाकर और अनेक कष्ट सहकर भी उसे बचाना चाहते हैं, यह हुई मोह की दृढ़ता, इसी तरह यदि स्वरूप की दृढ़ता आ जावे तो उसके निमित्त भी बाह्य सब कुछ न्यौछावर किया जा सकता है। तन, मन, और धन उसके निमित्त उत्साहपूर्वक अर्पण किया जा सकता है। आत्मा की दृढ़ता का पता ऐसे में ही पड़ सकता है। आत्मा को समझने

के लिये शुद्ध स्वरूप में रुचि करना सो उसकी दृढ़ता है। रत्नत्रय-स्वरूप जिनेन्द्र के चरणों में अपने आप को मोक्ष तक भक्त समर्पित कर रहा है।

गाथा ६८

अक्खरपयत्थहीणं, मत्ताहीणं च जं मया भणियं।

तं खमउ णाण देव, मज्झवि दुःक्खखयं दितुं ।। ६८ ।।

अशुद्धवचनक्षमा व दुःखक्षय की अभ्यर्थना—हे भगवान ! मुझ से अक्षर, पद और अर्थ से हीन जो कुछ भी कहा गया है हे देव ! उसके लिये क्षमा कीजिये और मेरे दुःखों को क्षय कीजिये। प्रथम तो भगवान आप शब्दों द्वारा कहे नहीं जा सकते, अवर्णनीय हैं किंतु मैने आपको शब्दों में कहकर धृष्टता की, अपराध किया और फिर कहने में भी तो भूलें हो सकती हैं अतः आप क्षमा कीजिये। कोई कहे कि क्षमा मांगने की क्या जरूरत ? आपके मन में जैसा हो वैसा सोचें, आपको जैसा कहना हो कहें, भगवान तो कुछ कहते सुनते नहीं ? सो तो ठीक है लेकिन अपने अपराधों की क्षमायाचना न करें तो इसमें हमारा ही अकल्याण है। अव्यक्तव्य तत्त्व के विषय में शब्द बोलकर किये हुए क्षोभ का प्रायश्चित या क्षमा योगनिरोध है तथा अपराध की क्षमा मांगने से पूर्व विकल्प दूर होता है अतः अपने कल्याण के ही अर्थ यह सब कुछ कर रहा हूं। और अपने सहजस्वभावी आत्मदेव से पूजक कह रहा है कि हे चेतनदेव ! सहजसिद्ध भगवन् ! कैसा है तू ? तुझ में अक्षर, पद, मात्रा नहीं है, तू तो स्वसंदेद्य है। हे ज्ञानदेव ! मैंने अब तक बड़ा अपराध किया कि जो अलौकिक महिमा वाले और अक्षर-पद से रहित आपकी शब्दों द्वारा गुणोंत्कीर्ति की। इससे आपकी महिमा घटा दी, आपकी अर्चना तो मात्र स्वानुभूति से है। सो हे भगवन् ! मैं अंतरंग से चाहता तो यही हूं कि स्वानुभूति से ही आपकी अर्चा करूं, यही क्षमायाचना का मेरा भाव है। 'मज्झ विदुःखक्खयं दिंतु—देव !' मेरे दुःख समाप्त हों। हे ज्ञानदेव ! तुम मुझ पर क्षमा कर दोगे तो मेरे दुःख अवश्य ही दूर हो जावेंगे। मिथ्यात्व अवस्था में तो सरासर अपराध ही था जो कि विषयकषाय में ऐंठते रहे। तुम्हें पहिचान न सके यह बड़ा अपराध हुआ। नर, नारकी आदि पर्याय को तथा क्रोध आदि को अपनाया लेकिन मैं वह नहीं हूँ । सो जब मैने अपने रूप को पहिचाना तो आपको पहिचाना और इस पहिचान से निश्चयतः मेरे दुःख छूट जावेंगे। दुःख भी मानने भर के थे, सो मन में सच्चाई आने पर अब वे न रहेंगे। आपकी पूजा का यह फल मुझे प्राप्त हो ही।

गाथा ६९

दुक्खक्खओ कम्मक्खओ समाहिमरणं च बोहिलाहो य।

मम होहु जगतबांधव तव जिणवर चरणशरणेन ।।६९।।

श्री जिनचरणशरण से दुःखक्षय, कर्मक्षय, समाधिमरण व बोधिलाभ की भावना—हे जगत के बन्धु भगवान् ! तुम्हारे चरणों की शरण से मेरे दुखों का क्षय हो, समाधिमरण हो औार सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति हो। आप मेरे ही नहीं सारे संसार के सच्चे बन्धु हैं और इसलिये निरपेक्ष बन्धु हैं। आपके चरणों का शरण गहना यही है कि मैं अपने हृदय में आपका स्वरूप लाऊं। सो भगवन् ! यह भी व्यवहार ही है। आप का स्वरूप तो आपमें ही रहेगा, आप आपमें ही रहेंगे लेकिन मैं अपनी शुद्ध आत्मा में विकल्प की अवस्था में कल्पना द्वारा जो चिंतवन कर सका वह आपका शरण है। सो हे भगवान् ! यह भी तो व्यवहार है। आपके चरणों का शरण गहना यही है कि मैं स्वयं अपने शुद्धस्वरूप (जैसे कि आप हो) मैं लीन हो जाऊं। हे भगवन् ! इस तरह आपका शरण गहने से दुःखों का नाश होता है। दुःखों की कल्पना कराने वाली मोह प्रकृति का ही अभाव हो जाये और उसके स्थान में आत्म-रमणता आ जाये तब दु:ख और उसके निमित्त-कारण कर्म का क्षय हुए बिना नहीं रह सकता। कर्मक्षय के लिये भी भेदज्ञानपूर्वक स्वात्मदेव के चरणों की शरण लेनी आवश्यक है। ऐसा शरण प्राप्त कर लेने पर दुःखों का क्षय और उनके कारण कर्मों का क्षय होगा ही। कर्मों का क्षय भी समाधिमरण हुए बिना नहीं हो सकता। अंत में भी अघातिया कर्मों के क्षय के लिये समाधिमरण का सबसे उत्कृष्ट रूप, जिसे पंडितपंडितमरण या सम्मान के साथ बोला जाये तो निर्वाण कहते हैं, कारण है। समाधिमरण की बड़ी विशेषता है। समाधि अर्थात् आत्मानुभूतिपूर्वक मरण होने पर संसार का उच्छेद होने में अधिक समय नहीं रहता। समाधिमरण को विज्ञजन महा उत्सव के नाम से कहते हैं। यह महोत्सव कोई विरले महाभागी को प्राप्त होता है। लोग वैभवशाली को भगवान मानते हैं लेकिन यह उनकी विकार-दृष्टि का कथन है। भगवान तो वह है जो भगवान के भाव को प्राप्त हो गया और समाधिमरण उससे भी महत्त्वपूर्ण होने से समाधिमरण करने वाला महाभगवान है। जन्म से मरण की महत्ता अधिक है, किन्तु संयोगी-दृष्टि वाले जन्म को महत्त्वशाली सुखकारी समझते हैं और मरण को आपत्ति व दुःखकारी मानते हैं। जन्म के बाद संसार ही है किंतु मरण के बाद संसार से पार भी हुआ जाता है। मरण के बाद जीव को यदि जन्म न लेना पड़े तो उस मरण को मरण न कह निर्वाण कहते हैं। समाधिमरण का ऐसा महत्त्व है कि प्रत्येक निकट भव्य जीव उसकी कामना करता और उसके लिये जीवनभर साधना करता है। समाधिमरण के कुछ क्षणों की सफलता के लिये जीवनभर उसकी सिद्धि में व्रत, तप, जप, यम, नियम आदि किये जाते हैं, इससे उसकी महानता स्पष्ट है।

समाधिमरण की आवश्यकता का चित्रण—किसी एक सच्ची घटना का जिक्र सुना जाता है कि एक स्त्री के प्रसव हुआ लेकिन इसमें वह मरने को हो गई। पति को बहुत चिंता हुई, उसने पति को धैर्य बंधाया। पति ने प्रेम दिखाया तब वह बोली—यह तो आपका झूठा प्रेम है, हमारे मरने पर आप शीघ्र ही विवाह करके दूसरी स्त्री के पति बन जावेंगे और ये बच्चे मारे-मारे फिरेंगे। पति ने दूसरी शादी न करने की प्रतिज्ञा ली। उसके मरण का समय निकट आया तब स्त्री बोलती है कि यदि आप मुझसे सच्चा प्रेम करते हैं तो एक बात मानो। उसने स्वीकार किया। तब वह बोलती है कि अब मेरा आपका कोई संबंध नहीं, हमें समतापूर्वक मरने दीजिये। आप

अपने बच्चे को लेकर यहां से चले जाइये। पति ने अपनी प्रतिज्ञा पूरी की और वीर धर्मप्राण महिला ने समतापूर्वक प्राणों का विसर्जन किया। देखिये, यद्यपि महिला की शारीरिक अवस्था अशुद्ध थी परन्तु अन्तरात्मा शुद्ध था, सो समाधिमरण कर ही लिया। कोई चाहे तो अपने भावों कि सम्हाल करके समता व समाधिपूर्वक मरण कर सकता है लेकिन यह सच्चे अर्थों में सम्यग्ज्ञान बिना संभव नहीं है। जब तक सम्यक् बोधि का लाभ नहीं होगा तब तक समाधि न होगी। अतः पूजक यह कह रहा है कि बोधि का लाभ भी हो। आपके चरणों की शरण में आने से यह सब संभव होगा। इसी विश्वास से आपसे यह आशा प्रगट कर रहा हूँ। स्वयं के भगवान को लक्ष्य में लिये हुए विकल्प की अवस्था में कर्मक्षयसिद्ध भगवान के प्रति श्रद्धा और भक्ति में भरा हुआ भगवान के प्रति अपनी शुभकामनाएं निष्काम होने के लिये प्रगट कर रहा है। शुभकामनाओं का मतलब यहां शुभ की कामना नहीं लेना किंतु शुद्ध उपयोग के लिये जो पवित्र भावनाएं प्रथम भूमिका में बनती हैं ऐसी पवित्र भावनाओं को यहां शुभकामना शब्द से कहा गया है। उपादेय तत्त्वों की प्राप्ति का यहां प्रयोजन है।

गाथा ७०

त्रिभुवनगुरो जिनेश्वर परमानन्दैककारण कुरुष्व।

मयि किङ्करेऽत्र करुणां यथा तथा जायेते मुक्तिः।।७०।।

श्री जिन की उपासना में मुक्ति की अभ्यर्थना—हे तीन लोक के ईश्वर जिनेन्द्र ! आपके उपदेश से तीनों लोकों का भला हो रहा है। संज्ञी तो उपदेश द्वारा रत्नत्रय की साधना से सुखी होते हैं और एकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्यन्त के जीव उनके उपदेश पाये हुए मुमुक्षुओं के द्वारा दया और अभयदान पाकर सुखी होते हैं। सो तीन लोक के इन्द्र जिन्हें नमस्कार करते हैं ऐसे हे जिनेन्द्र ! आप उत्कृष्ट-ज्ञान लक्ष्मी जो कि आत्मा का अभिन्न रूप है उसके आप प्रधान कारण हो। सो मुझ किङ्कर को मुक्तिलाभ में निमित्त होवें। अपने अभिन्न स्वरूप में लीन होने की कामना मोक्षमार्ग की प्रथम भूमिका में हुए बिना नहीं रहती। भक्त इसी भूमिका में प्रज्ञामयी भगवती को मना रहा है, रिझा रहा है या कहो अपने स्वरूप में आने के लिये ये सब व्यवहार कर रहा है।

(क्षमापन)

गाथा ७१

ज्ञानतोऽज्ञानतो वाऽपि शास्त्रोक्तं न कृतं मया ।

तत्सर्वं पूर्णमेवास्तु त्वत्प्रसादाज्जिनेश्वर ।। ७१ ।।

सविधि अर्चन न किये जा सकने के दोष की आलोचना—हे जिनेश्वर ! अपने उद्देश्य के अनुसार आपकी जो पूजा की है वह जाने व अनजाने शास्त्र में कही गई विधिपूर्वक नहीं बन सकी है, अतः उनमें जो त्रुटियां

रह गई हों या जो दोष लगे हैं आपके प्रसाद से उन दोषों की क्षमायाचना हो, त्रुटियों की पूर्णता हो। लोक के शिष्टाचार में भी ऐसा कहा जाता कि आपकी कुछ भी सेवा नहीं बन सकी, दूसरे का कितना भी आतिथ्य किया जाये किन्तु वह यथाविधि और पूर्ण हो सका नहीं कहा जा सकता । फिर यह तो भगवान की पूजा है। भगवान जैसी महान आत्मा के लिये हम कितना समादर प्रगट कर सकते हैं ? जन-साधारण में कर्तृवाच्य का प्रयोग ज्यादा चलता है और अध्यात्मवाद में कर्मवाच्य का प्रयोग अधिक होता है । कर्तृवाच्य और कर्मवाच्य के अंतर का बड़ा रहस्य है। मैं पढ़ाऊंगा यह कर्तृवाच्य का प्रयोग हुआ, इसमें दूसरे को पढ़ाने की क्रिया का कर्तृत्व आया और जिसको पढ़ावेगा उसमें कर्तृत्व आया। इसी को अध्यात्मदृष्टि यों कहा जायेगा कि वह मेरे द्वारा पढ़ाया जावेगा—इस प्रयोग में पढ़ने की क्रिया के कर्तृत्व का अहंकार नहीं झलकता। यद्यपि कर्मवाच्य में भी 'द्वारा' शब्दों का प्रयोग हुआ है किंतु इस वाक्य में कर्ता गौण हैं। इस कर्मवाच्य के प्रयोग में क्रिया का असर कर्म पर पड़ता है। इस तरह कर्तृवाच्य के प्रयोग में परकर्मत्व की बात है जब कि कर्मवाच्य में उसकी गौणता है। यहां कर्तृवाच्य-प्रयोग भक्त ने किया है। वास्तविक बात यही है कि प्रत्येक द्रव्य अपने को ही कर सकता है याने अपना कर्ता दूसरा कदापि नहीं, स्वयं ही होता है और वह क्रिया भी उसी द्रव्य में की जाती है, अतः क्रिया का असर भी बाहिर न होकर स्वयं उसी द्रव्य में होता है अतः कर्म भी वही पड़ता है। इस विसर्जन पाठ में भी कर्मवाच्य के द्वारा स्वलक्ष्य को दुहराया है। अर्थात् आपकी मैने पूजा की, इसमें परकर्तृत्व की बात आती है। किसी की पूजा कोई दूसरा कैसे कर सकता है ? क्योंकि एक दूसरे का कर्ता निश्चयतः नहीं होता। सहजसिद्ध भगवान के प्रति पुजारी कहता है कि हे प्रभो ! आपकी पूजा का लक्ष्य तो बनाया था किंतु शास्त्रविहित रीति से नहीं पूजे जा सके, अद्वैत भाव से पूजा नहीं बन सकी। बहुत कोशिश की मैंने कि अपने अभेद रूप की पूजा कर सकूं लेकिन नहीं बनी। जैसे—बालकों को एक मिठाई चखने को दी जावे, बच्चों को उसका स्वाद पसन्द आया, अब जब उसे चखने का ख्याल करता तब रुलाई आती। दूसरे को इसका पता नहीं कि किस कारण से रो रहा है ? इसी तरह पूजक ने प्रभु-पूजा का ऐसा कुछ स्वाद ले लिया है कि वह बाह्य विकल्प में रहने पर कहता कि मैं प्रभु की सच्ची पूजा तो नहीं कर पाया, अन्तस्तत्त्व को तो मैं पहुंच ही न पाया। सो हे जिनेश्वर देव ! तुम्हारे प्रसाद से वह पूरी हो जावे।

बाह्य अभ्यर्चना की अन्तःअभ्यर्चना में सहयोगिता—बाह्य में जब शुभोपयोग की एकाग्रतापूर्वक अच्छी तरह पूजा की तब पुजारी ऐसा कहने का अधिकारी है और यदि चित्त देकर और स्व के लक्ष्य बिना बाह्य पूजा करे तो ऐसा कहने का अधिकारी भी नहीं। प्रश्न होता कि भगवान के प्रसाद से वह त्रुटि पूर्ति कैसे हो जावेगी ? तो अपने उपाय में जो अभेद भावों की दृढ़ता आवेगी उसी से उसकी पूर्ति हो जावेगी। स्वयं में ही पुजारी और पूज्य की एकाकारता से ऐसा हो सकेगा। देखो, उपयोग तो पुजारी है व चैतन्य भगवान है। इनमें अंतर क्या है ? बाह्य और अभ्यंतर का। चेतन का जो व्यवहार है वह विशेष है वह उपयोगरूप तो पुजारी हुआ और सामान्य चैतन्य भगवान हुआ। उपयोग चैतन्य से कह रहा है किंतु किससे कहा जा रहा है वह सुनता नहीं। मत सुनो,

उपयोग-पुजारी तो सफल ही हो रहा है। भगवान सिद्ध अरहंत भी तो उपेक्षक हैं। जैसे कर्मक्षयसिद्ध अचल हैं उसी तरह हमारे में जो सामान्य चैतन्य है वह भी अचल है। उससे उपयोग-पुजारी कह रहा है। दशा का जो स्रोत है उसका अवलोकन सम्यग्दर्शन है और इसके विपरीत सब लक्ष्य हितबुद्धि; मिथ्यादर्शन। आत्मा के परिणमनों के आधार को देखना ही उपादेय है, यह बात प्रज्ञा में आयी, लेकिन हे भगवान् ! मैं विकल्प में अटका रहा इसलिये वास्तविक पूजा नहीं हुई। निर्विकल्पता में कुछ क्षण के लिये गया तो स्थिर न रह सका। इस भव में आने के पहिले तो मैं आपकी यथोचित पूजा कर ही नहीं सका, नहीं तो इस तन में यहां क्यों रहता ? इसका सबूत अनुभव है। एक दृष्टान्त है— एक आदमी को लोग मूर्खराज कहा करते थे क्योंकि वह अत्यधिक मूर्ख था। अपना यह नाम सुनते-सुनते वह ऊब गया और सोचा कि चलो इस गाँव से ही चल दें तब कौन कहेगा मूर्खराज ? चलकर किसी गाँव के बाहर आराम लेने रुका और कुएँ की पाट पर पैर कुएँ में लटका कर बैठ गया। जब कुएँ पर एक आदमी आया और उसको इस बेहूदे ढ़ंग से बैठा देखा तो कह उठा कि तुम तो बड़े मूर्खराज हो । मूर्खराज बोले—आपको मेरे नाम का कैसे पता लगा ? तब उत्तर मिलता है— तुम्हारी करतूत से। तो इसी तरह हम जो इस दशा में हैं यही सबूत है कि पहिले कभी सच्चे अर्थों में पूजा नहीं की। जड़ या पर-आत्माओं को भी आत्मा की दृष्टि से नहीं देखा। केवल इष्ट-अनिष्ट विकल्प करते रहे।

गाथा ७२

आह्वानं नैव जानामि, नैव जानामि पूजनम्।

विसर्जनं नैव जानामि, क्षमस्व परमेश्वर ।। ७२ ।।

प्रभुभक्ति में अपनी अज्ञता की क्षमा की अभ्यर्थना—हे परमेश्वर ! (जिसका नाम और मूर्त आकार आदि नहीं ऐसे परमेश्वर को बुलाया जा रहा है) आपको कैसे बुलाया जाये, यह भी नहीं जानता। बुला-बुलाकर थक गये और आप आये नहीं, इसलिये मालूम पड़ता है कि हमें आपको बुलाना नहीं आता। निज के चैतन्य भगवान से कहा जा रहा है तुम्हें कैसे बुलाया जाता ? इस तरह कि आपके सम्मुख हो जाता, हमारा उपयोग आप ही में होता लेकिन ऐसा नहीं बन सका । जिस तरह हुंडियों के द्वारा लेनदेन होता उसी तरह भगवान के पास न जाकर भी उनको बुलाना हो सकता है। अभेद आत्मस्वरूप में उपयोग लगाना ही उनको बुलाना है। तो मैंने चैतन्य को अभेद-रूप में नहीं पाया, अतः आपका आह्वान नहीं बन सका और नहीं पूजा बन सकी। और क्षमापण भ कैसा कब करना चाहिये सो भी नहीं जानता। यदि आपको हम सर्वदा के लिये बुला सकते तो आपका विसर्जन भी नहीं करते, लेकिन हमने केवल विकल्पों में ही आपको बुलाया अतः उन विकल्पों को त्याग करके ही आपका विसर्जन करता हूँ। आप विकल्पों में नहीं, हमारे निर्विकल्प चैतन्य-पटल में आवें, इस भावना से

विकल्प से बुलाये गये और विकल्पों में रहे। अब शुद्ध तत्त्व को ग्रहण करके विकल्पों का विसर्जन करता हूं। हे चैतन्य देव ! मुझे क्षमा करो। मुझे आपमें ही लीन हो जाने दो।

गाथा ७३

मंत्रहीनं, क्रियाहीनं, द्रव्यहीनं तथैव च।।

तत्सर्वं क्षम्यतां देव, रक्ष-रक्ष जिनेश्वर ।। ७३ ।।

प्रभुपूजा प्रसंग में संभावित त्रुटि के क्षमा की अभ्यर्थना—हे देव ! आपकी पूजा का जो कार्य हुआ है वह मंत्र से हीन, क्रिया से हीन और द्रव्य से हीन रहा है। इन सब में त्रुटियां आयी हैं उन्हें आप क्षमा करें और मेरी रक्षा करो, रक्षा करो। चैतन्यदेव मंत्र से हीन है, मंत्रों द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता। इसका प्रवेश तो सम्यग्ज्ञान में है, इसका प्रवेश सर्वदा आत्मा में ही है। अर्थात् आत्मदेव आत्मा में ही मिलेंगे, बाह्य मंत्र और क्रिया आदि में नहीं। इस अपनी आत्मा के देवात्म्य में ही समस्त शब्दजाल, बाह्य क्रिया और द्रव्य के बिना आत्मा को देखना ही भगवान की रक्षा करना है। रक्षा, रक्ष्य और रक्षक; सब अपनी आत्मा में ही हैं। द्वैत्य की विधि में वास्तविक रक्षा नहीं है, वह तो केवल काल्पनिक रक्षा होती है जिसे अज्ञानी प्राणी रक्षा कहता है। कौन किसकी रक्षा करता है और कौन किसको मारता है ? सब अपने-अपने परिणमन में (जो कि समय-समय पर होता ही रहता है) हैं । भगवान को अपनी रक्षा के पचड़े में लेना उनका अपमान करना है। और वस्तुतः न तो वे रक्षा के लिये आते हैं और न उनका अपमान भी होता है, अपमान तो हमारा ही है जो पर के विकल्पों में, परकर्तृत्व में जावें। अनादि से यही खेल बाधक के समान अज्ञानता-पूर्वक होता रहा है । अब हे देव ! अपने में स्थिर होओ, यही आपकी रक्षा है। यही भगवान से रक्षा की बात कहना चाह रहे हैं।

गाथा ७४

नहि त्राता नहि त्राता नहि त्राता जगत्त्रये ।

वीतरागत्परो देवी न भूतो न भविष्यति।।७४।।

प्रभुभक्त के चित्त में वीतरागदेव की अनन्यशरण्यता का निर्णय—व्यवहार से कहा जाये तो तीनों लोकों में वीतराग भगवान से उत्कृष्ट देव न है, न हुआ है और न होगा। अतः वीतराग भगवान के सिवा दूसरे कोई रक्षक नहीं है, रक्षक नहीं है, रक्षक नहीं हैं। निश्चय में तो अपनी आत्मा ही रक्षक है, जब तक उसका आश्रय न लें, उसके शरण में न आयें तब तक जीवन का कल्याण कोई बाहिरी शक्ति नहीं कर सकती। वीतरागदेव तो वीतरागदेव ही हैं यदि उन्हें किसी भव्य ने अवलंबन बनाया तो कल्याण में निमित्त हो जाते है, अन्यथा उनकी स्थिति तो अपने में ही परिणमन कर रही है। निश्चय में यह बात मुख्य है कि एक द्रव्य दूसरे का कुछ नहीं कर

सकता। इसलिये आत्मा अपना रक्षक स्वयं ही है, दूसरा कोई नहीं है, नहीं है, कदापि नहीं है। अन्य के रक्षकपने का निषेध तीन बार करने से उस बात में पूरा बल दिया गया है। और व्यवहार से देखा जाये तो वीतरागदेव के सिवाय दूसरा कोई उत्कृष्ट देव न होने से, अन्य देव रक्षक नहीं हैं, रक्षक नहीं हैं, कदापि नहीं हैं। यहां पर भी अन्य देव कहलाने वालों में कोई वीतरागदेव के समान उत्कृष्ट नहीं है, नहीं है, नहीं है। इस तरह तीन बार निषेध करके उनके ही एक इष्टदेवपने का भाव प्रगट किया है। और इसलिये रक्षक भी उनके सिवा दूसरा नहीं है, नहीं है, नहीं है। जगत के बंधु, मित्र, सेवक, मंत्र, तंत्र और देवी-देवता, जिनसे रक्षा की आशा भोले प्राणी रखते हैं वे स्वयं अरक्षित हैं, तब फिर दूसरे की रक्षा क्या करेंगे ? यदि दूसरा कोई किसी की रक्षा करने वाला होता तो संसार में आज चिरकालीन पुराने ही नहीं, अनादि अनंतकाल के पुराने मनुष्यों का जमघट दिखलाई देना चाहिये था। लेकिन देखा यही जाता है कि अपने-अपने समय में अपनी-अपनी आयु को भोगकर मरना पड़ता है और वास्तव में जिसे रक्षा समझता है भोला प्राणी, वह रक्षा नहीं है। काम, क्रोध, लोभादि विकारों का आक्रमण हमारे स्वभाव में न हो यही सच्ची रक्षा है अथवा स्थूलता पर जाइये तो जिन कर्मों के उदय को पाकर ये विकार भाव उठते हैं उन कर्मों का आक्रमण न होना, उनका अस्तित्व खत्म हो जाना हमारी रक्षा है। इसके सिवा विकारों को सुरक्षित रखने के लिये रक्षा के अवलंबन बनाना धोखे में पड़ना है। बाह्य में अवलंबन लेने की आवश्यकता है तो एक वीतरागदेव की। आज तक जितने भी मुक्ति को प्राप्त हुए हैं उन सब साधकों ने वीतरागदेव को ही अपनी सुरक्षा का साधन ध्यान द्वारा बना आत्मकल्याण पाया है। यहां भी पूजक यही भाव प्रगट कर रहा है—

गाथा ७५

जिनधर्मविनिर्मुक्तो, मा भवेच्चक्रवर्त्यपि।

स्याच्चेटोऽपि, दरिद्रोऽपि जिनधर्मानुवासितः।।७५।।

तत्त्वज्ञ भक्त की जिनधर्मानुवासितता की भावना—जिनधर्म से रहित होकर मुझे चक्रवती होना भी पसन्द नहीं है और जैनधर्म से सहित दास औार दरिद्री होना भी सहर्ष मंजूर है। इस तरह की भावना में आत्मा की दृढ़ प्रतीति का भाव झलक रहा है। जब तक आत्मवैभव या परमात्मवैभव का पता नहीं होता तब तक संसार के वैभव की ही चाल करता रहता है लेकिन जहां आत्मवैभव को दृष्टिगोचर कर लेता है वहां ऐहिक सब पदार्थ तुच्छ ओर हेय मालूम पड़ने लगते हैं। आत्मवैभव को दिखाने वाला या स्वयं आत्मवैभवरूप ही जैनधर्म है इसलिये पूजक उस धर्म की ही छत्रछाया में रहना चाहता है। लौकिक दृष्टि से चाहे उसकी कैसी भी अवस्था हो ?

गाथा ७६

जन्म-जन्मकृतं पापं जन्म-कोटिमुपार्जितम्।

जन्म-मृत्यु-जरा-रोगं, हन्यते जिनदर्शनात्।।७६।।

प्रभुदर्शन का महत्त्व—जिनेन्द्र भगवान के ध्यान से करोड़ों जन्मों में किये गये पाप ध्वस्त हो जाते हैं। जिनेन्द्र की पर्याय विशुद्ध ज्ञान-दर्शनरूप है। उस शुद्ध पर्याय का ध्यान करने से द्रव्य का ध्यान आकर निर्विकल्प स्थिति आ जाती है। जिनेन्द्र भगवान का शरण मिल जाने पर यह जीव अपने को अशरणरूप नहीं मानता क्योंकि सच्चा शरण चैतन्य का मिल जाता है उसे । उसे अपना और व्यवहार में भगवान का अनन्यशरण है। भगवान का ध्यान करने से जन्म, बुढ़ापा और मृत्यु का रोग नष्ट हो जाता है। बच्चे के पैदा होने पर दूसरे कितनी ही खुशियां मनावें पर उसे जो दुःख होता है उसे वही जानता होगा। इसका प्रमाण यह है कि पैदा होते ही बच्चा रोता है। बुढ़ापे में शरीर की शिथिलता आने से अनेक तरह के दुःख होते हैं और मृत्यु के नाम से ही लोग डरते हैं। ये तीनों क्लेश के कारण हैं। इन क्लेशों का कारण पाप है और सबसे बड़ा पाप मिथ्यात्व है, इसमें कुछ सूझता नहीं है और परभाव का पाप निरन्तर करता रहता है। दुःख का मूल मिथ्यात्व ही है और इससे जो कषायभाव होते हैं वे दुःख के कारण होते हैं। जीव को दुःख कषायभाव का ही है। इसमें रंचमात्र सोचने-समझने की जरूरत नहीं है। ऐसे कषायभावों का बाप है— मिथ्यात्व। वस्तु के स्वभाव का जहां बोध नहीं होता वहां पर्याय पर दृष्टि रहती है, एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य का कर्ता समझता है, एक चीज से दूसरी चीज का संबंध स्थापित करता है, इसी से दुःख होता है। इसके सिवा और किसी बात का दुःख नहीं है। सो ये सब दुःख जिनेन्द्र भगवान के स्मरण करने से, ध्यान करने से दूर हो जाते हैं। यदि उपयोग में क्रोध, लोभ आदि राक्षस अपना अड्डा जमाये हैं, जिनेन्द्र भगवान के ध्यान का अवकाश नहीं तो दुःख से छुटकारा नहीं और यदि भगवान के ध्यान के लिये अवकाश है तो ये राक्षस पलायमान होंगे और उन्हीं के साथ दुःख का भी अन्त हो जायेगा। कहते हैं ना कि—''ज्ञानदीप तप-तैल भर, घर शोधै भ्रम छोर। या विध बिन निकसै, नहीं पैठे पूरब चोर।'' जैसे घर में घुसे चोरों को भगाने के लिये दीपक को उजालकर प्रकाश किया जाता है, पीछे चोरों को भगाया जाता है उसी तरह आत्मरूपी घर में मोहरूपी चोरों को भगाने के लिये ज्ञानरूपी दीपक में तपरूपी तैल भरकर उजेला किया जाये तो कर्मचोर अपने आप भाग जावेंगे। भगवान के स्मरण से यही काम होता है, पापकर्म दूर होते हैं, पुण्यकर्म की उदीरणा होती है, लौकिक संपत्ति भी मिलती है पर पूजक उसे ठुकरा देता है।

प्रभुभक्त के प्रभुभक्ति की अभ्यर्थना—भगवान की पूजा कल्पवृक्ष के समान है । इससे सब कुछ मिलता है पर चाहने से नहीं। लेकिन प्रभो ! मैं उसका फल यही चाहता हूं कि जब मेरे प्राण निकलने का समय आवे तब आपके नाम के जो अक्षर हैं उनके पढ़ने में कंठ न रुके। जिन जीवों का सुमरण होता है, वे भगवान व

आत्मा का अनुभव करते-करते विकल्प अवस्था में भगवान का नाम लेते-लेते चले जाते हैं। मरण का दुःख उन जीवों को होता है जिनको बाह्यपदार्थ में मोह में राग वा द्वेष होता है। जिन्हें यह नहीं उनका मरण दुःखदायी नहीं होता। मानों वे अपने वैभव और परिवार को लेकर साथ जा रहे हों । मोही जीव तो सोचता कि ये सब यहां ही छूटे जा रहे हैं और ज्ञानी जीव सोचता हैं कि मेरा वैभव सब साथ जा रहा है। कोई बड़े अफसर का तबादला होता तो उसे घर छोड़ने का दुःख नहीं होता, क्योंकि उसे घर की चीज साथ ले जाने की पूरी सुविधा मिलती है। ज्ञानी जीव को भी यह अनुभव नहीं होता कि मैं कुछ छोड़कर जा रहा हूं। जो छूटा था वह तो छूटा ही है और जो साथ था वह साथ ही रहता है। आत्मा के ज्ञान की जो परिणतियां व्यक्तियां हैं वे उसके पुत्र हैं, ज्ञानस्वभाव माता-पिता हैं और स्वानुभूति रमणी है। अपना यह सारा वैभव संभालकर जाता है ज्ञानी। वह चाहता है तो यही कि अगले भव में जिनेन्द्र का स्मरण बना रहे। यह धर्म अगले भव में भी मिले तो रंज की बात ही क्या ? इस तरह पूजक अपनी समाधि की भावना को पुष्ट करता हुआ भगवान के प्रति जो भाव लगाये है उससे जो निर्मलता हुई है उससे प्रसन्न होता हुआ अन्तिम कायोत्सर्ग करके जिनयज्ञ-विधि को समाप्त करता है और मंदिर से घर की तरफ आता है। घर के कामों में फंसना पड़ता है, इसका उसे कुछ विषादसा होता है लेकिन गृहस्थाश्रम के भार को जो लाद रखा है उसे तो ढोना ही पड़ेगा, जब तक कि उससे निवृत्ति नहीं पा लेता। बाह्य विकल्पों में फंसे रहने वालों के लिये भगवत् पूजा करने को मूर्ति का बड़ा अवलंबन है। उस स्थूल के अवलंबन बिना सूक्ष्म में एकदम भाव नहीं जाते। इसीलिये तो लोग कह देते कि व्यवहार करते-करते निश्चय की प्राप्ति हो जाती है। यद्यपि दरअसल बात ऐसी नहीं है । जो व्यवहार का ही साधक है, उसकी दृष्टि से निश्चय कभी नहीं आवेगा। लेकिन निश्चय के लिये निश्चय तक पहुंचने योग्य व्यवहार या शुभ-उपयोग आता ही है। अब इसे चाहें किन्हीं शब्दों में कह लें लेकिन श्रद्धा यथार्थ रहनी चाहिये, असली मर्म प्रतीति का है। शब्दों में कैसा भी कहो, धर्म-आराधना में व्यवहारधर्म का भी स्थान अपनी सीमा तक प्रतिष्ठित ही है। मंदिर और मूर्ति के आश्रय से हम लोगों को कितना धर्मलाभ होता है ? निराकुलता से सामायिक, स्वाध्याय होता, अपने स्वरूप के बोध में कारणभूत जितेन्द्र का दर्शन-पूजन होता, धर्म-चर्चा और सत्समागम होता।

अन्तर्बाह्य धर्मायतन से परमार्थलाभ लेने का अनुरोध—प्रत्येक भाई को धर्मायतन से भरपूर लाभ लेना चाहिये। दर्शन-पूजन, स्वाध्याय और सामायिक आदि से समय का सदुपयोग करना चाहिये। समय जो निकल जाता है वह वापिस नहीं आता। घड़ी की बात यही सूचित करती है। आप कितने भी चतुर और बलिष्ठ हों, लेकिन समय को पीछे लाने की ताकत किसी में नहीं है। वह तो धाराप्रवाह से चलता ही रहता है। यदि समय का सदुपयोग कर लिया, जिनेन्द्र की भक्ति करके जिनस्वरूप से नाता जोड़ लिया, स्वाध्याय द्वारा तत्त्वज्ञान कर लिया, धर्मोपदेश श्रवण-मनन करके, तत्त्वचर्चा करके अपने ज्ञान को व भावनाओं को पुष्ट बना लिया तो संतोषपूर्वक मरण कर सकेंगे, समता से प्राण छूटेंगे और प्राण छूटकर तत्क्षण ही शुभगति की प्राप्ति होगी, अन्यथा पछतावा शेष रहेगा। मरते समय असंतोष लेकर प्राण छूटेंगे और मृत्यु के बाद तत्क्षण ही दुर्गति की

यातनाएं भोगना चालू हो जावेंगी। इस काल में जिनेन्द्र भगवान की पूजा और स्वाध्याय कल्याण के लिये— ये दो बातें परम उपकारी और महत्त्वपूर्ण हैं। उनसे लाभ ले लेना प्रत्येक मानव का कर्तव्य है। जरा अन्तर्दृष्टि करिये और पहिचानिये—''यः परात्मा स एवाहं, योऽहं स परमस्ततः। अहमेव मयोपास्यो नान्यः कश्चिदिति स्थितिः।।'' वस्तुतः बात यह है कि जो परमात्मा है वही मैं हूं और जो मैं हूं वह परमात्मा है। इसलिये मेरे द्वारा मैं ही उपास्य हूं, अन्य कोई अन्तर्व्यवस्था नहीं है। वस्तु को स्वभाव से परखा जाता है। यदि स्वभाव देखता हूं तब मैं और परमात्मपद में पहुंचे हुए आत्मा सब समान हैं परमसमाधि के लिये भी निजस्वभाव में पहुंचना है और अन्त में तो इसी स्वभाव में स्थिति होने की अवस्था होना है,सो उस सबके मूल निज परमपारिणामिक भाव का परिज्ञान, प्रत्यय व अनुष्ठान की आवश्यकता है। अतः मैं ही मेरे द्वारा उपास्य हूं, वह मैं स्वभावरूप हूं, वही स्वभाव देव के आश्रय से देखना था। अतः स्वभाव-भक्ति में देवभक्ति गर्भित है। उस स्वभाव का परिज्ञान कैसे हो अथवा स्वभाववान निज आत्मा का परिज्ञान कैसे हो ? इस विषय में भ० श्री कुन्दकुन्ददेव ने कहा हैः—

गाथा ७७

जो जाणादि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।

सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं ।।७७।।

द्रव्यत्व, गुणत्व व पर्यायत्व से श्री जिन के परिचय में आत्म-परिचय व मोहविलय—जो अरहंत को द्रव्यत्व, गुणत्व, पर्यायत्व से जानता है वह आत्मा को जानता है और उसका मोहभाव विनाश को प्राप्त होता है। भगवान में और हममें द्रव्यत्व और गुणत्व से पूर्ण समानता है, केवल पर्यायत्व से भेद है। वे निर्विकार हैं, हम रागादि विकार से युक्त हैं। सो द्रव्यत्व व अभेदगुणत्वरूप परमपारिणामिक भाव के ध्यान व एकतान के प्रताप से वह पर्यायत्व प्रकट होता है जो अरहंत प्रभु का है। भगवान के पर्यायत्व की स्वभाव से अनुरूपता है। अतः प्रभु के ध्यान में अभीष्ट की सिद्धि का उपाय है एतदर्थ एवं देव की उपासना है। सो हे मित्रगण ! अनेक अवलंबन के वातावरण में भी प्रभु के विशुद्ध परिणमन को देखो और उस विशुद्ध परिणमन के स्रोतस्वरूप परमपारिणामिक भाव को देखो जिसके अनंतर सहज ही द्वैतदृष्टि नष्ट होकर निजपरमपारिणामिक भाव में अनुष्ठान हो और परमसमाधि हो। इससे ही सर्व क्लेशों का अत्यन्त अभाव होकर परमज्ञान सुखमय अवस्था प्रकट होती है।

ॐ नमः शुद्धेभ्यः। परमपारिणामिकभावं (अनुकूलकितुं) नमः।

।। ॐ शांतिः ।।

इस प्रकार अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी

''श्रीमत्सहजानन्द'' महाराज का

जबलपुर वर्षायोग सन् १९५४ में जो देवपूजा पर

प्रवचन हुआ था, वह सम्पूर्ण हुआ।

अध्यात्मपयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक मनोहर जी वर्णी

'सहजानन्द' महाराज विरचितम्

सहजपरमात्मतत्त्वाष्टकम्

*** शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्ममत्त्वम्***

यस्मिन् सुधाम्नि निरता गतभेदभाषाः प्राप्स्यन्ति चापुरचलं सहजं सुशर्म।

एकस्वरूपममलं परिणाममुलं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम्।।१।।

शुद्धं चिदस्मि जपतो निजमूलमंत्रं, ॐ मूर्ति मूर्तिरहितं पृशतः स्वतंत्रम्।

यत्र प्रयान्ति विलयं विपदो विकल्पाः, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम्।।२।।

भिन्नं समस्तपरतः परभावतश्च, पूर्णं सनातनमनन्तमखण्डमेकम्।

निक्षेपमाननयसर्वविकल्पदूरं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम्।।३।।

ज्योतिः परं स्वरमकर्तृ न भोक्तृ गुप्तं, ज्ञानिस्ववेद्यमकलं स्वरसाप्तसत्त्वम् ।

चिन्मात्रधाम नियतं सततप्रकाशं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम्।।४।।

अद्वैतब्रह्मसमयेश्वरविष्णुवाच्यं, चित्पारिणामिकपरात्परजल्पमेयम्।

यद्दृष्टिसंश्रयणजामलवृत्तितानं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम्।।५।।

आभात्यखण्डमपि खण्डमनेकमंशं भूतार्थबोधविमुखव्यवहारदृष्टयाम्।

आनंदशक्तिद्दशिबोधचरित्रपिण्डं, शुद्ध चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम्।।६।।

शुद्धान्तरङ्गसुविलासविकासभूमि, नित्यं निरावरणमंञ्जनमुक्तमीरम्।

निष्पीतविश्वनिजपर्ययशक्ति तेजः, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम्।।७।।

ध्याययन्ति योगकुशला निगदन्ति यद्धि, यद्ध्यानमुक्तमतया गदितः समाधिः।

यद्दर्शनात्प्रभवति प्रभुमोक्षमार्गः, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम।।८।।

सहजपरमात्मतत्त्वं स्वस्मिन्ननुभवति निर्विकल्पं यः।

सहजानन्दसुवन्द्यं स्वभावमनुपर्ययं याति।